धुनिक संगीत की शास्त्रोक्त परम्परा के परिपेक्ष्य में भरतनिर्दिष्ट संगीतबोधक सिद्धान्त

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल् उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबन्ध]

शोध-प्रबन्ध

निर्देशिका
डा० गीता बैनर्जी
संगीत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रस्तुतकर्त्री
श्रीमती महारानी शर्मा
प्रवक्ता डी० पी०

संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
१९९६
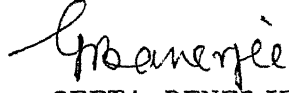
CERTIFICATE

This is to certify that Smt. Maharani Sharma has done her research work for D.Phill. in music, under my guidence. The topic for her research work was "आधुनिक संगीत की शास्त्रोक्त परम्परा के परिप्रेक्ष्य में भरतनिर्दिष्ट संगीत-बोधक सिद्धान्त". She has examined and analysed the material for her research work quite critically.

I reccommended that the thesis should be sent for evaluation.

(Dr. GEETA BENERJEE)
Head of the Music Department.
Allahabad University,
Allahabad.

आधुनिक संगीत की शास्त्रोक्त परम्परा के परिप्रेक्ष्य में भरत निर्दिष्ट संगीत बोधक सिद्धान्त

पंचम अध्याय - भरतकृत तन्त्रीकृतातोद्य एवं गान्धर्व

षष्ठ अध्याय - भरतोक्त जातियाँ

सप्तम अध्याय - भरतोक्त वर्ण अलंकार एवं तन्त्रीकृतातोद्य

*****

प्राक्कथन

------

(1) किसी भी विषय में शोध या अनुसन्धान, अनेक वर्षों की साधना, चिन्तन और संघर्षों का सुपरिणाम होता है । तद्वत प्रस्तुत शोध प्रबन्ध "भारतीय संगीत-शास्त्र में भरत का योगदान" भी इन्हीं प्रतिक्रियाओं का सुफल है ।

(2) संगीत में रूचि, बल्कि व्यवसन बाल्यावस्था में ही पनपने लगी थी किन्तु जब सांगीतिक समझदारी बढ़ने लगी तो समस्त ध्यान - गान्धर्व शब्द पर गया । पुस्तकस्थ व्याख्यानुसार गान्धर्व "स्वर्ग का संगीत" था जो गन्धर्वों द्वारा गेय था । शनै: शनै: गान्धर्व को जानने की उत्सुकता महर्षि भरत कृत "नाट्यशास्त्र" के समीप खींच लाई।

(3) संगीत, नाट्य, रस, छन्द, अलंकार तथा समस्त ललित कलाओं से सम्बद्ध विषयों से भरपूर "नाट्यशास्त्र" जैसे अगाध और विशाल सागर में खोज-बीन करने के प्रयासों के फलस्वरूप गान्धर्व रूपी मोती का स्वरूप स्पष्ट होने लगा और प्रतीत हुआ कि वस्तुतः गान्धर्व स्वर्गिक संगीत नहीं, अपितु इसी दुनियाँ का हम सभी का वह संगीत है जिसे आज भी हम उसी परम्परा से गा बजा रहे हैं जिसकी अवतारणा महर्षि भरत ने आज से हजारों वर्ष पूर्व की थी ।

(4) संगीत के नाम पर आज जो कुछ भी शास्त्रीय सुगम तथा चित्रपट और दूरदर्शन जैसी दृश्य विधाओं की नई-नई सम्भावनाएं, पार्श्व संगीत के रूप में प्रस्तुत की जा रही हैं, उन सभी के पीछे भरत निर्दिष्ट गान्धर्व की शाश्वती परम्परा है- किन्तु खेद इस बात का है, कि भरत निर्दिष्ट गान्धर्व को समझने के लिए अभी भी मारे संगीत-वाडमय में भरपूर सामग्री का अभाव है । आचार्य बृहस्पति जी के ग्रन्थ "भरत का संगीत सिद्धान्त" को छोड़कर कोई भी सरलतम तत्सम्बन्धित ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसके सहारे गान्धर्व के स्वरूप को समझा जा सके ।

(5) इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य से भरत-संगीत (गान्धर्व) का अध्ययन तथा अनुशीलन करके, मूल्यांकन करने का प्रयास किया

प्रस्तुत शोध को पूर्ण करने में यद्यपि पारिवारिक, विद्यालयीय और [illegible] अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा किन्तु फिर भी ईश्वर की असीम [illegible] से मुझे ऐसी महान विभूतियों का सहयोग साहचर्य तथा अमूल्य अनुभवों का लाभ मिला जिसकी प्रेरणा से प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को आकार दिया गया है ।

(1) डॉ0 ब्रह्ममित्र अवस्थी, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद।

(2) डॉ0 सुरेशव्रत राय, इलाहाबाद ।

(3) पंडित रामाश्रय झा, अध्यक्ष संगीत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय ।

(4) श्री विष्णु कुमार कपूर गुरू जी मथुरा, भूतपूर्व संगीत प्रवक्ता, कि[illegible] [illegible]मण ग0इ0का0 मथुरा ।

(5) पं0 श्री अनुपम राय, बम्बई ।

(6) डॉ0 (श्रीमती) माया मालवीय, गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद ।

(7) स्व0 श्री शरनवली श्रीवास्तव उत्तर-मध्य क्षेत्र, सांस्कृतिक केन्द्र इलाहाबाद।

इन सभी के प्रति मैं अत्यधिक आभार प्रदर्शन करती हूँ जिन्होंने समय असमय मेरी समस्याओं का समाधान किया । इसके अतिरिक्त श्री राम प्रकाश साहू जी की भी अत्यन्त हृदय से आभारी हूँ, जिन्होंने इस महत्वपूर्ण टंकण का कार्य सम्पादित किया ।

(श्रीमती महारानी शर्मा)
प्रवक्ता, गायन

प्रस्तावना

गायन-वादन और नृत्य की जिस परम्परा को हम संगीत के नाम से पुकारते हैं, उसका अविर्भाव और विकास आज से हजारों वर्ष पूर्व आश्रम और तपोवनों के शान्त और पवित्र वातावरण में वेदों की श्रृचाओं के साथ हुआ । वैदिक श्रृचाओं के इसी "स्वर-संक्रम" से ही बाद में "भरत ग्राम" का विकास हुआ जो आज तक संगीत क्षेत्र का आधार बना हुआ है, ऐसा स्वीकार किया जाता है । स्वर्गीय पंडित ओंकार नाथ ठाकुर के शब्दों में "सब संगीत का उत्पत्ति स्थान - सामवेद" है संगीत शास्त्र के समस्त ग्रन्थों में भी उसकी परम्परा सामवेद के साथ संकलित की गई दृष्टिगोचर होती है[1] ।

वैदिक संगीत अति प्राचीन है । जिसका विधान प्रथमतः ऋग्वेद "प्रातिशाख्य" में पाया जाता है तथा इस परम्परा के नियम और सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले नारदीय, माण्डूकी और "याज्ञवल्क्य" आदि शिक्षा-ग्रन्थ हैं । ऋग्वेद के "आर्चिनों गायन्ति, गाथिनो गायन्ति, सामिनो गायन्ति" जैसे संगीत-सम्बन्धी पद सभी को सुविज्ञ है । यही नहीं पाणिनी के निम्न श्लोक -

"उदात्तनिषादगान्धारौ अनुदात्तऋषभधैवतौ ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षडजपंचममध्यमा[2] ।।

से प्रकट होता है कि उदात्त, अनुदात्त और स्वरित जैसे तीन स्वरों से क्रमशः सात स्वरों का विकास वैदिक युग में ही हो चुका था ।

पंतजलि के अनुसार सामवेद की 1000 शाखाएं थीं । मुक्तिक उपनिषद में भी सामवेद की 1000 शाखाओं का उल्लेख मिलता है । इसी प्रकार महाभाष्य

---

1. व्या0मा0 - पंडित ओंकारनाथ ठाकुर "संगीत" 1947 भक्ति ।
2. पाणिनीय शिक्षा - 12

में सामवेद की एक सहस्त्र शाखाओं का उल्लेख है "सहस्त्र वर्त्मा सामवेद" सामवेद[1] की उपर्युक्त शाखाओं को आज की सांगीतिक भाषा में "घराना" या सम्प्रदाय की संज्ञा दी जा सकती है ।

अध्ययन से यह भी विदित होता है, कि वैदिक काल में सामाजिक और धार्मिक तौर पर संगीत का प्रचार उच्च कोटि का था । स्त्रियाँ भी पुरूषों के साथ उत्सवों और नृत्यों में भाग लेती थीं । विविध प्रकार के वाद्यों का भी उस समय प्रचलन था । ऐसा तत्कालीन ध्वंसावशेषों शिलालेखों एवं ऐतिहासिक तथ्यों से ज्ञात होता है प्राचीन काल में वीणा और वेणु के साथ वैदिक मन्त्रों का विधिपूर्वक गान होता था[2] ।

उस समय संगीत को "गान्धर्व विद्या" के नाम से पुराका जाता था क्योंकि गन्धर्वों यानी संगीत के सुविज्ञ कलाकारों की विद्या थी, इस विद्या का इतना अधिक विकास हो चुका था कि "गान्धर्व को सामवेद का उपवेद कहा जाता था[3] ।

यह भी अनुमान है कि गान्धर्व से सम्बन्धित "गान्धर्ववेद" नाम का प्रसिद्ध और प्राचीन ग्रन्थ था, जिसमें 36000 श्लोक थे । यद्यपि अब इस प्रकार का ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है किन्तु फिर भी इस ग्रन्थ का उल्लेख परवर्ती ग्रन्थकारों ने किया है ।

सामवेद तो पूरा का पूरा संगीतमय था, संगीत के तीनों अंग गीत, वाद्य और नृत्य तथा संगीत के शास्त्र सम्बन्धी अन्यान्य जानकारी के लिए वैदिक साहित्य अपने में पूर्णसक्षम था । इससे सिद्ध होता है कि भरत से पूर्व, बल्कि कहना चाहिए कि

---

1. निबन्ध संगीत - सदियों वर्ष पूर्व जब धरती पर संगीत लहराता ।
2. व्या0मा0 - पंडित ओंकारनाथ ठाकुर संगीत 1947 मार्च पृ0 - 40
3. संगीत शास्त्र - के0 वासुदेव पृष्ठ - 4

ईसा से भी कई शताब्दियों पूर्व भारत में संगीत कला और उसके शास्त्र का इतना अधिक विकास हो चुका था जितना किसी भी दूसरे देश में उस समय तक नहीं हुआ । भरत-काल से पूर्व संगीत की विशाल और सुदृढ़ परम्परा रही ।

किन्तु खेद का विषय यह है, कि संगीत की इतनी विशाल परम्परा के होते हुए भी विशेष रूप से तत्कालीन संगीत विषय पर कोई भी लिपिबद्ध और संगीत सिद्धान्त बोधक ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से नहीं प्राप्त होता । संगीत विषयक समस्त व्यवहारिक और शास्त्रीय जानकारी का सबसे प्रथम और प्राचीन साधन भरत का "नाट्यशास्त्र" ही है । स्व0 पंडित ओंकारनाथ ठाकुर के शब्दों में "समस्त उपलब्ध संगीत ग्रन्थ भरत के पश्चात् के हैं और समस्त ग्रन्थकारों का आधार ग्रन्थ "भरत-नाट्यशास्त्र" ही है, और वह आधार ग्रन्थ सामम्द्यो गीतमेवच ऐसा स्वीकार किया जाता है । इससे अधिक प्रबल प्रमाण दूसरा कौन सा होगा[1] ।

आचार्य बृहस्पति के विचार है, कि प्रचलित संगीत का आधार ही नाट्यशास्त्र है[2] । जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट का मत है कि आज शास्त्रीय संगीत के नाम पर जो कुछ भी प्राप्त हुआ उसका मूल स्त्रोत भरत निर्दिष्ट गान्धर्व है[3] । यही कारण है कि संगीत के नाम पर जो कुछ भी गायन-वादन और नृत्य की परम्परा आज हमारे सामने मौजूद है उसके प्रवर्तक - भरतमुनि माने जाते हैं । उनके द्वारा

---

1. व्याख्यानमाला - पंडित ओंकारनाथ ठाकुर संगीत पत्रिका 1947 पृ0 - 45
2. भरत का संगीत सिद्धान्त, आचार्य वृहस्पति पृ0 - 36
3. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - Surphase Gandharva, a sacred corpus of music, derived from the still more ancient sama sacred vedic form. Gandharva was also the parent of later form from which our own present forms have disccended.

निरूपित संगीत के मूलभूत सिद्धान्त ही इस कला का शास्त्रीय आधार है । प्रो0 ललित किशोर सिंह महर्षि भरत को संगीत के आदि आचार्य मानते हैं[1] । भरत से संगीत की परम्पराएं थी, जिनका आधार लेकर भरत ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र की रचना की । नाट्यशास्त्र में प्रपिता, नारद स्वाति, नान्दी आदि कुछ आचार्यों का उल्लेख ही इसका प्रमाण है[2] । सामवेद के स्वर - संक्रम के आधार पर ही सम्भवतः उन्होंने अपने गान्धर्व (संगीत) के स्वर, श्रुति ग्राम आदि का निरूपण किया । क्योंकि उनके समक्ष "सामवेद" के रूप में संगीत का वृहद् भण्डार था उसी का आश्रय लेकर ही भरत ने संगीत विषयक सिद्धान्तों और नियमों को लिपिबद्ध किया, ऐसा अनुमान सहज में लगाया जा सकता है । लेकिन चूँकि संगीत विषयक ये सिद्धान्त उनके वर्षों की तपस्या और अनुभवों का प्रतिफल था । इसीलिए आज भी ये सिद्धान्त और नियम स्वाभाविक और वैज्ञानिक कसौटी पर खरे उतरते हैं[3] ।

इस प्रकार भरत द्वारा प्रतिपादित गान्धर्व (संगीत) में सामवेदीय परम्परा प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से आज तक भारतीय संगीत के क्षेत्र में प्रवाहित है । जैसा कि श्री निवास आयकर लिखते हैं संगीत के पहले शास्त्रकार भरत और बाद के शास्त्रकार शारंगदेव, इन दोनों ने सामवेद के स्वरों को ही शुद्ध माना है । परम्परा प्राप्त सामवेद उसी रूप में प्रचलित है जिस रूप में आरम्भ में गाया जाता था[4] ।

---

1. ध्वनि और संगीत पृ0 - 145 यों तो महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों में संगीत और उसके अनेक नियमों की चर्चा पाई जाती है पर संगीत-शास्त्र के आदि आचार्य भरत ही माने जाते हैं ।

2. ना0शा0 32/1 ध्रुवासंज्ञानि यानि सयुर्नारदप्रमुखैः द्विजैः
   33/23 गान्धर्वमेतत् कथितं मया तत् पूर्व यदुक्तं प्रपितामहेन
   34/2 यथोक्तं मुनिभिः पूर्व स्वातिनारदपुष्करैः

3. ध्वनि और संगीत पृ0 - 145 क्योंकि इनका लक्ष्य लौकिक संगीत था, शिक्षा ग्रन्थों की तरह वैदिक संगीत नहीं ।

4. गोविन्द कृत संग्रहचूडामणि की भूमिका ध्वनि और संगीत में पृ0 - 42

इसीलिए यह स्वीकार किया जा सकता है कि प्राचीन संगीत भरत के "षडज ग्राम" में आज तक जीवित है ।

लगभग तीसरी से पांचवीं सदी और नवीन खोंजों के अनुसार ईसा पूर्व पॉचवी शती में भरत ने अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र की रचना की । इस ग्रन्थ को लिखने के पीछे उनके मूल उद्देश्य निम्न थे -

(1) वेदों में वर्णित गूढ़ तत्वों को सरल तथा स्वाभाविक तौर पर जनता - जनार्दन के समक्ष स्पष्ट करना, जिससे सभी वर्ग के लोग वेदों की गहराई और जीवन में इनकी उपयोगिता समझ सकें ।

(2) उस समय वेदों के पठन-पाठन का अधिकार कुछ ही लोगों तक सीमित था । शूद्र वर्ग वेदों के अध्ययन के अधिकारी नहीं थे । उन्हें भी वेदों के तथ्य बोधगम्य हो जाय, इसके लिए उन्होंने नाट्य के माध्यम से वैदिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने का संकल्प किया - "नाट्यशास्त्र" के निम्न श्लोक से इस तथ्य की पुष्टि होती है ।

"न वेदव्यवहारोऽयं संश्राव्य शूद्रजातिषु
तस्मात् सृजापरं वेदं ग्रन्थम् सार्ववणिकम्[1] ।

इसी कारण उन्होंने नाट्य को "पंचमवेद" की संज्ञा दी है । "नाटयख्य पन्चम वेदम्" देकर इसकी उत्पत्ति के साधन चारों वेदों से ग्रहण किये । अर्थात् पंचमवेद नाट्य की रचना में ऋग्वेद से "पाठ" साम से "गीत" यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस ग्रहण किये । इस प्रकार नाट्य के द्वारा भरत ने वेदों के गूढ तत्वों को सरलता प्रदान[2] की ।

---

1. ना0शा0 1/12
2. ना0शा0 1/15 अग्राह पाठ्यमृग्वेदात् समान्यो गीतमेव च

(3) भरत - काल में "संगीत" को नाट्य के अंग के रूप में मानने की प्रथा रही । नाट्य के पूर्वरंग में संगीत का प्रयोग - विधान था । इसी कारण "संगीत" भरत का मूल प्रतिपाद्य विषय न था । फिर भी नाट्य के अंग के रूप में प्रयुक्त किये गये "गान्धर्व" की अपनी विशिष्टता रही जैसे डॉ0 मुकुन्द लाट ने नाट्य में गान्धर्व की प्रधानता का उल्लेख किया है । उसका मूल कारण यही रहा होगा कि गीत - संगीत के बिना "जीवन की अनुकृति"[1] नाट्य में पूर्ण रस - परिपाक सम्भव नहीं । अतएव इसमें रस सिद्धि के लिए संगीत का पुट भरना नितान्त आवश्यक हो जाता है । इसी कारण भरत के नाट्य में संगीत के महत्व को स्वीकार किया है यथा -

"गीते प्रयत्नः प्रथम तु कार्यः शय्या हि नाट्स्य वदन्ति गीतम् गीतेऽपि वाद्येऽपि च सुप्रयुक्ते नाट्यप्रयोगों न विपत्तिमेति[2] ।

अर्थात् नाट्य प्रयोक्ता को प्रथम गीत का अभ्यास करना चाहिए क्योंकि गीत नाट्य की "शय्या" है । यदि गीत और वाद्य का अच्छे प्रकार से प्रयोग हो तो फिर नाट्य प्रयोग में कोई कठिनाई नहीं होती है । आज भी हम अनुभव करते हैं कि "गीत संगीत" के सही तालमेल से प्रयुक्त किये गये नाटक लोगों के द्वारा अधिक प्रशंसनीय माने जाते हैं ।

(4) अतएव भरत का मूल प्रतिपाद्य विषय नाट्य के माध्यम से वैदिक सिद्धान्तों और नियमों का स्पष्टीकरण करना था । इसलिए "नाट्यशास्त्र" संगीत

---

1. दत्तिलम् - डॉ0 मुकुन्द लाट XII - One use of Gandharva in ancient theatre was its employ as part of the 'purvarang'. The ritual prologue, though basically serving a sacred function. Yet consisted of music and dance.

का स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है न संगीत उनका प्रतिपाद्य विषय । नाट्य के अन्तर्गत "रस सिद्धी" के लिए प्रसंगवश संगीत का वर्णन कुछ ही अध्यायों में किया गया है । तथापि संगीत सम्बन्धी जिन नियमों और सिद्धान्तों का निरूपण उन्होंने सूत्रशैली में जिस ढंग से किया वह अपने में पूर्ण है और सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दृष्टि से आज तक संगीत - जगत् में मान्य है ।

(5) वैदिक संगीत की परम्परा को रखते हुए भी उन्होंने अपने ग्रन्थ को वैदिक और पौराणिक मार्ग से सर्वथा स्वतंत्र रक्खा तथा उसे लौकिक संगीत और नाट्य के प्रयोजनार्थ निरूपित किया जैसा आचार्य बृहस्पति का भी मत है - "नाट्य शास्त्र" के अन्तर्गत आतोद्य - विधि वर्णित है उसका मूल भले ही वैदिक परम्परा रही हो, परन्तु वह वैदिक और पौराणिक मार्ग से पर्याप्त सीमा तक स्वतन्त्र सम्प्रदाय है[1] ।

(6) उन्होंने नाट्यशास्त्र में भले ही प्रसंगवश संगीत की चर्चा की है किन्तु यह चर्चा अपने में इतनी सारगर्भित है कि ध्वनि विज्ञान में भी इसे पूर्ण मान्यता प्राप्त है । उनके द्वारा निरूपित स्वर-श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना, जाति स्वरों के पारस्परिक अन्तराल, वादी सम्वादी, अनुवादी और विवादी के रूप में सप्तक में आए हुए स्वरों के आपसी सम्बन्ध तथा अन्यान्य संगीत विषयक सिद्धान्त आज भी स्वीकार किये जाते हैं । एक सप्तक (संकेल) में 22 श्रुतियों और सात शुद्ध स्वरों की मान्यता तब से लेकर आज तक न केवल भारतीय संगीत में अपितु विश्व भर के संगीत में प्रामाणिक रूप से स्वीकृत है । भरत द्वारा निरूपित सप्तक के -

"षडजश्च ऋषभश्चैव गन्धारों मध्यमः
पंचमो धैवतश्चैव निषाद सप्त च स्वराः"[2] ।

---

1. भरत का संगीत सिद्धान्त आचार्य बृहस्पति पृ0 - 32
2. नाट्यशास्त्र - भरत 28-21

षडज, रिषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये सप्त स्वर वैज्ञानिक रूप से माने जाते हैं । इससे अधिक स्वरों की संख्या कहीं नहीं है । आज से 2000 वर्ष पूर्व भरत ने एक सप्तकान्तर्गत सात शुद्ध स्वर और 22 सूक्ष्मनादों (श्रुतियों) की जो कल्पना की उसके पीछे भरत मुनि की घोर तपस्या और परिरम द्रृष्टिगत होता है ।

(7) क्योंकि उस समय उनके पास स्वरों की नाम जोख के लिए आज की तरह न तो कोई वैज्ञानिक उपकरण था और न प्रयोगशालाएं, केवल पशु पक्षियों की ध्वनि के आधार पर स्वर और श्रुतियों जैसे संगीत विषयक सूक्ष्म नादों के मानदण्ड स्थापित करना और उनके निश्चयात्मक सिद्धान्त बनाना अपने में बहुत दुष्कर कार्य नहीं, असम्भव भी प्रतीत होता है । किन्तु यह भरत की वर्षों की साधना और तपस्या का परिणाम है, कि जिन स्वर-श्रुतियों का उन्होंने निर्धारण किया वे आज भी सहजता से कण्ठ से निकलते हैं । स्व0 पंडित ओंकारनाथ ठाकुर ने कहा है - हमारे यहाँ का संगीत कल्पना प्रधान है किन्तु उस कल्पना के पीछे ठोस सत्य का आधार है जो निर्णयात्मक है[1] ।

यही कारण है कि भरत के नाट्य और संगीत विषयक सिद्धान्त निर्णयात्मक है । उनका कोई विरोध नहीं ।

(8) यही नहीं भरत के वाद यद्यपि हमारे देश में विविध प्रकार के राजनैतिक सामाजिक और सांस्कृतिक उतार-चढाव आए जिनका प्रभाव हमारे साहित्य, संगीत और कला पर पड़ा, परिणामतः जन-रूचियों में भी बदलाव आता गया फलतः भरत द्वारा निर्दिष्ट संगीत की संज्ञाओं में

---

1. व्याख्यान माला - पंडित ओंकारनाथ ठाकुर 1947 मार्च पृ0 - 55

षडज, रिषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये सप्त स्वर वैज्ञानिक रूप से माने जाते हैं । इससे अधिक स्वरों की संख्या कहीं नहीं है । आज से 2000 वर्ष पूर्व भरत ने एक सप्तकान्तर्गत सात शुद्ध स्वर और 22 सूक्ष्मनादों (श्रुतियों) की जो कल्पना की उसक पीछे भरत मुनि की घोर तपस्या और परिरम दृष्टिगत होता है ।

(7) क्योंकि उस समय उनके पास स्वरों की नाम जोख के लिए आज की तरह न तो कोई वैज्ञानिक उपकरण था और न प्रयोगशालाएं, केवल पशु पक्षियों की ध्वनि के आधार पर स्वर और श्रुतियों जैसे संगीत विषयक सूक्ष्म नादों के मानदण्ड स्थापित करना और उनके निश्चयात्मक सिद्धान्त बनाना अपने में बहुत दुष्कर कार्य नहीं, असम्भव भी प्रतीत होता है । किन्तु यह भरत की वर्षों की साधना और तपस्या का परिणाम है, कि जिन स्वर-श्रुतियों का उन्होंने निर्धारण किया वे आज भी सहजता से कण्ठ से निकलते हैं । स्व0 पंडित ओंकारनाथ ठाकुर ने कहा है - हमारे यहाँ का संगीत कल्पना प्रधान है किन्तु उस कल्पना के पीछे ठोस सत्य का आधार है जो निर्णयात्मक है[1] ।

यही कारण है कि भरत के नाट्य और संगीत विषयक सिद्धान्त निर्णयात्मक है । उनका कोई विरोध नहीं ।

(8) यही नहीं भरत के वाद यद्यपि हमारे देश में विविध प्रकार के राजनैतिक सामाजिक और सांस्कृतिक उतार-चढाव आए जिनका प्रभाव हमारे साहित्य, संगीत और कला पर पड़ा, परिणामतः जन-रुचियों में भी बदलाव आता गया फलतः भरत द्वारा निर्दिष्ट संगीत की संज्ञाओं में

---

1. व्याख्यान माला - पंडित ओंकारनाथ ठाकुर 1947 मार्च, पृ0 - 55

तो परिवर्तन हुआ परन्तु उनके संगीत विषयक मूल सिद्धान्तों में कही किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ । वे आज तक उसी रूप में मान्य है ।

इसी कारण भरत के कृतित्व को देखते हुए उन्हें "महर्षि" की उपाधि से विभूषित किया गया है तथा उनका ग्रन्थ "नाट्यशास्त्र" न केवल संगीत कला अपितु समस्त ललित कलाओं और नाट्य के मूलभूत सिद्धान्तों के लिए "आकार" ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया जाता है । इस सम्बन्ध में इसके श्लोक "आप्तवचन" माने गये हैं । यह ग्रन्थ न केवल भारतीय संगीत अपितु विश्व भर के संगीत के आकार-प्रकार की पुष्टि के लिए अपने में प्रमाण रूप से मान्य है । श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री के शब्दों में "ललित कलाओं" के विश्वकोष इस ग्रन्थ ने भरत की उदात्त कला चेतना को अनुप्राणित किया है इसी कारण शास्त्रकारों ने नाट्यशास्त्र को नाट्य वेद और उसके प्रणेता भरताचार्य को मुनि के रूप में आदर से स्मरण किया है[1] ।

(9) यही नहीं भरत के पश्चात् संगीत के जितने भी ग्रन्थकार हुए वे सभी भरत के अनुयायी रहे । उनके नियमों और सिद्धान्तों को स्पष्ट करते चले आ रहे हैं और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से "भरत" से प्रभावित है तथा संगीत विषयक जानकारी के लिए इनके ग्रन्थ से तृप्ति का अनुभव करते हैं ।

(10) संगीत भरत का मूल विषय नहीं था इसी कारण भरत ने "नाट्यशास्त्र" के छः अध्यायों में संगीत की प्रसंगवश चर्चा की है । किन्तु भरत द्वारा निरूपित इस संगीत-चर्चा ने संगीत क्षेत्र में स्वतन्त्र लेखन की

---

1. भाष्य शा० प्रदीप हिन्दी व्याख्यान - बाबूलाल शुक्ल शास्त्री प्रस्ता० पृ० - 4

परम्परा को जन्म दिया । भरत के बाद मतंग, शारंगदेव आदि से संगीत पर स्वतन्त्र ग्रन्थों का लेखन किया ।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ में भरत द्वारा प्रतिपादित संगीत विषयक सिद्धान्तों और नियमों का आधुनिक संगीत शास्त्र की परम्परा में कहा तक योगदान है, तथा कहाँ तक प्रभावी और मार्गदर्शक रहे हैं । इसी का अध्ययन और मूल्यांकन किया गया है । प्रस्तुत शोध में संगीत सम्बन्धित विवरणों के लिए "गायकवाड ओरियेन्टेड सिरीज बड़ौदा एडीशन ना0शा0 के अट्ठाइसवें अध्याय "आतोद्यविधान" से लेकर अध्याय अवनद्धातोद्य विधान तक का पूर्ण अध्ययन किया गया है, जो सीधे संगीत (गान्धर्व) से सम्बद्ध है । इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के प्रथम - चतुर्थ और पंचम अध्यायों के संदर्भ लिए गये हैं ।

विषय के स्पष्टीकरण के लिए आचार्य अभिनव गुप्त की नाट्यशास्त्रान्तर्गत टिप्पणियों को लिया गया है । अतएव प्रस्तुत शोध का मूल आधार गायकवाड सिरीज ना0शा0 (अभिनव गुप्त टीका) इसके अतिरिक्त डॉ0 मुकुन्द लाट कृत दत्तिलम् और चौखम्बा संस्कृत संस्थान, बनारस से प्रकाशित श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री द्वारा अनुवादित श्री "भरत मुनि प्रणीत" सचित्रं नाट्यशास्त्रं प्रदीप-हिन्दी व्याख्या - टिप्पणी परिशिष्ट प्रस्तावनादभिविभूषितम् के संदर्भों को लिया गया है। ये ग्रन्थ क्यों कि "नाट्यशास्त्र" से सम्बन्धित है । अतएव इन सभी के अध्ययन का उपयोग इसमें किया गया है । इससे सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों की जानकारी आगे दी जायेगी ।

*****

भारतीय संगीतशास्त्र की शाखाएँ तथा परम्पराएँ

(क) वैदिक संगीत परम्परा ।

(ख) आगम-पुराण की संगीत परम्परा तथा अन्य परम्पराएँ

(ग) निष्कर्ष

नाट्यशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात होता है कि भरत से पूर्व भारतीय संगीत शास्त्र की अनेक परम्पराएँ तथा शाखाएँ थीं । यह भी अनुमान लगाया जाता है कि इन परम्पराओं के प्रवर्तक स्वयं ब्रह्मा, शिव और नारद थे । जैसा कि नाट्यशास्त्र के संस्करणों में उल्लेख मिलते हैं । काशी संस्करण के अनुसार स्वयं भरत ने कहा है-

"गान्धर्वमेतत् कथितं मया च पूर्वं
यदुक्तं त्विह नारदेन" (1)

अर्थात् गान्धर्व संगीत मेरे द्वारा कहा गया, जिसे नारद ने पूर्व ही कहा है । "निर्णय सागर" संस्करण के अनुसार -

"गान्धर्वमेतत् कथितं मया च पूर्वं यदुक्तं त्विह प्रपितामहेन"

काशी संस्करण के अनुसार "नारद" और निर्णयसागर" - के अनुसार प्रपिता "ब्रह्मा" भरत के पूर्वाचार्य माने जा सकते हैं जिन्होंने भरत को "गान्धर्व" की शिक्षा दी । डॉ0 मुकुन्द लाट का भी यही मत है । विद्वानों का अनुमान है, कि भरत से पूर्व "शंकर, नारायण प्रपिता ब्रह्मा" आदि की संगीत - परम्परा रही होगी । इस सम्बन्ध में श्री तुलसीराम देवांगन ने अपने एक लेख में उल्लेख किया है कि भारतीय ग्रन्थों के अनुसार

---

1. काशी संस्करण ना0शा0 - ध्रुवाध्याय 32/525
2. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका 33/23
3. दत्तिलम् - डॉ0 मुकुन्दलालट - पृ0-3 Suayambhu (The self born one) gave gandhrva to Narad and other sages. Nard then duly brought it down to the earth.

भारतीय विद्याओं और कला आदि के प्रवर्तक पितामह, ब्रह्मा भगवान नारायण या भगवान शंकर है "वे पुनः लिखते हैं" नाट्यशास्त्र के साक्ष्य से भी यह बात सिद्ध है कि नाट्यशास्त्रानुसार नाट्यवेद की शिक्षा आचार्य भरत ने पितामह ब्रह्मा से प्राप्त की ..... त्रिपुरदाह का अभिनय जब हिमालय पर किया गया तब उसे देखकर प्रसन्नता पूर्वक स्वरचित नृत्य की शिक्षा भगवान शंकर भरत को अपने शिष्य तंडु यानी नन्दी के द्वारा दिलाते हैं । इन ऐतिहासिक तथ्यों से विदित होता है कि उस समय शंकर और ब्रह्मा की परम्परा एक दूसरे से पृथक् विद्यमान थी[1] ।"

इसी तथ्य की पुष्टि स्व0 पंडित ओंकारनाथ ठाकुर ने "रणजीत साम स्मारक सुवर्ण चन्द्रक के अवसर पर दिये गये अपने व्याख्यान में कहा "गौतम, कश्यप, नारद, शाडिल्य, पुष्कर धूर्तिल आदि के नाम साक्षी है कि इन सब के ग्रन्थ भले ही आज उपलब्ध न हो किन्तु उनकी एक विशाल परम्परा थी जिसे भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र का आधार बनाया[2] ।"

इस प्रकार भरत से पूर्व संगीत की विविध परम्पराएं रहीं जिनका प्रभाव भरत द्वारा निरूपित संगीत और नाट्य - नियमों पर पड़ा । मोटे तौर पर संगीत की इन परम्पराओं और शाखाओं को तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है ।

(1) वैदिक संगीत परम्परा
(2) आगम-पुराण या पौराणिक परम्परा
(3) संगीत की अन्य परम्पराएँ

(1) वैदिक-संगीत की परम्परा-

संगीत के उद्गम और विकास की कहानी मात्र कुछ वर्षों की नहीं है ।

---

1. संगीत पत्रिका 1985 मई पृ0 - 45
2. रागरागिनी वर्गीकरण, पद्धति, उत्पत्ति और विकास-तुलसीदास देवांगन पृ0 - 454 - व्याख्यान माला - संगीत मार्च 1947

अपितु ईसा से भी हजारों वर्ष पूर्व यह एक समृद्ध कला के रूप में सामने आ चुकी थी। परन्तु लिपिबद्ध रूप से सबसे पहले संगीत सम्बन्धित जानकारी हमें वैदिक साहित्य से प्राप्त होती है । आचार्य अभिनवगुप्त का यह मत है[1] । श्री-सुदामा प्रसाद दुबे ने सामवेद की ऋचाओं को संगीत का मूलस्त्रोत माना है[2] । वैदिक साहित्य न केवल संगीत कला का ही, अपितु समस्त भारतीय साहित्य एवं अन्य सभी ललित कलाओं के उद्गम और विकास के मूलाधार है[3] ।

उस काल का संगीत विषयक कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ भले ही उपलब्ध न हो, किन्तु तत्कालीन संगीत के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य से जो सूत्र प्राप्त होते हैं, उनसे वैदिक संगीत की समृद्धता का सहज अनुमान लगाया जा सकता है । अनुमान है, कि यहीं से मानव सभ्यता, संस्कृति साहित्य और ललित कलाओं का विकास हुआ । इसी कारण संगीत भारतीय साहित्य और संस्कृति का अभिभाज्य अंग के रूप में उल्लिखित किया जाता है । वैदिक संगीत - परम्परा के सम्बन्ध में निम्न तथ्य विचारणीय है यथा -

(1) वैदिक साहित्य मूल रूप से ऋग्वेद - सामवेद - यजुर्वेद और अर्थववेद इन चार ग्रन्थों में वर्णित है । जिनमें "सामवेद" संगीत के लिए निर्मित था ऐसा स्वीकार किया जाता है । "सामवेद" प्रत्यक्ष गायन से सम्बद्ध संहिता थी जिसमें ऋग्वेद के उन सभी मन्त्रों का संकलन था जिन्हें तत्कालीन धुनों के साथ गाया जाता था ।

(2) आज की तरह वैदिक काल में भी "जनानाम् रूचि" के अनुसार संगीत की दो धाराएं समानान्तर रूप से प्रवाहित थी ऐसा उल्लेखों से विदित

---

1. ना0शा0 पृ0-2 सामम्यो गीतीमति हि पारम्पर्येण सामवेदोद्भूतं ।
2. भातखंडे संगीत शास्त्र । प्राक्कथन - सामवेद की ऋचाओं को संगीत का आदि स्त्रोत माना जाता है ।
3. गान्धर्व - नाट्य और संगीत डॉ0 सुभद्रा कुमारी पृ0-330 (निबन्ध संगीत)

होता है । यथा -

"वैदिक संगीत" जिसे "साम संगीत" कहा जा सकता है । जैसा डॉ0 सुभद्रा कुमारी ने कहा है "यह संगीत (साम) अनादि, अपौरूषेय अत्यन्त पवित्र नियमों से बद्ध संगीत था, विधि-विधान से वेदों का सस्वर पाठ ही सामवेद कहलाया[1]" इस संगीत का प्रयोग तत्कालीन धार्मिक समारोहों पर धार्मिक रीति से किया जाता था । सामवेद पर प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ "नारदीय शिक्षा" है । इस ग्रन्थ में तत्कालीन साम और गान्धर्व इन दोनों प्रकार के संगीत - स्वरूपों की चर्चा की गई है । डॉ0 शरतचन्द्र श्रीधर पराजेय का कथन है, कि "साम संगीत" उस काल का शिष्ट या Classical Music था गान्धर्व उस काल का लौकिक संगीत था[2] । अभिप्राय यह है "साम संगीत" वैदिक युग का शास्त्रीय संगीत ठीक उसी प्रकार था जिस प्रकार आज का राग-संगीत । जो शास्त्रोक्त नियमों से बद्ध है ।

अनुमान है, कि गान्धर्व उस काल का "लौकिक" संगीत था जिसकी पुष्टि परांजये जी ने इस प्रकार की है - गान्धर्व उस काल का लौकिक संगीत था । यदि साम संगीत वैदिक महर्षियों का संगीत था तो गान्धर्व, संगीत व्यवसायी गन्धर्वों द्वारा गया जाने वाला उच्च कोटि का लौकिक संगीत था क्यों कि वैदिक युग में गन्धर्वों को संगीत प्रिय क्षुद्रदेवता माना गया है[3] ।"

---

1. गान्धर्व नाट्य और संगीत डॉ0 सुभद्रा कुमारी पृ0 - 330 (निबन्ध संगीत)
2. संगीत बोध - शतरचन्द्र श्रीधर पराजये पृ0 - 14
3. संगीत बोध - शरतचन्द्र श्रीधर परांजये पृ0 - 4

हालांकि दोनों प्रकार के संगीत का आदि स्त्रोत जन-संगीत था अन्तर केवल इतना रहा होगा कि प्रथम (साम संगीत) को संस्कार और परिष्कार प्राप्त होने के कारण यह संगीत उच्च कोटि का शास्त्रीय संगीत था, जो अपने में पूत, पवित्र और शाश्वत था ।

तथा दूसरा अर्थात् (गान्धर्व) संगीत, लोक रूचि के अनुकूल विकसित हुआ और सामान्य जनता में लोकप्रिय था । चूँकि गन्धर्व इस संगीत का गान करते थे इसलिए इसे "गान्धर्व" की संज्ञा दी गई । ऐसा अनुमान है ।

(3) गेयता की दृष्टि से "साम" अपने में अत्यधिक समृद्ध और विशाल संहिता थी । भिन्न-भिन्न ऋचाओं के गायक भी अलग-अलग थे ऐसा प्रतीत होता है । "सामवेद के मन्त्रों का उच्चारण उद्‌गाता नामक ऋत्विक करते थे[1] ।" गेय मन्त्रों को "सामन्" नाम से पुकारा जाता था "सामन् के नाम से इस संहिता का नाम सामवेद ऐसा पडा[2] ।"

अध्ययन से विदित होता है कि सामगान करने वाले ऋत्विक सामग या छंदोग कहलाये । "उद्‌गाता" उच्च स्वर से गाने वाले ऋत्विक को कहा जाता था । सम्भवतः उच्च स्वर से गाने वाले उद्‌गाता के नाम पर ही सामवेदीय उदात्त (उच्च स्वर) का नाम भी पड़ा हो ऐसा मेरा अनुमान है ।

(4) यजुर्वेद के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित जैसे ऊँचे, नीचे और बीच के इन तीनों स्वरों का उल्लेख मिलता है जिनसे क्रमशः सात स्वरों (षडज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद) का विकास वैदिक युग की ही उपलब्धि मानी जाती है । "माण्डूकी शिक्षा" के निम्न पद से विदित होता है कि "सामगान" सात स्वरों में किया

---

1. निबंध संगीत सदियों वर्ष पूर्व पृ0 - 126

2. निबंध संगीत - सदियों वर्ष पूर्व जब धरती पर संगीत लहराता - 126 पृ0

जाता था "सप्तस्वरास्तु गायन्ते सामभि" इसी प्रकार स्व0 पं0 ओंकारनाथ ठाकुर द्वारा दिये गये व्याख्यान में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है "वैदिक संगीत परस्पर सम्वादित ऐसे सात स्वरों में गाया जाता था । सात स्वरों को उस समय" यम "संज्ञा दी जाती थी" सप्तयभान्तराणि (सामसूत्र) सप्तस्वराः यमास्ते" (ऋक्प्रतिसाख्य)"[1]।

पाणिनी ने भी सात स्वरों के विकास की पुष्टि "उदात्त निषाद गन्धारों" जैसे पद में की है, और भी उल्लेख है जिनसे अनुमान लगाया जाता है कि वैदिक - युग में सात स्वरों का विकास एकाएक नहीं हुआ अपितु एक स्वर, दो स्वर, तीन स्वर और इन तीन स्वरों (उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित) से क्रमशः सात स्वरों का विकास हुआ । इस सम्बन्ध में प्रो0 ललित किशोर सिंह जी लिखते हैं "ऋग्वेद में औडव या षाडव का प्रसंग नहीं आता । पर आर्चिनो गायन्ति, गाथिनों गायन्ति, सामिनो गायन्ति", ये पद मिलते हैं आर्चिक संगीत एक स्वर का गाथिक संगीत दो स्वरों और सामिक 3 स्वरों का होता था ।[2] इसके बाद क्रमशः सात स्वरों का विकास वेद-काल में हो चुका था ।

(5) विभिन्न उल्लेखों से यह भी अनुमान है, कि उस समय आज की तरह तत्कालीन स्वरों की संज्ञा व क्रम में भिन्न-भिन्न मतान्तर थे ।

सामविधान ब्राह्मण- में साम गान के सातों स्वरों का नाम व क्रम निम्नवत् मिलता है-

स्वर-संज्ञा- "क्रुष्ट - प्रथम - द्वितीय - तृतीय, पंचम-षष्ठ-सप्तम्"

नारदीय शिक्षा- में स्वरों का नाम व क्रम के लिए निम्न श्लोक प्राप्त होता है -

---

1. व्याख्यान माला - पं0 ओंकारनाथ ठाकुर संगीत 1947 मार्च
2. ध्वनि और संगीत - प्रो0 ललित किशोर सिंह पृ0 - 139

"यः सामगानां प्रथमः सः वेणोर्मध्यम स्वरः
यो द्वितीय सः गन्धारस्तृतीयस्त्रृषभः स्मृतः
चतुर्थः षडज इत्याहु पन्चमो धैवतो भवेत
षष्ठो निषाद विज्ञेयः सप्तमः पन्चम स्मृतः[1] ।"

अर्थात् "सामगान में जो स्वर प्रथम है, वहीं स्वर वेणु में मध्यम स्वर है" और उसी क्रम से सातों स्वरों के नाम निम्न प्रकार दिये जा सकते हैं ।

प्रथम स्वर का नाम तथा क्रम - मध्यम (म)
द्वितीय स्वर का नाम तथा क्रम - गान्धार (ग)
तृतीय स्वर का नाम तथा क्रम - ऋषभ (रे)
चतुर्थ स्वर का नाम तथा क्रम - षडज (स)
पंचम स्वर का नाम तथा क्रम - धैवत (ध)
षष्ठ स्वर का नाम तथा क्रम - निषाद (नी)
सप्तम स्वर का नाम तथा क्रम - पंचम (प)

"नारदीय शिक्षा" के उपरोक्त श्लोक के अनुसार तत्कालीन स्वरों का क्रम व संज्ञा "म-ग-रे-स-ध-नी-प" थी स्वरों के क्रम व संज्ञा के सम्बन्ध में सायणाचार्य की विचारधारा भी उस समय प्रचलित रहीं होगी जिसका उल्लेख प्रो0 ललित किशोर सिंह ने अपनी पुस्तक "ध्वनि और संगीत" में किया है -

"लौकिके ये निषादादयः सप्तस्वराः प्रसिद्धाः
त एव साम्नि कुंष्ट्रादयः सप्तस्वराः प्रसिद्धाः
तद्यथा-यो निषाद सः कुष्ट्रः धैवतः प्रथमः
पन्चमः द्वितीय मध्यमस्तृतीयः गन्धारश्चतुर्थ[2]
ऋषभ मन्द्रः षडजोऽतिस्वार्य"

---

1. ध्वनि और संगीत - प्रो0 ललित किशोर सिंह पृ0 - 140
2. ध्वनि संगीत प्रो0 ललित किशोर सिंह पृ0 - 141 (उद्धत)

उपरोक्त श्लोक में सायणाचर्य ने स्पष्ट कर दिया है, कि संगीत में निषाद आदि जो सात स्वर प्रसिद्ध हैं, वे ही क्रुष्ट आदि साम संगीत के स्वर थे । जो निषाद स्वर है वह क्रुष्ट्र , धवत प्रथम, पंचम द्वितीय, मध्यम तृतीय, गन्धार चतुर्थ, ऋषभ मन्द्र और षडज स्वर सामिक अतिस्वार्य स्वर है । अनुमान है कि वैदिक काल के प्रचलित स्वरों की संज्ञा क्रुष्ट्र, प्रथम द्वितीय आदि परिवर्तित होकर षडज ऋषभ गन्धार आदि संज्ञा के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थी । तभी सायण ने सामगान के स्वरों का नाम व क्रम अपनी विचारधारा के अनुसार दिया । जो निम्नवत् है -

सामिक स्वर क्रुष्ट को "निषाद" स्वरमाना
सामिक स्वर प्रथम को धैवत स्वर माना
सामिक स्वर तृतीय को पंचम स्वर माना
सामिक स्वर चतुर्थ को गन्धार स्वर माना
सामिक स्वर मन्द्र को ऋषभ स्वर माना
सामिक स्वर अतीस्वार्य को षडज स्वर माना

सामिक स्वरों की संज्ञा निषाद धैवत आदि के रूप में परिवर्तित हुई कालान्तर में निषाद आदि स्वरों के स्थान पर "नी ध प म ग रे स" स्वरों की संज्ञा व क्रम प्रचलित हुआ ।

इन सब उल्लेखों से सिद्ध होता है, कि सामगान के स्वर ही परिवर्तित होकर भरत के षडज-ग्राम में आए । उपरोक्त स्वर - क्रम अवरोही है और भरत का ग्राम भी अवरोही था ऐसा नाट्यशास्त्र से अनुमान किया जाता है ।

(6) कुंठ संगीत के अतिरिक्त वैदिक संगीत में तत्कालीन वाद्य एवं नृत्य की परम्परा भी अपने में काफी समृद्ध थी जो भरत को धरोहर के रूप में प्राप्त हुई ।

नृत्य परम्परा-

तत्कालीन समनो (उत्सवों) में विविध प्रकार के नृत्यों का प्रदर्शन होता था जिनकी पुष्टि ऋग्वेद के निम्न पद से होती है "नृत्यमतो अमृता" । डॉ0 वासुदेव-शरण ने अपने ऐतिहासकि ग्रन्थ में "आधाटि"[1] शब्द का प्रयोग किया है, जिसका संदर्भ तत्कालीन उत्सवों में स्त्री-पुरूषों का "आधाटि" झांझ मंजीरे के साथ नृत्य करने का वर्णन है । पंडित ओंकार नाथ ठाकुर के व्याख्यान में भी "आधाटि" शब्द की व्याख्या तत्कालीन वाक्यों के "सामान्य" नाम से की गई है । यथा - "आधाटिभिरिव धावयन् अभिवाणस्यसप्तधातु"[2] ।

वाद्यों की परम्परा-

इसी प्रकार वेद कालीन वाद्यों की भी सम्पन्न परम्परा की जानकारी भरत को प्राप्त थी । ऋग्वेद में वाद्यों के तीन प्रकारों का उल्लेख है, अवनद्ध वाद्य-तन्तुवाद्य-सुषिर वाद्य, जिसे उस समय "नाष्ठी", नाम से पुकारा जाता था "ऋग्वेद के समय तीनों ही प्रकार के वाद्यों-अवनद्ध वाद्य, तन्तुवाद्य और सुषिर वाद्य, जिसे नाष्ठी कहा जाता था, का आविष्कार हो चुका था[3] ।" इसी प्रकार डॉ0 लल्लन जी गोपाल तथा डॉ0 ब्रजनाथ सिंह यादव ने लिखा है "वैदिक साहित्य" में अवनद्ध वाद्यों में दुन्दभी, आदम्बर, भूदुन्दभी, वाचस्पति, आधांती, तन्त्रवाद्यों में काण्डवीणा, कर्करीवीणा, वारण्यवीणा, सुषिर वाद्यों में तूणव नादि, वाकुर आदि वाद्यों का उल्लेख मिलता है"[4] स्व0 पंडित ओंकार ना. ठाकुर की "व्याख्यान माला" में भी उल्लेख मिलता है उस समय शततन्त्री, ताल्लुकवीणा,

---

1. "हिन्दू सभ्यता" - डॉ0 वासुदेवशरण अग्रवाल पृ0 - 80
2. "व्याख्यानमा.ा - 1947 फरवरी संगीत - पंडित ओंकार नाथ ठाकुर.
3. सदियों वर्ष पूर्व नव धरती पर संगीत, "निबन्ध संगीत" - मंजू रंजना शर्मा-127 पृ0
4. भारतीय संस्कृति - डॉ0 लल्लन जी गोपाल तथा डॉ0 ब्रजनाथ सिंह पृ0 - 17।

काण्डवीणा, पिच्छोरा, कपिशीर्षवीणा आदि तन्तुवाद्य प्रचार में थे यह सब वाद्य "आधाटि" सामान्य नाम से पहचाने जाते थे ।[1]

संगीतशास्त्र -

सामवेद पर प्रकाश डालने वाले ग्रन्थ नारदीय शिक्षा में संगीत विषयक सिद्धान्त आर शास्त्र की चर्चा मिलती है । स्वर, तीन स्थान, सप्तस्वर तथा ऋचाओं का गायन किस विधि स किया जाता था इन सबका वर्णन मिलता है । इसी तथ्य की पुष्टि डॉ0 शरतचन्द्र पराजये ने अपनी पुस्तक "संगीत बोध" में की है "नारदीय शिक्षा" में स्वर वर्ण, आदि के उच्चारण के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन पाया जाता है स्वरों के षडज, ऋषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम धैवत और निषाद जैसे नाम जावालोपनिषद के अलावा सर्व प्रथम इसी ग्रन्थ में हैं ।[2]

विद्वानों के उपर्युक्त उद्धरणों से ज्ञात होता है कि भरत से पूर्व वैदिक संगीत की परम्परा में गायन-वादन और नृत्य इन तीनों अंगों की पूर्ण समृद्धता थी । यही नहीं आज की तरह स्वरों के नाम व क्रम में अलग-अलग विचारधाराएं थी ।

(2) आगम-पुराण या पौराणिक संगीत परम्परा-

वैदिक परम्परा के बाद तत्कालीन संगीत की दूसरी सशक्त परम्परा भरत गे पूर्व विद्यमान थी जिसे आगम - पुराण की परम्परा कहा जा सकता है ।

संगीत की दृष्टि से इस परम्परा के ग्रन्थ अपने में महत्वपूर्ण स्थान रखते है । इस परम्परा के ग्रन्थों में संगीत विषयक पर्याप्त जानकारी मिलती है । किन्तु खेद इस बात का है, कि इस परम्परा के ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है । कहा जाता

---

1. व्याख्यान माला - संगीत 1947 मार्च - पृ0 ओंकारनाथ ठाकुर
2. संगीत बोध - डॉ0 शरतचन्द्र श्रीधर पराजये पृ0 - 15

है कि "गान्धर्ववेद" नामक ग्रन्थ इस परम्परा का प्रसिद्ध ग्रन्थ था डॉ0 के0 वासुदेव शास्त्री लिखते हैं "आगम" पुराण में संगीत के आदि कर्ता महादेव है शिव-पार्वती संवाद के रूप में 36000 श्लोकों का एक ग्रन्थ "गान्धर्व" नाम से प्रचलित था, किन्तु यह ग्रन्थ अब प्राप्य नहीं है तो भी उसकी विषय सूची "यमलाष्टक" नामक ग्रन्थ में दी गई है इसी परम्परा के ग्रन्थों में नन्दिकेश्वर कृत नन्दिकेश्वर संहिता भी एक ग्रन्थ है यह भी अब नहीं मिलता ..... इसके अलावा आगम-पुराण-परम्परा के शैव और वैष्णव आगम ग्रन्थों में शिल्प नाट्य आदि विषयों के साथ संगीत विषयक विचारों के महत्वपूर्ण उल्लेख है ।[1]

इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि साम संगीत के वाद संगीत की दूसरी महत्वपूर्ण परम्परा आगम-पुराणों में वर्णित संगीत के इन ग्रन्थों की रही होगी । जिसमें "गान्धर्ववेद" और कहीं-कहीं "गान्धर्व" नाम का ग्रन्थ तत्कालीन संगीत का बहुचर्चित ग्रन्थ रहा होगा । तथा जिसकी अपनी शास्त्रोक्त परम्परा "गान्धर्व" नाम से अभिहित की गई ।

हालांकि इस परम्परा का प्रसिद्ध ग्रन्थ "गान्धर्ववेद" यद्यपि उपलब्ध नहीं हुआ किन्तु इसका उल्लेख और महत्ता परवर्ती विद्वानों ने स्वीकार की है ।

इस ग्रन्थ के अस्तित्व के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के निम्न उद्धरण प्राप्त हुए हैं यथा -

(1) हाथरस से प्रकाशित पत्रिका संगीत 1959 के संगीत "वाङमय" नामक लेख में इसकी पुष्टि की गई है "बंगीय साहित्य परिषद द्वारा प्रकाशित इस ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में संगीत विद्या के समस्त ग्रन्थों की सूचि दी गई है इस सूचि के कुछ नाम इस प्रकार है गान्धर्ववेद, नादपुराण, नादमहोदधि नारद संहिता आदि[2] ।

---

1. संगीतशास्त्र - के0 वासुदेव शास्त्री पृ0 - 4-6
2. संगीत पत्रिका - 1959 "संगीत वाङमय"

(2) पंडित भातखंडे जी ने भी संगीत के प्राचीन ग्रन्थों की सूचि में "गान्धर्ववेद" नामक ग्रन्थ का उल्लेख संगीत शास्त्र भाग-। में किया गया है "राग विबोध", गान्धर्ववेद आदि[1] ।

(3) डॉ0 सुभद्रा चौधरी का कथन है "गान्धर्ववेद शास्त्र ग्रन्थ था जो प्राप्य नहीं है"[2] ।

इन उल्लेखों से विदित होता है कि "गान्धर्ववेद" एक शास्त्र ग्रन्थ रहा होगा जिसमें संगीत विषयक पर्याप्त सामग्री थी तथा इसमें तत्कालीन संगीत की विशाल परम्परा का विवरण रहा होगा । चूँकि यह ग्रन्थ अनुपलब्ध रहा इसी कारण परवर्ती ग्रन्थों में इसके उल्लेख मिलते हैं । इन उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि वैदिक काल का शास्त्रीय संगीत "साम संगीत" के नाम से प्रसिद्ध हुआ और इस संगीत के समानान्तर लौकिक संगीत के रूप में "गान्धर्व" प्रचलित हुआ जो तत्कालीन गन्धर्वों द्वारा गया जाता था इसी कारण सम्भवतः इसका नाम "गान्धर्व" पड़ा ।

गान्धर्व, संगीत विद्या के अधिकारी विद्वान व गायक थे । इस विद्या में इनकी पहुँच बहुत सूक्ष्म एवं सबल थी । गान्धर्व, शब्द संस्कृत भाषा का है जिसका अर्थ है "गन्धं अर्वति इति गान्धर्व, अर्थात् जो गन्ध मात्र से अर्थात् उपस्वरों के आभास से ही सुर की पहचान करने में सक्षम हो उसे "गन्धर्व" कहा जाता है । "गन्धर्व" की व्युत्पत्ति में गन्ध से जान लेने का अर्थ है, जो स्वर की गन्ध को पहचान ले । स्वर की गन्ध से अर्थात् उपस्वरों, जिन्हें वैज्ञानिक भाषा में हारमोनिक्त करते हैं । गन्धर्वों की श्रवण शक्ति इनती सूक्ष्म होती है कि वे मूल स्वरों में, उपस्वरों को भी पहचान लेते हैं[3] ।

---

1. हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति (संगीत शास्त्र भाग-।) भातखंडे - 128
2. गान्धर्व नाट्य और संगीत निबन्ध संगीत डॉ0 सुभद्रा कुमार - 332
3. गान्धर्व नाट्य और संगीत " " - 331

संगीत का इतना सूक्ष्म ज्ञान रखने के कारण ही सम्भवतः इन्हें द्रष्टामुनि भी कहा जाता है । पंडित शारंगदेव ने अपने ग्रन्थ "संगीतरत्नाकर" में ऐसे सात स्वरों के "दृष्टामुनियों" का विवरण दिया है । इस संदर्भ में डॉ० सुभद्रा चौधरी ने "तुम्बरू मुनि" को "स्वयंभूनाद को पहचानने वाला मुनि कहा है[1] ।

इस प्रकार कालान्तर में वैदिक काल का लौकिक संगीत के रूप में प्रचलित गान्धर्व शनैः शनैः शास्त्रीय संगीत के रूप में उभरकर सामने आया । जिसकी अपनी समृद्ध परम्परा रही, अपने शास्त्र-ग्रन्थ और अपना सांगीतिक युग था । महर्षि भरत ने इसी गान्धर्व का शास्त्रोक्त विवरण अपने ग्रन्थ नाट्यशास्त्र में दिया है ।

गान्धर्व का विकास-

यह सुनिश्चित है कि भारतीय संगीत ही नहीं बल्कि विश्व भर के संगीत का मूलस्वरूप वैदिक "सामसंगीत" है । कालान्तर में "साम संगीत" के समानान्तर लौकिक संगीत के रूप में पनपने वाला गान्धर्व अपने शास्त्रोक्त स्वरूप में विकसित हुआ । डॉ० मुकुन्द लाट ने भी इस प्रकार शास्त्रीय रूप में प्रतिष्ठित गान्धर्व के सम्बन्ध में अपना मत दिया है[2] ।

लेकिन अनुमान लगाया जा सकता है कि लौकिक संगीत के रूप में गान्धर्व का शास्त्रीय संगीत के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त करना कोई एक या दो वर्षों का कार्य नहीं था, अपितु यह इसके विकास-क्रम की लम्बी कहानी थी । जिसने धीरे-धीरे अपना

---

1. निबन्ध संगीत डॉ० सुभद्रा चौधरी पृ० - 33।
2. दतिलम् डॉ० कुमुन्द लाट पृ० - 65, But Gandharva in Dattilam stands for specific corpus of music. It was a sacred form parallel in this sense to the more ancient 'Sama' from which it was thought to have been derieved. It was basically like 'Sama' a sung form.

स्वरूप प्राप्त किया । इसे यों समझा जा सकता है कि जिस प्रकार गायन शैलियों के क्षेत्र में "प्रबन्ध", उसके वाद ध्रुवपद संगीत को पूर्ण शास्त्रोक्त गीत शैलियाँ मानी गई, किन्तु धीरे-धीरे ध्रुवपद के नियम, संयम और अनुशासन लोगों को कठिन लगने लगे, अतएव ख्याल का जन्म हुआ, इसके वाद ठुमरी और जनरूचि के बदलाव के कारण क्षुद्र कही जाने वाली गजल और कव्वाली जैसी गीत शैलियाँ भी आज अर्द्ध-शास्त्रीय संगीत के स्तर पर पहुँच रही है और सम्भवतः वह दिन दूर नहीं जब आज का चित्रपट संगीत भी शास्त्रीय संगीत के रूप में प्रतिष्ठित हो जाएं । इसी क्रम से साम-संगीत के समानान्तर लौकिक संगीत के रूप में प्रचलित गान्धर्व ने आगे चलकर शुद्ध शास्त्रीय संगीत का स्वरूप ग्रहण कर लिया हो । इस दृष्टि से भारतीय संगीत के विकासक्रम पर यदि दृष्टिपात किया जाए तो "साम संगीत" को विकास का प्रथम चरण माना जाना चाहिये तथा वैदिक कालीन अर्द्ध शास्त्रीय गान्धर्व विकास का द्वितीय चरण होगा । इस तथ्य की पुष्टि डॉ0 वासुदेव शरण जी ने भी की है[1] ।

इस प्रकार साम-संगीत के आधार पर बना तत्कालीन "नये प्रकार का शास्त्रीय संगीत" के रूप में प्रचलित हुआ जो उस समय का गान्धर्व था । इसका मूल स्त्रोत भले ही जन-संगीत था, किन्तु आकार प्रकार पूर्णतः साम संगीत के सिद्धान्तों पर आधारित था । इसीलिए परवर्ती विद्वानों के ग्रन्थों में "गान्धर्व" को वेदों की भाँति प्राचीन, पूत और पवित्र माना गया ।

वेदों की तरह यह भी अपने में दिव्य एवं अलौकिक रहा, इसी कारण सम्भवतः गान्धर्व के कर्त्ता, आविष्कर्त्ता और प्रवर्तक के रूप में सदाशिव, ब्रह्मा और तत्कालीन गन्धर्व, स्वाति, नारद आदि अधिदेवताओं का उल्लेख ग्रन्थों में मिलता है[2] ।

---

1. भारतीय संगीत की प्राचीन परम्परा - डॉ0 वासुदेव शरण पृ0 - 185 "निबन्ध संगीत" - भारतीय संगीत के विकास में वैदिक गान को प्रथम युग माना जाए तो "गान्धर्व" उपवेद को विकास का द्वितीय युग कहना चाहिए ।
2. निबन्ध पृ0 - 185 इस नये संगीत - शास्त्र के आदि कर्त्ता सदाशिव और ब्रह्मा थे स्वाति और नादर इनके शिष्य थे ।

स्वयं महर्षि भरत ने नाट्यशास्त्र में इसकी पुष्टि की है[1] ।

इन उल्लेखों से संकेत मिलता है, कि वैदिक काल "साम संगीत" का युग था । साम संगीत के समानान्तर विकसित होने वाला लौकिक संगीत वाद में "गान्धर्व" कहलाया । जिसका अपना युग था अपनी शास्त्रोक्त परम्पराएं और अपने ग्रन्थ रहे होंगे, जो आज यद्यपि प्राप्त नहीं है फिर भी उनके उल्लेख प्राप्त होते हैं । अतएव संगीत के विकास की दृष्टि से "साम संगीत" प्रथम चरण है तो "गान्धर्व" को द्वितीय चरण कहा जा सकता है । जिसके सम्बन्ध में निम्न तथ्य दिये जा सकते हैं ।

(1) "गान्धर्व" का विकास साम-संगीत के क्षेत्र से बाहर लौकिक संगीत के रूप में हुआ, ऐसा अनुमान है । डॉ0 वासुदेव शरण ने इस सम्बन्ध में अपने विचार दिये हैं साम से भिन्न संगीत के शास्त्रीय नियमबद्ध रूप को गान्धर्व कहा है[2] । गान्धर्व के सम्बन्ध में डॉ0 सुभद्रा चौधरी पुनः लिखती हैं "सामगान" के साथ-साथ उससे भिन्न लौकिक संगीत का प्रयोग अवाध रूप से होता रहा । इसी साम भिन्न संगीत के शास्त्रीय नियम बद्ध रूप को "गान्धर्व" कहा गया । "साम की तरह अत्यन्त प्राचीन था[3] ।

(2) साम संगीत वैदिक युग का अपौरूषेय, अपरिवर्तनीय और पूर्ण नियमबद्ध संगीत था । अतएव सर्वसाधारण की पहुँच उस तक नहीं थी । इसी कारण धीरे-धीरे लौकिक संगीत के रूप में विकसित गान्धर्व में ही तत्कालीन "साम-संगीत" और जन-संगीत के सभी प्रचलित और सम्भावित सिद्धान्तों को व्यवस्थित करके इसकी समुन्नत और समृद्ध परम्परा को प्रतिष्ठित किया गया । जिससे यह सर्वधाधारण में समान रूप से प्रचलित हो सके । ऐसा अनुमान है ।

---

1. ना0शा0 "गान्धर्व चैव वाद्यश्च स्वातिना नारदेन" 33/3
2. निबन्ध संगीत-भारतीय प्राचीन संगीत की परम्परा पृ0-185 "वासुदेव शरण, छादोग्य शाखा के छदोग्य चरण में जिस साम-संगीत का विकास हुआ उसके क्षेत्र से बाहर एक नये प्रकार के शास्त्रीय संगीत का जन्म जनपद युग लगभग 1000 इसवी पूर्व 700 ई0पू0में हुआ । सदाशिव और ब्रह्मा इस नये युग के संगीत शास्त्र के आदि कर्त्ता कहे गये ।

(3) इसमें "साम" के आधार पर ही भिन्न-भिन्न गीत शैलियों एवं वाद्यों का अलग-अलग स्वरूप स्थिर किया गया । "जनानाम् रूचि" के अनुसार इसमें किंचित परिवर्तन करके इसे सहज, सरल एवं स्वाभाविक स्वरूप प्रदान किया गया जिससे यह संगीत सामान्य लोगों द्वारा गेय हो सके ।

(4) चूँकि यह गन्धर्वों के द्वारा गेय था इस कारण इस नये प्रकार के संगीत को "गान्धर्व" यह नाम देकर इसे सामवेद के "उपवेद" के रूप में मान्यता मिली । यद्यपि इस परम्परा के ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है, फिर भी परवर्ती विद्वानों के उद्धरणों से यह अवश्य अनुमान लगाया जा सकता है कि साम-संगीत ही अपने परिवर्तित रूप में "गान्धर्व" के नाम से प्रचलित हुआ । इसमें साम जैसी नियमबद्धता तो नहीं थी तथापि शास्त्रीय आधार "सामसंगीत" का होने के कारण "गान्धर्व" का स्वरूप बहुत कुछ साम की भाँति था[1] ।

(5) गेयता की दृष्टि से गान्धर्व की परम्परा अपने में विशाल और समुन्नत रही । इसमें गायन-वादन और नृत्य, संगीत के तीनों अंगों की पूर्णता थी ऐसा अनुमान है । साम की तरह यह भी अत्यन्त पवित्र और सनातन माना गया ।

(6) गान्धर्व में साम-संगीत के स्वर तो थे किन्तु समयानुसार उनकी संज्ञा व क्रम में अन्तर आ गया । उल्लेखों से ज्ञात होता है कि साम-संगीत के स्वरों का क्रम अवरोही था तथा कुष्ट्र, प्रथम, द्वितीय आदि इस नाम से स्वरों की संज्ञाएं थी । किन्तु "गान्धर्व" में फिर अवरोही के साथ आरोह क्रम को जोड़कर स्वरों के आरोह-अवरोह का क्रम स्थिर किया गया, साथ ही षडज और मध्यम ग्राम के रूप में ग्रामों का

---

1. निबन्ध संगीत पृ0-133 पहले साम संगीत का स्वरूप स्थिर हुआ होगा उसी के आधार पर भिन्न-भिन्न गीत प्रकार एवं वाद्यों आदि का शास्त्रीय स्वरूप स्थिर किया गया जिसे तत्कालीन विद्वानों ने गान्धर्व यह नाम दिया ।

विभाजन गान्धर्व-परम्परा में हुआ, ऐसा विद्वानों का मत है[1] । साम संगीत के जो स्वर "गान्धर्व" में प्रयुक्त किये गये उनकी संज्ञा और क्रम में परिवर्तन हो गया, जो अपने में स्वाभाविक था । और इसी कारण "यः सामगानां सः वेणोर्मध्यम" इस प्रसिद्ध उद्धरण के आधार पर स्वरों का क्रम सामने आया । यदि सामगान के कुष्ट्र, प्रथम, द्वितीय आदि सात स्वरों में से प्रथम स्वर को "माध्यम" स्वर मानकर अन्य स्वरों की संज्ञा व क्रम निश्चित किया जाए तो गान्धर्व में प्रयुक्त होने वाले स्वरों के नाम व क्रम का स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जायेगा । जैसा कि निम्न तालिका में दर्शाया गया है -

साम संगीत के प्रथम स्वर को "गान्धर्व" का "माध्यम" स्वर मानने पर निम्न स्वरावलि प्राप्त होती है -

साम स्वर	-	प्रथम	-	गान्धर्व का	मध्यम्	(म)
"	-	द्वितीय	-	"	गान्धार	(ग)
"	-	तृतीय	-	"	ऋषभ	(रि)
"	-	चतुर्थ	-	"	षडज	(सा)
"	-	पंचम	-	"	धैवत	(ध)
"	-	षष्ठ	-	"	निषाद	(नी)
"	-	सप्तम्	-	"	पंचम	(प)

---

1. "निबन्ध संगीत" गान्धर्व नाट्य और संगीत पृ0 - 333 डॉ0 सुभद्रा चौधरी-शास्त्रीय स्वरूप देते समय इन्हीं के आधार पर षडज ग्राम, मध्यम ग्राम के रूप में ग्राम विभाजन हुआ । लेकिन इसके लिए आरोह व अवरोह दोनों क्रम आवश्यक थे । इसलिए अवरोह के साथ-साथ आरोह क्रम जोड़कर साम के अवरोह क्रम को उलट दिया अर्थात् प्रथम को मध्यम द्वितीय को गान्धार और इसी क्रम से अन्य स्वरों की संज्ञाएं प्रदान की गई ..... इसलिए यः सामगानां प्रथमः सः वेर्णोमध्यम स्वर सार्थक होता है ।

इस प्रकार सामिक स्वरों का क्रम बदलकर पहले "मगरेसधनीपं" हुआ । इसके बाद इसी युग में सप्तक के सात स्वरों । स-रे-ग-म-प-ध-नी का प्रयोग व्यवस्थित रूप से होने लगा । ऐसा अनुमान किया जाता है । डॉ0 वासुदेव शरण जी का भी यही मत है[1] ।

इस युग में अनेक प्रकार की गीतों का विकास भी हुआ । गायकों को "गान्धर्व" कहा जाता था । कालान्तर में "गान्धर्व" को मार्गी संगीत भी कहा जाने लगा। "नाट्यशास्त्र" में अनेक गीतों जैसे वर्धमानक, आसारित आदि का उल्लेख किया है । डॉ0 सुभद्रा चौधरी ने अपने लेख में गान्धर्व-परम्परा की समृद्धि में जो वक्तव्य दिया है वह विचारणीय है "लेकिन श्री रामदास गौड़ ने हिन्दुत्व नामक ग्रन्थ में गान्धर्व वेद के बारे में जो उल्लेख मिलता है उसे सही माना जाय तो उससे यह सहज अनुमान होता है कि "गान्धर्ववेद में ध्वनि और उसकी शक्तियों का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है । साथ ही नृत प्रकार विधि-नृत्यों का उल्लेख इस बात को भी सूचित करता है कि गान्धर्व में नृत अथवा नृत्य का भी समावेश अवश्य किया गया होगा[2] ।

विद्वानों के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्टत: संकेत मिलता है कि भारतीय संगीत के विकासक्रम में "साम संगीत" भारतीय संगीत का प्रथम चरण है तो उसके वाद द्वितीय चरण में "गान्धर्व" की विशाल और सशक्त परम्परा रही, जिसका उल्लेख स्वयं भरत ने नाट्यशास्त्र में किया "गान्धर्वमेतत् कथितं मया हि पूर्व" इस परम्परा के प्रमुख आचार्य नारद स्वाति, तुम्बरू तथा गन्धर्व थे । यद्यपि इस परम्परा के ग्रन्थ अनुपलब्ध है किन्तु इसके उल्लेखों से "गान्धर्व" की पुष्टि की जा सकती है ।

---

1. निबन्ध संगीत भारतीय संगीत की परम्परा पृ0 - 186
   इस युग के संगीत को गान्धर्व विद्या या मार्गी संगीत कहा जाता था इसकी दो विशेषताएं थी एक तो संगीत में "स रे ग म प ध नी" इस सप्तक का व्यवस्थित प्रयोग होने लगा .... दूसरे नए मार्गी संगीत की भाषा संस्कृत थी ।

2. गान्धर्व नाट्य-संगीत-डॉ0 सुभद्रा चौधरी संगीत निबन्ध - 330

अतएव साम-संगीत विकास का प्रथम और गान्धर्व द्वितीय चरण में आता है । भरत-निर्दिष्ट "गान्धर्व" संगीत के विकास का तृतीय चरण है । जिस पर आगे प्रकाश डाला जायेगा ।

(3) संगीत की अन्य परम्पराएँ-

साम-संगीत और गान्धर्व के अलावा भी संगीत की अन्य परम्पराएँ प्रचलित रहीं होगी जो भरत को धरोहररूप में प्राप्त हुई । क्योंकि ऐसे अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनसे नाट्यशास्त्र के पूर्ववर्ती नाट्य और संगीत विषयक ग्रन्थों तथा उनके प्रणेताओं के विद्यमान होने का संकेत देते हैं ।

पाणिनीकृत अष्टाध्यायी-

इस ग्रन्थ में शिलालिन् तथा कृशाश्व जैसे प्रणेताओं का उल्लेख है जिन्होंने नटसूत्रों की रचना की । पाणिनी का यह श्लोक "उदात्त अनुदात्तगन्धारौ" सर्व श्रुत है सबसे प्राचीन उल्लेख पाणिनी की अष्टाध्यायी में है जिससे शिलालिन तथा कृशाश्व के द्वारा प्रणीत नटसूत्रों का पता चलता है[1] ।

तमिलदेश की संगीत पद्धति-

द्रविड देश में संगीत की एक अत्यन्त प्राचीन पद्धति का प्रचलन हुआ जिसमें संगीत विषयक जानकारी मिलती है जिसमें रागों को पण और तिरप कहा जाता था । के0 वासुदेव जी ने इस सम्बन्ध में लिखा है - इसके साथ द्रविड़ देश में एक

---

1 प्रदीप हिन्दी व्याख्या टिप्पणी सहितम् नाट्यशास्त्र, श्री बाबूलाल सुमन शास्त्री, भाग - 1, पृ0 - 22

अती ाचीन पद्धति उत्पन्न हुई । इस परम्परा के प्रवर्तक परम शिव स्कन्द और अगस्त्य है इस पद्धति में कई ग्रन्थ भी लिखे गये पर अब सब ग्रन्थ नष्ट हो चुके है । इस ग्रन्थों से कुछ उद्धरण पिछले दिनों के काव्य और निषट्टाओं में उपलब्ध है । इस पद्धति में रागों के नाम पण् और तिरम् है इनके लक्षण अब भी "देवार" नामक स्तोत्र में विद्यमान है[1] ।

अन्य उल्लेख-

हाथरस से प्रकाशित संगीत पत्रिका में उल्लेख मिला कि "ई0 पू0 300" में "शिलिप्पीडगारम्" में एक बौद्ध नाटक है उसमें एक ताल वाद्य के बजाने वाले का एक वांसुरी - वादक और वीणावादक व चाल वादक का वर्णन है । इसी बौद्ध-नाटक में संगीत विषयक माप, संगीतोपयोगी स्वर तथा उस समय के प्रयोग में आने वाले रागों का वर्णन मिलता है । इसमें स्वरों के वे नाम नहीं जो आज प्रचलित है किन्तु शुद्ध तमिल भाषा में है[2] ।

उपरोक्त विवरणों से विदित होता है कि भरत से पूर्व संगीत और नाट्य की अनेक परम्पराएं भारत में प्रचलित थीं तथा अनेक ग्रन्थ भी रहे हैं । जिनका आभास भरत को था । किन्तु अनुमान लगाया जा सकता है, कि भरत के "नाट्यशास्त्र" जैसे संगीत और नाट्य सम्बन्धित ग्रन्थ के निर्माण हो जाने पर तत्कालीन उल्लिखित ग्रन्थों का अन्तरभाव नाट्यशास्त्र जैसे प्रामाणित ग्रन्थ में ही हो गया । जिसके परिणाम स्वरूप तत्कालीन ग्रन्थों के उल्लेख तो मिलते हैं परन्तु ग्रन्थ अप्राप्य है । जैसे साम-संगीत और गान्धर्व इन दोनों की परम्परा भरत के गान्धर्व में व्यवस्थित हो गई। तथा अनुमान है कि "गान्धर्व वेद" जैसे ग्रन्थ का नाट्यशास्त्र में अन्तरभाव हो गया हो । यही कारण है ग्रन्थों के नाम तो है किन्तु ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है ।

---

1. संगीतशास्त्र - के0 वासुदेव पृ0 - 5
2. संगीत पत्रिका - 1939

श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री का कथन है "श्री कोनो" आदि विद्वानों का अनुमान है कि भरत के नाट्यशास्त्र के निर्माण हो जाने पर इन ग्रन्थों का अन्तर्भाव नाट्यशास्त्र में हो जाने के कारण लोप हो गया जैसे पाणिनी के पूर्ववर्ती वैयाकरणों के ग्रन्थों का अष्टाध्यायी में अन्तर्भाव होकर लोप हो गया[1] ।

निष्कर्ष-

इस प्रकार भरतकृत "नाट्यशास्त्र" से पूर्व भारतीय संगीत की विभिन्न परम्पराओं का दृष्टिपात करते हुए यह अनुमान लगाया जा सकता है कि संगीत के ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से साम-संगीत, जो कि सभी संगीत का मूल स्त्रोत है, विकास का "प्रथम चरण" था जिसे वैदिक संगीत कहा गया । सामवेद की ऋचाएं आदि जिसका स्वरूप थी । "साम संगीत" के आधार पर विकसित तत्कालीन लौकिक संगीत ही "गान्धर्व" था । विकास क्रम में "गान्धर्व" संगीत का "द्वितीय चरण" था जिसकी अपनी परम्पराएं थी अपना शास्त्र व स्वरूप था । तत्कालीन "गान्धर्व" से सम्बन्धित ग्रन्थ यद्यपि आज अनुपलब्ध हैं फिर भी संगीत के "विश्वकोष" नाट्यशास्त्र तथा परवर्त्ती विद्वानों के उल्लेखों से "गान्धर्व" की समृद्धता का पता चलता है । अतएव "गान्धर्व" ऐतिहासिक विकास क्रम में संगीत का द्वितीय युग था ।

(।) विकास क्रम की दृष्टि से भरत-निर्दिष्ट "गान्धर्व" को हम संगीत का तृतीय चरण इस दृष्टि से कह सकते हैं, क्यों कि भरत ने - "नाट्यशास्त्र" में जिस "गान्धर्व" का विवरण दिया है उसमें साम और भरतपूर्व गान्धर्व इन दोनों पर प्रकाश डाला है क्यों कि साम और गान्धर्व की विशाल और समुन्नत परम्पराएं भरत को विरासत के रूप में प्राप्त हुई जिनका उल्लेख भरत ने स्थान-स्थान पर किया है ।

यही नहीं इन दोनों संगीत की परम्पराओं के साथ-साथ महर्षि भरत के

---

1. प्रदीप हिन्दी व्याख्या स हितम् भरत नाट्यशास्त्र, बाबूलाल शुक्ल शास्त्री पृ0 - 22

स्वानुभवों का परिणाम भी "गान्धर्व" में है । यही कारण है कि भरत ने जिस गान्धर्व की चर्चा "नाट्यशास्त्र" में की है वह यद्यपि अन्तिम छः अध्यायों तक सीमित है पर अबतक के समस्त भारतीय संगीत का प्रतिनिधित्व करती है । जैसा डॉ० मुकुन्द लाट ने कहा समस्त संगीत के लिए गान्धर्व है[1] ।

(2) एक तथ्य यह भी है कि हजारों वर्ष बीत जाने पर भी आज का संगीतकार चाहे वह हिन्दू हो या मुस्लमान, चाहे वह शैक्षिक योग्यता रखता हो या नहीं, संगीत-शास्त्र के संदर्भ में गान्धर्व के कर्त्ता और आविष्कर्ता ब्रह्मा, नारद, स्वाति, तुम्बरू और गन्धर्वों आदि की अपेक्षा महर्षि भरत और उनके ग्रन्थ "नाट्यशास्त्र" का अवश्य स्मरण करता है । अभिप्राय यह है, कि भरत से पूर्व चाहे कितनी ही संगीत की परम्पराएं और शास्त्र रहे हो, संगीत के क्षेत्र में भरत - निर्दिष्ट गान्धर्व की मान्यता ही सर्वाधिक रूप से रही है ।

(3) यही नहीं भरत से पूर्व जितनी भी संगीत की परम्पराएं थी । उन सभी का प्रभाव भरत कृत संगीत बोधक सिद्धान्तों पर पड़ा । जैसा स्व० पंडित ओंकार नाथ ठाकुर ने कहा है "गौतम, कश्यप, नारद, शाडिल्य, धूर्तिल आदि के नाम साक्षी है, कि इन सबके ग्रन्थ भले ही आज उपलब्ध न हो किन्तु उनकी विशाल परम्परा थी जिसे मुनि भरत ने अपने "नाट्यशास्त्र" का आधार बनाया है[2] । इस प्रकार गान्धर्व की वृहद् परम्परा का आधार लेकर भरत ने जिस "गान्धर्व" की चर्चा की है उसमें परिवर्तन की सम्भावना का होना स्वाभाविक है । इसी कारण भरत-निर्दिष्ट "गान्धर्व" को विकास का तृतीय चरण कहा जा सकता है ।

---

1. दत्तिलम् - Introduction पृ0 - XII - For Gandharva stands for music - all music.
2. व्याख्यान माला संगीत पत्रिका मार्च 1947 ओंकार नाथ ठाकुर

(4) प्राचीनकाल से लेकर भरतकाल तक गान्धर्व (संगीत) का सम्बन्ध नाट्य के प्रमुख अंग के रूप में वर्णित किया गया। नाट्य क्योंकि मानव-जीवन की अनुकृति है इसीलिए जीवन के विभिन्न मोड़ों और विविध उतार-चढ़ाव को दिखाने के लिए गीत-संगीत का आश्रय लेना आवश्यक था, अतः उस काल में नाट्य और गान्धर्व का समान रूप से विकास हुआ इसीलिए दोनों, नाट्य और गान्धर्व को "उपवेद" या पंचमवेद" के रूप में प्रतिष्ठा प्रदान करके दोनों के महत्व को समान रूप से स्वीकार किया गया। यही कारण है कि संगीत सम्बन्धी जितने भी सूत्र या उद्धरण प्राप्त होते हैं वे सभी नाट्य के अंग के रूप में प्राप्त होते हैं जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट ने भी उल्लेख किया है[1] ।

(5) भरत ने भी इसी सिद्धान्त परम्परा से "नाट्यशास्त्र" की रचना की जिसमें उनका मूल प्रतिपाद्य विषय तो नाट्य था, किन्तु नाट्य–सिद्धि के लिए उन्होंने प्रसंगवश संगीत विषयक विचारों को लिपिबद्ध किया । यही कारण है कि 36 या 37 अध्यायों वाले नाट्यशास्त्र के अन्तिम छः अध्यायों ।(28 से 34) में संगीत का विवेचन मिलता है । कहने का तात्पर्य यह है, कि भरत काल तक संगीत की चर्चा स्वतन्त्र रूप से न होकर नाट्य के अंग के रूप में की जाती थी, जो उस काल की विशेषता थी ।

(6) लेकिन भरत- "नाट्यशास्त्र" की सर्वाधिक उपलब्धि संगीत क्षेत्र में यहीं हुई कि भरत के संगीत विषयक विचारों ने संगीत के क्षेत्र में इस विषय पर स्वतन्त्र लेखन की परम्परा को जन्म दिया । भरत के समय तक संगीत सम्बन्धी जितने भी

---

2. दत्तिलम् - डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - XIII - One use of Gandharva in ancient thealre was its employ as part of 'Pururanga' the ritual prologue to the play proper. This prologue though basically seruing a sacred function yet consisted of music and dance.

उद्धरण या सूत्र मिलते हैं वे लगभग सभी नाट्य के अंग के रूप में प्राप्त होते हैं, किन्तु "नाट्यशास्त्र" के वाद संगीत के जितने भी ग्रन्थ प्राप्त होते हैं वे नाट्य से हटकर स्वतन्त्र रूप से लिखे गये । अर्थात् भरत के संगीत बोधक सिद्धान्तों ने "संगीतशास्त्र" में स्वतन्त्र ग्रन्थों की परम्परा का सूत्रपात किया । अतएव भरत निर्दिष्ट "गान्धर्व" का अपना अलग अस्तित्व है । इसलिए भरत के गान्धर्व को संगीत का "तृतीय चरण" कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी ।

जिस प्रकार साम-संगीत का आधार लेकर "गान्धर्व" का विकास हुआ उसी प्रकार स्वाति, नारद और गन्धर्वों की इस कला का आश्रय लेकर भरत ने "संगीत शास्त्र" का स्वतन्त्र रूप से विवेचन किया जिसकी परम्परा आज तक प्रचलित है । अतएव भरत-निर्दिष्ट गान्धर्व को यदि "भरत संगीत" कहा जाए तो अधिक उपयुक्त होगा । जैसा डॉ० मुकुन्द लाट का कथन है कि "नाट्यशास्त्र" यद्यपि एक सग्रह-ग्रन्थ हैं किन्तु यह कोई नहीं जानता कि वे कौन से Sources थे जिनसे यह प्राप्त किया गया पर संगीत के शास्त्र की दृष्टि से यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में व्यवस्थित है[1] ।

इसी कारण "साम संगीत" भारतीय ऐतिहासिक दृष्टि से संगीत का "प्रथम चरण" है, तो गान्धर्व संगीत का "द्वितीय" और भरत निर्दिष्ट "गान्धर्व" संगीत का "तृतीय चरण" है जिसने संगीत क्षेत्र में एक समृद्ध, विशाल समुन्नत परम्परा को जन्म दिया, जो नाट्य आदि से हटकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है ।

---

1. दत्तिलम् - पृ० - XIII डॉ० मुकुन्द लाट - The section of 'Natyasastra' which is decuted to Gandharva---- much of the Natyasastra is a collection from other sources. We do not know the sources or source on which the section on Gandharva draws. This section of natyasastra like all its sections dealing with Independent sastric disciplines bears the stamp of the text basic plan and purpose.

द्वितीय - अध्याय

(क) भारतीय संगीत के प्रमुख आचार्य

(ख) भारतीय संगीत-शास्त्र के प्रमुख अंग

भारतीय संगीत-शास्त्र के प्रमुख आचार्य-

भरत से पूर्व के संगीत-आचार्यों एवं संगीत की विविध परम्पराओं के उल्लेख अनेक शिक्षा-ग्रन्थों एवं ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं, किन्तु वेदकाल से लेकर भरत काल तक के लगभग सभी प्रवर्तकों, आचार्यों एवं संगीत या गान्धर्व के विविध अंगों की व्यवस्थित तथा प्रमाणित जानकारी का प्राचीनतम् साधन भरत कृत "नाट्यशास्त्र" ही है । यह ग्रन्थ केवल संगीत तथा अन्य ललित कलाओं के लिए आप्त ग्रन्थ नहीं हैं अपितु इस ग्रन्थ में हमें भरत के पूर्वाचार्यों एवं समकालीन गुरूओं के भी सम्यक् उल्लेख प्राप्त होते हैं । यहाँ तक कि गान-वाद्य एवं नृत्य के कर्ता, आविष्कर्ता और प्रवर्तकों की भी जानकारी मिलती है । अतएव भरत का "नाट्यशास्त्र" इस दृष्टि से भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ है ।

गान्धर्व (संगीत) के प्रथमाचार्य-

भारतीय संगीत और साहित्य की यह सबसे बड़ी विशेषता रही है कि सबके उद्गम और विकास में स्वयं ब्रह्मा अथवा ज्ञान के अधिदेवता "महादेव" को कर्ता और प्रवर्तक माना गया है । इसी कारण नाट्य और संगीत के मौलिक सूत्रकार क्रमशः ब्रह्मा और शिव को मान्यता दी गई है[1] । सम्भवतः इसीलिए तब से लेकर आज तक शिव को नटराज के रूप में मूर्तिमन्त किया जाता है ।

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 3 डॉ0 कुकुन्दलाट - Suayambhu (The selfbom one) gave Gandharva to NARAD and other sages. Nard the duly brought it down to the earth.

(1) गान्धर्व के प्रथमाचार्य ब्रह्मा और महादेव हैं-

इन अधिदेवताओं को संगीत - नाट्य और साहित्य का प्रवर्तक मानने के मूल में यही मान्यता है, कि ये कलाएं और साहित्य मात्र मनोरंजन के साधन नहीं है, अपितु ये अपने में पूर्ण शाश्वत पवित्र और दिव्य है, जिनका उद्देश्य मनोरंजन के साथ-साथ आत्मोन्नति भी है । इसी कारण वैदिक संगीत जिसे "सामसंगीत" कहा जाता था भरत-काल में "गान्धर्व" नाम से प्रचलित हुआ । क्योंकि इसका गान करने वाले गन्धर्व, ऋषि और मुनि थे । जिन्हें ये दिव्य कलाएँ ब्रह्मा और शंकर जैसे अधिदेवताओं से प्राप्त हुई । जैसा भरत ने अपने "नाट्यशास्त्र" में पुष्टि की है "नाट्यशास्त्र" प्रवक्ष्यामि ब्रह्मणायदुहाहृतम्" अतएव भरत से पूर्व नाट्य और गान्धर्व के प्रथम[1] आचार्य ब्रह्मा एवं नृत्य के प्रसंग में भगवान शंकर को अधिकारी आचार्य माना गया है ।

विद्वानों के द्वारा अनुमान लगाया जाता है, कि उस समय "शंकर" और "ब्रह्म" की परम्परा रही हो, जो एक दूसरे से पृथक् रही । इस सम्बन्ध में श्री तुलसीराम देवांगन का मत है "उस समय शंकर और ब्रह्म की परम्परा एक दूसरे से पृथक् विद्यमान रही हो, ऐसे ऐतिहासिक तथ्य मिलते हैं .... भारतीय ग्रन्थों के अनुसार भारतीय विद्याओं के आदि प्रवर्तक पितामह ब्रह्मा, भगवान नारायण या भगवान शंकर रहे है" ।

भगवान शंकर और ब्रह्मा से इस विद्या को पृथ्वी पर विस्तार करने वाले गन्धर्व, नारद और स्वाति का उल्लेख मिलता है ।

गान्धर्वमेतत् कथितं मया वः पूर्व यदुक्तं प्रपिताभहेन[2] "गान्धर्वश्चैव वाद्यच्च

- -

स्वातिना नारदेन"[1] यथोक्तं मुनिभिः पूर्व स्वाति नारदपुष्कर[2] "नाट्यशास्त्र" के इन उद्धरणों से प्रतीत होता है कि सदाशिव और ब्रह्मा को इस युग के संगीत (गान्धर्व) का आदि कर्त्ता माना गया है । बाबूलाल शुक्ल शास्त्री के मतानुसार स्वाति और नारद ब्रह्मा के प्रथम शिष्य थे[3] । हालांकि ब्रह्मा, स्वाति, नारद आदि भरत के पूर्वाचार्यों के संबंध "नाट्यशास्त्र" ही लिपिबद्ध सामग्री का आधार है या फिर विद्वानों के अनुमानों पर निर्भर रहना पड़ता है । किन्तु यह अवश्य माना जाता है कि इन्हीं पूर्वाचार्यों से दीक्षित होकर भरत ने गान्धर्व [संगीत कला] का विस्तार भूतल पर किया ।

(2) नारद-

अधिदेवताओं से प्राप्त इस दिव्य कला का भूतल पर विस्तार करने वाले आचार्यों में प्रथम नाम "नारद" का उल्लेखनीय है । भरत से पूर्वाचार्यों की श्रृंखला में "नारद" का पर्याप्त उल्लेख ग्रन्थों में प्राप्त होता है ।

कहा जाता है, कि नारद ब्रह्मा के शिष्य थे तथा गान-विद्या के चतुर और गणमान्य आचार्य थे । हाथ में एक तारा और "करताल" लेकर गान करते हुए "नारद" के अनेक चित्रों से ज्ञात होता है कि गान-योग में "नारद" एक प्रभावी व्यक्तित्व रहा होगा । बाबूलाल शुक्ल शास्त्री के शब्दों में "इनका प्राचीन ग्रन्थ नारदीय-शिक्षा अती प्राचीन काल का ग्रन्थ है जिससे पंतजलि ने भी कुछ उद्धरण दिए हैं तथा कुछ पाठ भेद के साथ पाणिनी ने भी स्वीकारा है[4] । यद्यपि नारदीय शिक्षा के संबंध में अनेक विद्वानों का मतमतान्तर है, कुछ विद्वानों का यह मत भी है कि "नारद"

---

1. ना0शा0 - अध्याय - 33 श्लोक - 3
2. ना0शा0 - अध्याय - 34 श्लोक - 2
3. नाट्यशास्त्र हिन्दी अनुवाद सहित - बाबूलाल शुक्ल शास्त्री प्रस्तावना भाग पृ0-10 "स्वाति और नारद इनके प्रथम शिष्य थे"
4. नाट्यशास्त्र प्रदीप हिन्दी व्याख्या बाबूलाल शुक्ल शास्त्री प्रस्तावना भाग पृ0-10

नाम के कई विद्वान हुए और "नारदीय शिक्षा" का लेखक नारद ब्रह्मा के शिष्यनारद से भिन्न था । किन्तु तत्कालीन लिखित सामग्री के अभाव में केवल अनुमानों पर विश्वास करना पड़ता है ।

भरत के नाट्यशास्त्रानुसारनारद ब्रह्मा के शिष्य थे और "गान्धर्व" के मान्य और सम्मानित आचार्य थे जिन्होंने भरत से पूर्व "गान्धर्व" का गान किया । आचार्य अभिनव गुप्त पाद ने भी अपनी व्याख्या में नारद को भरत का पूर्वभावी आचार्य माना है । नारद वाद्य औरगान दोनों में प्रवीण माने जाते हैं । यदि "नारदीय-शिक्षा" ग्रन्थ इन्हीं नारद पर माना जाय तो यह ग्रन्थ अति - प्राचीन है और इसमें सात स्वरों तीन ग्राम मुर्च्छनाओं और ताल का विवरण है ।

(3) स्वाति-

संगीत शास्त्र के महत्वपूर्ण प्रवर्तक और अधिकारी के रूप में स्वाति का उल्लेख मिलाता है । नाट्यशास्त्र में हस्त-प्रहार या आघात से वादन किये जाने वाले अवनद्ध वाद्यों को बनाने की विधि के प्रवर्तक के रूप में स्वाति का उल्लेख भरत ने नाट्यशास्त्र में किया है[1] । नाट्यशास्त्र में प्रसंग मिलता है कि किस प्रकार स्वाति ने वाद्यों को बनाने की विधि ग्रहण की[2] -

---

1. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका पृ0 - 404, स्वातिर्भाण्डे नियुक्त:
2. ना0शा0 34/6,7,8,9

   पतन्तीभिश्च धाराभिर्वायुवेगाज्जलाशये

   पुष्करिण्यां पटुः शब्दः पत्राणामभवत्तदा,

   तेषां धारोद्भवं नादं निशम्य स महामुनिः

   आश्चर्यमिति मन्वानश्चाणधारितवान् स्वनम्

   गम्भीरमधुरं हृद्यमाजगामाश्रमं ततः

   ध्यात्वा सृष्टिं मृदङ्गानां पुष्करानसृजत् ततः

"नाट्यशास्त्र" के उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि मुनि स्वाति की कल्पना शक्ति अत्यन्त तीव्र थी जिन्होंने कमल-पत्र पर पड़ती हुई वर्षा की लगातार ध्वनि से पुष्कर आदि अवनद्ध वाद्य की रचना की । "पतन्तीभिश्च धाराभिर्वायुवेगाज्जलाशये"। महर्षि भरत ने अवनद्ध वाद्यों के प्रसंग में नारद और स्वाति को पूर्वाचार्य के रूप में उल्लेख किया है ।

"गान्धर्वन्यैव वाद्यन्च स्वातिना नारदेन च"[1] ।

"नारध्याश्च गन्धर्वा गानयोगे नियोजिता:[2]" ।

स्वाति के किसी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता । स्वाति और नारद ब्रह्मा के प्रथम शिष्यों के रूप में वर्णित किये जाते हैं, इन्हीं के द्वारा भरत को गान्धर्व और वाद्य की शिक्षा प्राप्त हुई ऐसा अनुमान है ।

(4) तुम्बरू-

संगीत के प्रसंग में तुम्बरू भी एक प्रसिद्ध आचार्य माने गये हैं । कहा जाता है कि ये नृत्य और संगीत के सम्मानीय ऋषि थे । प्रत्येक संगीत के अवसर पर इनका सहयोग प्राप्त रहने का उल्लेख पुराणों में मिलता है । रेचक, करण, अंगहार आदि प्रसंगों में भरत ने नाट्यशास्त्र में इनका उल्लेख किया है । विद्वानों का अनुमान है कि नन्दी की भाँति तुम्बरू भी भरत के समकालीन थे । लेकिन इनके किसी भी ग्रन्थ का उल्लेख नहीं मिलता । कहा जाता है कि ये एक गणमान्य ऋषि थे और इन्होंने "तम्बूरे" स्वरवाद्य का आविष्कार किया । शनै-शनै: यही "तम्बूरा" तानपूरे के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

---

1. ना0शा0 अध्याय-4 श्लोक-18
2. ना0शा0 अध्याय-1 श्लोक-51

[5] नान्दी या नन्दिन-

नान्दी, नन्दिन तथा जिनका अन्य नाम नन्दिकेश्वर भी माना गया है । ये भरत के ताण्डव-शिक्षक के नाम से नाट्यशास्त्र में उल्लिखित किये गये हैं । ताण्डव-शिक्षक होने के कारण उनका एक नाम तुण्डु भी था । आचार्य अभिनवगुप्त पाद ने ताण्डु शब्द नन्दी या "नन्दिकेश्वर" का पर्याय माना है । नृत्य सम्बन्धी रेचक, अंगहार, करण आदि के प्रसंग में भरतमुनि ने इन्हें "महात्मा" जैसा सम्बोधन दिया है । "नानाकरण संयुक्तान् व्याख्यास्यामि सुरेचकान् अर्थात् महात्मा तण्डु के द्वारा मुझे जो करणों तथा रेचको से युक्त अंगहारबताए गये है अब मैं उनकी व्याख्या करूँगा[1] । प्रो0 बाबूलाल शुक्ल शास्त्री ने इन्हें "नाट्यशास्त्र" के आचार्य के रूप में माना है[2] । श्री तुलसीराम देवांगन ने नन्दी को भगवान शंकर का शिष्य के रूप में भरत का नृत्य सम्बन्धी शिक्षा देने वाला शिक्षक कहा[3] है । अतएव अनुमान लगाया जाता है कि "नाट्यशास्त्र" के निर्माण में आचार्य नन्दी का भी महत्वपूर्ण योगदान रहा होगा ।

[6] काश्यप-

काश्यप भी भरत के समकालीन माने जाते हैं । आचार्य अभिनव गुप्त ने

---

1. ना0शा0 4/18 ततो वै तण्डुलम्प्रोक्तास्त्वङगाहारान् महात्मना नानाकरण सुयुक्तान् व्याख्यास्यामि सुरेचकान ।
2. हिन्दी प्रदीप व्याख्या संहित नाट्यशास्त्र श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री भाग पृ0-24 नन्दी के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ अभिनय दर्पण से इन्हें नाट्यशास्त्र आचार्य मानने में कोई कठिनाई नहीं होती ।
3. रागरागिणी वर्गीकरण पद्धति, उत्पत्ति और विकास संगीत पत्रिका 1985 नृत्य की शिक्षा भगवान शंकर आचार्य भरत को अपने शिष्य तण्डु अर्थात् नन्दी के द्वारा दिलाते हैं । "तुलसीराम देवांगन"

कोहल क समान काश्यप को भी भरत का समकालीन मानकर उनके मत को भरत मुनि के स्वमत में मिले हुए मानकर व्याख्या की है । "नाट्यशास्त्र" में स्थान-स्थान पर काश्यप और कोहल के मतों का उल्लेख किया गया है[1] । विद्वानों का अनुमान है कि "काश्यप" संगीतशास्त्र के महत्वपूर्ण व योग्य आचार्य थे । विभिन्न रसों के प्रसंग तथा विभिन्न जातियों के प्रयोग में काश्यप के मत की विशिष्टता मानी जाती है । "अभिनव भारती" में स्थान-स्थान पर "काश्यप" के मत के उद्धरण दिये गये हैं । जिनका उल्लेख किया जा चुका है ।

(7) नाट्यशास्त्र "काशी विश्वविद्यालय संस्करण" में भी भरत के पूर्वाचार्यों की नामावलि में "काश्यप" भी एक उल्लेखनीय नाम है[2] । प्रो0 बाबूलाल शुक्ल शास्त्री ने भी भरत के पूर्वाचार्यों की श्रृंखला में अनेक आचार्यों का विवरण दिया है[3] ।

इन संदर्भों से स्पष्ट संकेत मिलता है कि सदाशिव, ब्रह्मा स्वाति नारद आदि भरत के पूर्वाचार्य थे[4] । किन्तु कोहल, काश्यप, विशाखिल दत्तिल आदि भी भरतकालीन सम्मानीय आचार्य थे जिन्हें भरत के पुत्रों के रूप में मान्यता प्राप्त थी जैसा भरत ने स्वयं उल्लेख दिया है ।

---

1. ना0शा0 पृ0-19 आङ्गिरस काश्यपादिभिः मुनिभिदर्शितम्
   ना0शा0 पृ0-33 काश्यपमुनिप्रभृतिभिश्र
   ना0शा0 पृ0-69 कश्यपमुनिमतङ्गादिभि
   ना0शा0 पृ0-70 काश्यपादिभिः
2. ना0शा0 भूमिका काशी विश्वविद्यालय संस्करण पृ0-28 सदाशिव शिवा, ब्रह्मा भरत कश्यपों मुनिः मंतगो यष्टिको दुर्गाशक्तिः शार्दूलः कोहलो विशाशिवलो दत्तिलच्श कम्बलो श्चतरस्तथा वायुर्विश्वावसु रम्भार्जुननारद तुम्बुरा आञ्जनेयो मातृगुप्तो रावणो नन्दिकेश्वर स्वातिगुणो विन्दुराज क्षेत्रराजश्च शहला रूद्भटो नाम भूपालो (रूद्रसेनश्च भूपालो) भोभुवल्लस्तथा परमदीचि सोमशो जयदेवा महापतिः व्याख्यातारों भारतीये लोल्लटोमट भट्टाभिनवगुप्तौ च श्रीमत्कीर्तिधरा 5 परः

क्रमशः-- फुटनोट आगे

(8) नाट्योत्पति के प्रसंग व प्रयोग में भरत ने अपने सौ पुत्रों "पुत्रशत" का उल्लेख दिया है ।

> शाण्डिल्य चैव वात्स्यं च कोहलं दत्तिलं तथा
> प्रयोजिं पुत्रशत यथा भूमिविभागशः
> यो यस्मिन् कर्मणि यथा योग्यस्तस्मिन् संयोजितः[5] ।

उपरोक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि "नाट्यशास्त्र में भरत ने कोहल शाण्डिल्य आदि को अपने पुत्रों के रूप में स्वीकार करके उन्हें उनकी योग्यता के अनुसार स्थान दिया। अनुमान यह भी लगाया जाता है कि उन्होंने नाट्य, संगीत तथा अभिनय आदि से सम्बद्ध स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना भी की । तथा नाट्यशास्त्र के शेषांश का भी प्रणयन किया । आचार्य अभिनव गुप्त ने भी कोहल आदि को भरत के पुत्र रूप में मान्यता दी है[6] कुछ विद्वानों के अनुसार कोहल दत्तिल आदि भरत के समसामयिक स्वतन्त्र ग्रन्थकार थे ।

---

3. ना0शा0 हिन्दी प्रदीप संख्या बाबूलाल शुक्ल शास्त्री 4 पृ0-70 भरत से पूर्ववर्ती आचार्यों की श्रृंखला में अनेक आचार्यों का उल्लेख निम्न प्रकार से है "शब्दलक्षण के प्रसंग में पूर्वाचार्य, गान्धर्व के प्रसंग में स्वाति, छन्द निरूपण के प्रसंग में नारद, अगहार तथा करण के प्रसंग में तण्डु या नान्दी और मानवीय गुणों के प्रसंग में ब्रह्मचति का आचार्य के रूप में उल्लेख मिलता है ।

4. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका पृ0-396 नारदाश्च गन्धर्वा गानयोमे नियोजिताः

5. ना0शा0 हिन्दी प्रदीप व्याख्या बाबूलाल शुक्ल शास्त्री 1/26 से 402 श्लोक ।

6. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका 37/23,24
[illegible] प्रमर्तित। [illegible] तु [illegible] शाण्डिल्यप्रभृति [illegible]

कोहल-

नाट्य के अन्तिम अध्याय में कोहल भरत के उत्तराधिकारी के रूप में निरूपित किये गये हैं ।

"कोहलादिभिरेवं तु वात्स्य-शाण्डिल्य-धूर्तिले"[1] ।

किन्तु कुछ विद्वानों ने कोहल को स्वतन्त्र आचार्य माना है "रसार्णव-सुधकार" में भरत मुनि के साथ कोहल दत्तिल आदि का स्वतन्त्र नाट्याचार्य के रूप में उल्लेख किया गया है राजशेखर ने बालरामायण नाटक में कोहलाचार्य को नाट्य प्रयोक्ता के रूप में प्रस्तुत किया है[2] ।

इन सब विवरणों से स्पष्ट होता है कि कोहल भरत के अनुसार उनके शतपुत्रों में से एक थे किन्तु संगीत ग्रन्थों में कोहल विषयक विभिन्न उद्धरणों से उनका भरतमुनि की परम्परा का सर्वाधिक प्रशंसित आचार्य एवं नाट्यप्रयोक्ता के रूप में विवरण मिलता है ।

शारंगदेव के संगीतरत्नाकर, सिंह भूपाल तथा कल्लिनाथ की टीकाओं में, पार्श्वदेव के "संगीतसमयसार" आदि ग्रन्थों में दत्तिल के साथ कोहल संगीतशास्त्र के आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित किये गये हैं ।

इसके अलावा कोहल के कई ग्रन्थों का उल्लेख है जैसे कोहलतम्, "कोहल-रहस्य" कोहलीयम् आदि ।

कोहलकृत ग्रन्थों के संबंध में श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री का उल्लेख करना समीचीन होगा । यथा-मद्रास के शासकीय हस्तलिखित ग्रन्थागार में कोहल-प्रोक्त ग्रन्थ

---

1. ना0शा0 गायकवाड़सीरोज 37/24 कोहलादीभरेवं तु वात्स्यशाण्डिल्यधूर्तिलैः ।
2. ना0शा0 हिन्दी प्रदीप व्याख्या बाबूलाल शुक्ल शास्त्री पृ0-24

का तेरहवां अध्याय विद्यमान है इसका नाम कोहल रहस्य । ...... इसके अतिरिक्त कोहलाचार्य प्रणीत "कोलहतम्" नामक ग्रन्थ का उल्लेख भी विद्वान वर्ग करता है । जो बहुत अल्प मात्रा में है .... एक अन्य ग्रन्थ है "कोहलीयम्" यह ग्रन्थ लन्दन की इन्द्रिया आफिस संग्रहालय में विद्यमान है । यह ग्रन्थ ताल-पत्र पर लिखित[1] है । नाट्य शास्त्र के अधिकारी सम्पादक एच0म0म0 रामकृष्ण कवि ने कोहल को भरत से पूर्व कालीन आचार्य मानकर उनका समय ई0 पू0 दूसरी शती माना है ।

डॉ0 मुकुन्द लाट ने अपने ग्रन्थ "दत्तिल" में कोहल और विशाखिल को उच्चतम श्रेणी के आचार्यों की श्रृंखला में स्थान दिया है[2] । कोहल को चाहे भरत का पुत्र माना जाए, या भरत के समकालीन या भरत का पूर्व का आचार्य माना जाए कोहल नाट्य के विविध अंगों तथा नृत्य एवं संगीत शास्त्र के अधिकृत विद्वान और आचार्य थे जिनके उद्धरण अनेक विद्वानों के ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं ।

दत्तिल-

दत्तिल भी कोहल की भाँति भरतमुनि के समकालीन प्रसिद्ध आचार्य थे। नाट्यशास्त्र में भरतमुनि के शतपुत्रों में कोहल के बाद दत्तिल का क्रम आता है । आचार्य अभिनव गुप्त ने इनका उल्लेख संगीत कला प्रतिपादक नाट्यशास्त्र अध्याय-28 की व्याख्या में किया है । रसावर्णसुधाकर आदि ग्रन्थों में भी दत्तिल का नामोल्लेख किया गया है । "दत्तिलम्" इनका एक सुप्रसिद्ध प्राप्य ग्रन्थ है । प्रदीप हिन्दी व्याख्या नाट्यशास्त्र में उल्लेख मिलता है "म0म0 रामकृष्ण कवि ने इसके अन्य ग्रन्थ"

---

1. ना0शा0 प्रदीप हिन्दी व्याख्या बाबूलाल शुक्ल शास्त्री पृ0-24
2. "दत्तिलम्" डॉ0 मुकुन्दलाट पृ0 - 201 of the other teachers Dattila has mentioned only Kohal and Visakhil by name though he oniously must have been a long unbroken chain of teachers in mind.

गान्धर्ववेदसार का भी उल्लेख किया है[1] ।"

इस प्रकार भरतकालीन दत्तिल भी एक प्रामाणिक ग्रन्थकार थे "नृतकला" के विषय में "दत्तिल कोहलीयम्" नामक एक अप्रकाशित पाण्डुलिपि तंजौर ग्रन्थागार में विद्यमान है जिसमें नृत्यकला का विशद निरूपण है । इनके अलावा भरत के शतपुत्रों नं अश्मपुह तथा नरवकुह एवं वादरायण और शातकर्णी के उल्लेख नाट्यशास्त्र में मिलते हैं । ये सभी संगीत तथा नाट्य के सुप्रसिद्ध और प्रमाणिक ग्रन्थकार और आचार्य थे । जिनका "नाट्यशास्त्र" के निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान रहा ।

ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि मुनि भरत ने नाट्य, गान्धर्व और वाद्य आदि के प्रसंग में अपने पूर्वाचार्यों का उल्लेख तो किया ही, साथ ही अपने उन योग्य पुत्रों का भी वर्णन किया जिन्होंने "नाट्यशास्त्र" के अवशिष्ट अंश को पूर्ण करने में अपना सहयोग प्रदान किया । भरत ने अपने घोर परीश्रम व साधना के फलस्वरूप "नाट्यशास्त्र" जैसा ग्रन्थ लिखा, लेकिन निरन्तर लेखन में अशक्ति के कारण वे अन्त समय में काफी अशक्त और वृद्ध हो चुके थे । अतएव इस ग्रन्थ के अवशिष्ट भाग को अपने पुत्रों कोहल, दत्तिल आदि के द्वारा पूर्ण करवाया । जिनकी योग्यता पर भरत को पूरा विश्वास था । इसी कारण सम्भवतः मुनि भरत ने कोहल दत्तिल आदि पुत्रों का अपने समकालीन आचार्य के रूप में नाट्यशास्त्र में उल्लेख किया है ।

इस प्रकार भरत ने इस ग्रन्थ की पूर्णता में जिन-जिन आचार्यों का सहयोग प्राप्त किया उन सभी का प्रसंगानुसार उल्लेख किया, जो भरत की महती एवं विशाल दृष्टिकोण का परिचायक है । गान्धर्व और नाट्य के पूर्वाचार्यों की श्रृंखला में आदि आचार्य के रूप में शिव, ब्रह्मा, उनके शिष्यों के रूप में स्वाति नारद नन्दी एवं तत्कालीन गन्धर्व तथा अपने समसामयिक योग्य एवं प्रतिष्ठित कोहल दत्तिल, वादरायण आदि

---

1. प्रदीप हिन्दी व्याख्या - ना0शा0 पृ0-25

का उल्लेख किया । यह भी स्पष्ट किया कि नारद स्वाति आदि के द्वारा गान्धर्व के विविध अंगों (गायन-वादन और नृत्य) की शिक्षा भरत को प्राप्त हुई तत्पश्चात् उन्होंने इस ग्रन्थ "नाट्यशास्त्र" का प्रणयन किया ।

(ख) भारतीय संगीत के विविध अंग-

भरत से पूर्व संगीत की विविध परम्पराओं, इनके कर्त्ता, आविष्कर्त्ता, प्रवर्तकों और संगीत के विभिन्न अंग और उपांगों के अनेक उल्लेख पुराणों, ऐतिहासिक ग्रन्थों एवं उद्धरणों में प्राप्त होते हैं - किन्तु इन सभी को प्रामाणिक, व्यवस्थित और लिपिबद्ध सामग्री प्रस्तुत करने वाला एक मात्र प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ नाट्यशास्त्र है ।

नाट्यशास्त्र रूपी कुंजी से भरत के पूर्व तथा भरतकालीन संगीत, संगीत की परम्पराओं और संगीत के विविध अंगों के अक्षय भण्डार को विद्वानों ने खोलने का प्रयास किया है । इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र के अनुसार भरत से पूर्व संगीत के दो स्वरूप थे । एक वैदिक गान दूसरा अधिदेवताओं ब्रह्म शंकर आदि द्वारा गेय गान्धर्व ।

वैदिक गान ऋषि महर्षियों की प्रवृत्ति के अनुकूल था तथा गान्धर्व तत्कालीन जन साधारण की रूचि के अनुकूल था । आज का भारतीय संगीत दोनों परम्पराओं से बना हुआ संगीत है । भरत ने भी अपने नाट्यशास्त्र में इन दोनों प्रकार के संगीत पर प्रकाश डालते हुए तत्कालीन गान्धर्व की सैद्धान्तिक और प्रतिष्ठित व्याख्या की है । अतएव भरत प्रणीत नाट्यशास्त्र में दिए गए उल्लेखों के द्वारा तत्कालीन संगीत के विविध अंगों की जानकारी इस प्रकार की जा सकती है ।

(1) गायन-वादन और नृत्य की जिस परम्परा को हम आज "संगीत" नाम से सम्बोधित करते हैं । उसे भरत ने गान्धर्व कहा है जो उन्हें परम्परा से प्राप्त हुआ ।

﴾2﴿ "गान्धर्व" साम-संगीत के बाद दूसरे चरण का नये प्रकार का शास्त्रीय संगीत था । जिसका गायनवादन तत्कालीन गन्धर्व, अप्सरा और पहुँचे हुए ऋषि-मुनि किया करते थे इसी कारण इस विद्या को "गान्धर्व" नाम से अभिहित किया गया ।

﴾3﴿ "नाट्यशास्त्र" के अध्ययन से मुख्य तथ्य सामने आता है कि गान्धर्व यद्यपि उस समय का पूर्ण शास्त्रोक्त संगीत था किन्तु इसका प्रयोग स्वतन्त्र रूप से न होकर नाट्य के अंग के रूप में किया जाता था यही कारण है कि नाट्य और गान्धर्व का साथ-साथ विकास हुआ और दोनों ने "पंचम वेद" के रूप में प्रतिष्ठा भी प्राप्त की ।

﴾4﴿ नाट्य और गान्धर्व के सम्मिलित प्रयोग से दृश्य और श्रव्य संगीत के दो मुख्य अंग थे । दृश्य के अन्तर्गत नृत प्रधान अभिनय तथा श्रव्य के अन्तर्गत स्वर ताल और पद से युक्त गान्धर्व की व्याख्या की गई । जो आगे चलकर "गीतं वाद्य तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते" के रूप में साकार हुई । इस प्रकार भरत के मतानुसार नाट्य में स्वर, ताल, पद, नृत अभिनय सब कुछ है इसीलिए यह दृश्य व श्रव्य दोनों है ।

﴾5﴿ नृत्य प्रधान अभिनय दृश्यांश है इसलिए भरत ने नृत्य तथा अभिनय के जितने भी अंग हो सकते हैं उनका सूक्ष्म वर्णन किया । गान्धर्व पूर्णतः श्रव्य है इसलिए उसमें स्वर पद और ताल का निरूपण किया "गान्धर्व स्वर तालपदात्मकम्" ।

﴾6﴿ गान्धर्व में "स्वरांश" को प्रधान मानते हुए मानवीय कंठ को स्वरोत्पति का मूल साधन माना गया है और उसके अनुकरण पर वाद्यों का निर्माण किया गया है । "नाट्यशास्त्र" में उल्लेख मिलता है कि प्रथम ध्वनि "शारीरी वीणा" में उत्पन्न होती है उसके वाद दारवी वीणा, फिर अन्य वाद्यों में उत्पन्न किया जाता है[1] ।

---

1. ना0शा0 34/30,31

शारीयमिव वीणायां स्वराः सप्त प्रकीर्तित ।
तेभ्योविनिः सृताश्चैवमातोद्येषु द्विजोत्तमा
पूर्व शरीराद्भूतास्ततो गच्छन्ति दाखोम्
ततः पुष्करजं चैवमनुयान्ति् घनं पुनायुता ।

अभिप्राय है कि मानव ने सबसे पहले कंठ ध्वनि से अपना क्रमिक विकास किया होगा । अतएव कंठ ध्वनि से स्वर, फिर दाखी और सुषिर वाद्यों में उसके वाद फिर इनके अनुकरण पर अन्य ताल वाद्यों का निर्माण किया ।

(7) इस प्रकार गान्धर्व का मुख्य अंग प्राकृतिक रूप से निकलने वाले कंठ स्वरों को आधार मानकर व्याख्या की गई । आज भी संगीत में गीत वाद्य और नृत्य का यही क्रम है[1] ।

(8) गान्धर्व का विकास क्यों कि नाट्य के साथ-साथ हुआ । अतएव विभिन्न प्रकार के वाद्यों का विकास होने पर भी आज की भाँति स्वतन्त्र वादन को उतना स्थान नहीं दिया जाता था ।

(9) गान्धर्व में स्वर के साथ पद को शामिल करके उसे गीत का रूप दिया। जिसका अर्थ गेय पद (गीत) था ।

कालान्तर में स्वर-ताल पदात्मक स्वरूप गान्धर्व "संगीत" शब्द के रूप में प्रचलित हुआ । जिसमें भरत प्रोक्त तन्त्रीकृत "गान्धर्व" के तीनों अंगों गीत-वाद्य और नृत्य का अन्तरभाव हो गया ।

(10) इसके अतिरिक्त तत्कालीन "गान्धर्व" का एक और मुख्य तत्व "रस" था जो गान्धर्व और नाट्य से भी अधिक महत्वपूर्ण था । क्यों कि गान्धर्व और नाट्य अपने विविध अंगों से "रस" की ही अभिव्यक्ति करते हैं । इसी कारण मुनि ने स्वयं कहा है" -

"नहि रसाद्दते कश्चिदप्यर्थः प्रवर्त्तते"[2]

---

1. ना0शा0 32/378 पूर्व गान ततो वाद्यं ततो नृत्तं प्रयोजयेत्
2. ना0शा0 6/33

गीत तथा वाद्य स्वरूप गान्धर्व तथा नृत्य और अभिनय युक्त नाट्य आदि रसाभिव्यक्ति के साधन है साध्य नहीं । इसलिए रस तो सर्वाधिक रूप से महत्व पूर्ण है तथा मूल है । "तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावाव्यवस्थिताः"[1] ।

इसलिए भरत ने गीत वाद्य अभिनय आदि की भाँति रस का भी सांगोपांग वर्णन किया है ।

इस प्रकार यदि विश्लेषण किया जाए तो गान्धर्व में मूलतः स्वर पद और ताल ये तीन अंग कहे जा सकते हैं । और नाट्य के अन्तर्गत नृत तथा अभिनय आते हैं इन सभी में "रस" सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना गया है । भरत ने इन सभी अंगों का विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया है । "नाट्यशास्त्र" के विवेच्य विषय मुख्यतः रस-अभिनय और गान्धर्व हैं जिसके अन्तर्गत उपरोक्त सभी अंग समाविष्ट हैं ।

---

1. नाट्यशास्त्र 6/39

तृतीय - अध्याय

आचार्य भरत और उनका कृतित्व

भरतकृत नाट्यशास्त्र अत्यन्त प्राचीनतम कृति है । अतएव इस ग्रंथ और इसके ग्रंथकार "भरत के संबंध में विद्वानों में पर्याप्त ऊहोपोह है । यहाँ तक कि कुछ विद्वानों के मतानुसार "नाट्यशास्त्र" एक संग्रह - ग्रन्थ मात्र है तथा भरत का व्यक्तित्व भी संदिग्ध है । इसके बावजूद भरत और उसके ग्रन्थ "नाट्यशास्त्र" को संगीत, नाट्य तथा अन्य ललित कलाओं के लिए सैद्धान्तिक रूप से प्रामाणिक आधार के रूप में स्वीकार किया जाता है ।

प्रथमतः यदि "भरत" शब्द का विश्लेषण किया जाए, तो भारतीय ऐतिहासिक परम्परा में "भरत" नामधारी कई व्यक्ति प्रसिद्ध हुए हैं । यही नहीं नाट्यशास्त्र में भी कहीं-कहीं "भरत" शब्द का अभिप्राय अभिनेता, सूत्रधार आदि से लिया गया है । इस सम्बन्ध में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं -

1. हिन्दी साहित्य में दशरथ पुत्र भरत, शकुन्तला और दुष्यन्त का पुत्र भरत और मान्धाता का प्रपौत्र भरत, ये तीन प्रसिद्ध क्षत्रिय कुमार रहे हैं, जिनका सम्बन्ध राजघरानों से रहा । इनमें से किसी की भी अभियन्ता नाट्याचार्य "भरत" से सिद्ध नहीं की जा सकती ।

2. "भरत" शब्द का उल्लेख पुराणों में भी मिलता है तथा आदि भरत, जड़ भरत, "वृद्ध भरत" आदि । सम्भवतः विशेषण युक्त "भरत" शब्द का प्रयोग उपाधियों के लिए किया जाता है । अतएव इन "भरत" नामधारी उपाधियों का साम्य भी नाट्यप्रयोक्ता महर्षि भरत से नहीं लगाया जा सकता ।

3. इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में '"भरत" शब्द का प्रयोग अभिनेता, सूत्रधार और विदूषक आदि के लिए भी किया गया है "नाट्यशास्त्र" के 35 वें अध्याय में "भरतानां विकल्पनम्" आदि पद ऐसे हैं जो अनेक "भरतों" के अभिप्राय स्पष्ट करते हैं । "अतः परं प्रवक्ष्यामि भरतानां विकल्पनम्" आदि[1] ।

सम्भवतः इन्हीं का आधार लेते हुए परवर्ती विद्वानों ने अनेक "भरतों" की कल्पना करते हुए "नाट्यशास्त्र" के ग्रन्थकार "भरत" को एक काल्पनिक व्यक्तित्व तथा उनके ग्रन्थ "नाट्यशास्त्र" को एक संग्रह-ग्रन्थ के रूप में अनुमान लगाया हो। हांलाकि "नाट्यशास्त्र" के अन्तिम अध्याय में प्रक्षिप्राप्ताशं हैं, जो वाद में संग्रहीत किये गये प्रतीत होते हैं । क्योंकि गायकवाड सीरीज के नाट्यशास्त्र में 34 वाँ अध्याय (अवनद्ध अध्याय) दो है जिनमें दूसरा 34 वाँ अध्याय "भिन्नपाठक्रमः" नाम से है, जिससे अनुमान लगाया जा सकता है, कि "नाट्यशास्त्र" में प्रक्षिप्तांश का है जिसे "भिन्नपाठक्रम" से दर्शाया गया है[2] । किन्तु इतने से ही "भरत" के प्रभावी अस्तित्व एवं उनके "ग्रन्थ" "नाट्यशास्त्र" को नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि -

1. उपरोक्त "भरत" नामधारी कोई भी व्यक्ति न तो नाट्यप्रयोक्ता है और न ही इस ग्रन्थ के प्रणेता भरत । आज अनेक परम्परागत प्रसिद्ध उद्धरण और परवर्त्ती विद्वानों के साक्ष्य मौजूद हैं जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि भरत एक ऐतिहासिक और अस्तित्वशाली "व्यतित्व" था जिसने "नाट्यशास्त्र" जैसे प्रामाणिक ग्रन्थ का प्रणयन किया ।

---

1. ना०शा० गायकवाड 35/21, 23 - परं प्रवक्ष्यामि भरतानां विकल्पनम् भरताश्रयाश्च भरत ..... भाण्डग्रहोपकरणैर्नास्यं भरतों भवेत् तस्मात्। 36/35 "ऊचूस्तान् भरतान्"

2. ना०शा० पृ० - 464 - अथ चतुस्त्रिंशोऽध्याय । भिन्नपाठक्रमः

2. वैसे संगीत, नाट्य आदि के प्रयोक्ता और आविष्कर्ता के रूप में भरत का अपना ग्रन्थ "नाट्यशास्त्र" ही अपने आप में भरपूर साक्ष्य है । यद्यपि भरत के जीवन-चरित या उनके व्यतित्व से सम्बद्ध कोई भी प्रामाणिक जानकारी न तो "नाट्यशास्त्र" देता है और न ही किसी परवर्ती ग्रन्थ में प्राप्त होती है । फिर भी सूत्र शैली के इस ग्रन्थ में अनेक ऐसे उद्धरण प्राप्त होते हैं, जिनके अनुसार "भरत" एक पौराणिक व्यक्तित्व के रूप में दृष्टिगत होते हैं । जिनका सीधा सम्बन्ध "ब्रह्मा, शंकर, नारायण" आदि अधिदेवताओं से है । "नारद स्वाति" आदि उनके संगीताचार्य हैं[1] ।

3. "नाट्यशास्त्र" के ही अन्तः साक्ष्य से यह भी विदित होता है कि भरत के साथ पुत्र थे जिन्हें भरत ने नाट्य प्रयोग के लिए शिक्षित किया तथा यथा-योग्यतानुसार उन्हें भूमि विभाग सौंपे, "प्रयोजितं पुत्रशतं यथाभूमिविभागशः"[2] शाण्डिल्य, वत्स, धूर्तिल आदि उनके पुत्रों के नाम थे[3] आचार्य अभिनवगुप्त ने भरत पुत्रों को "शिष्यसुत" कहा है[4] ।

4. स्वर्ग से नाट्य का पृथ्वी तल पर उदय होना, इसके विषय तथा प्रसंगों पर प्रकाश डालते हुए प्रश्नोत्तर शैली में स्वयं भरत इन विषयों की चर्चा करते हैं[5] । इस प्रकार ब्रह्मनिर्मित "नाट्यवेद" विवरण भरत "पंचमवेद" के रूप में सेतिहास

---

1. ना0शा0 पृ0 - 394-33/23 गान्धर्वमेतत् कथितं मया वः पूर्वं यदुक्तं प्रपितामहेन ।
   1/51 नारदाद्याश्च गन्धर्वा गानयोगे नियोजिता गान्धर्वज वाद्यब स्वातिन नारदेन ।
2. ना0शा0 हिन्दी प्रदीपव्याख्या भाग-1
3. (गायकवाड) ना0शा0 37/23, 24 एवमुर्वीतले नाटयं शिष्यैः । समवतारितम् । भरतानां च वंशोऽयं .... वत्स शाडिल्य धूर्तिलेः ।
4. (गायकवाड) 37/पृ0 572 - शिष्यैर्भरतसुतै"
5. ना0शा0 गायकवाड 36/13,14,15 कथमुर्वीतले नाट्य स्वर्गान्निपतितं विभो..... कथयरच महामुने तेषां तु वचनं श्रुत्वा मुनीनां भरतो मुनिः पूर्वरङ्गविधानस्य तां च मै सन्निवोधत ।

करते हैं, जो "नाट्यशास्त्र" के रूप में हमारे सामने उपलब्ध है । इससे अधिक उनका वैयक्तिक परिचय और क्या हो सकता है ? डॉ0 शिवशरण शर्मा ने लिखा है, कि इसी से ज्ञात होता है कि भरत "नाट्यशास्त्री" प्रयोक्ता तथा अभिनेता सभी थे । नाट्यकला में तो वे पारंगत थे ही, साथ ही अन्य अनेक ललित कलाओं एवं शिल्पादि का भी उन्हें ज्ञान था[1] ।

सच पूछा जाए तो "नाट्यशास्त्र" इतनी प्राचीन कृति है जिसके अस्तित्व के लिए विद्वानों को अनुमानों का सहारा लेना पड़ा, क्योंकि "नाट्यशास्त्र" की सूत्रभाष्य शैली ही इसकी अतिप्राचीनता को प्रकट करती है । आज अनेक संगीत-ग्रन्थों में "नाट्यशास्त्र" को ईसा के वाद दूसरी या तीसरी शती का ग्रन्थ माना जाता है, परन्तु "नाट्यशास्त्र" की रचना और उसके वर्णन-शैली को देखते हुए अनेक अधिकारी विद्वानों ने इसे अति प्राचीन कृति मानते हुए इस ग्रन्थ को ईसवी पूर्व की रचना माना है । प्रो0 बाबूलाल शुक्ल शास्त्री का कथन है "भास" कवि कालिदास और अश्वघोष जैसे परवर्ती संस्कृत विद्वानों को "नाट्यशास्त्र" में वर्णित गान्धर्व, रस-भाव, प्रेक्षागृह, रूपक आदि का ज्ञान था और ऐसा प्रतीत होता है कि ये सभी नाट्यग्रन्थकार और कवि, भरत तथा उनके ग्रन्थ नाट्यशास्त्र से सुपरिचित रहे हो[2] । "भवभूति ने "उत्तररामचरितं" में भरतमुनि को गीत-वाद्य और नृत्य का "सूत्रधार" कहा है[3] । मत्स्यपुराण में "नाट्यशास्त्र" के प्रवर्तक "भरतमुनि" की चर्चा मिलती है । कवि कालिदास ने भरत एवं उसकी कृति का उल्लेख किया है[4] ।

---

1. आचार्य भरत डॉ0 शिवशरण शर्मा पृ0-5
2. प्रदीप हिन्दी व्याख्या (1) ना0शा0 प्रो0 बाबूलाल शास्त्री पृ0-25
3. हिन्दी प्रदीप व्याख्या सहित ना0शा0 पृ0-19 भवभूति ने उत्तररामचरितं में भरत मुनि को तैयत्रिक (गीतवद्य नृत्य) का सूत्रधार कहा है ।
4. भरत का संगीत - सिद्धान्त आ0 वृहस्पति पृ0 - 38 कालिदास ने भरत मुनि के नाम एवं कृति का उल्लेख किया है ।

संस्कृत कवि "भास" का समय विद्वानों ने ईसापूर्व पाँचवी शती माना है, जबकि भास के नाटकों में "नाट्यशास्त्र" के कुछ विषयों की चर्चा इस तथ्य की ओर संकेत करतो है, कि भरत मुनि और उनका ग्रन्थ नाट्यशास्त्र कम से कम ईसवी पूर्व पाँचवी शती से भी पूर्व की रचना रही होगी । इतने अधिक प्राचीन कृति होने के कारण ही इस रचना और उसके रचनाकार के संबंध में विद्वानों में मतभेद का होना स्वाभाविक है ।

"नाट्यशास्त्र" हिन्दी प्रदीप व्याख्याकार प्रो० बाबूलाल शुक्ल शास्त्री ने भरत "नाट्यशास्त्र" को पाणिनी के वाद और कवि भास और कालिदास आदि से पूर्व की रचना मानते हुए इसे ईसवी पूर्व पाँचवीं शती की रचना माना है । उनका तर्क है "और पाणिनी से 300 वर्ष वादयानी ईसा से 5 वीं शती में भरत का नाट्यशास्त्र" रचित हुआ और उस समय "नाट्यशास्त्र" इतनी अधिक लोक-प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था कि उसमें वर्णित गान्धर्व रस प्रेक्षागृह, रूपक-विभेद आदि का ज्ञान परवर्ती संस्कृत विद्वान भास, कवि कालिदास और अश्वघोष जैसे नाट्यकारों का था । इसके वाद कोई ऐसा ग्रन्थकार या आचार्य नहीं था जो इसके प्रभाव क्षेत्र में अपनी रचनाओं को सामने लाता[1] । यही नहीं भरत पर लिखी गई व्याख्या एवं टीकाओं में भरत को भी महर्षि पाणिनी की भाँति नाट्य, संगीत एवं अन्य ललित कलाओं के आदि प्रवंतक मुनि के रूप में स्वीकार किया गया है''।[1]

अतएव उपरोक्त सभी तथ्य ऐसे हैं, जो महर्षि भरत को एक प्रभावशाली व्यक्ति के रूप में प्रस्तुत करते हैं । वैसे यदि "नाट्यशास्त्र" का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए तो मुनि भरत के अस्तित्व के लिए "ग्रन्थ" से उत्तम कोई भी अन्य परिचय-पत्र नहीं मिलेगा । उनका यह ग्रन्थ न केवल भरत का बल्कि उनके पूर्वाचार्यों की (मास्टर की) है जिसका एक-एक श्लोक भरत के चतुर्दिक ज्ञान और सूक्ष्म चिन्तन

---

1. प्रदीपि हिन्दी व्याख्या सहितं ना०शा०-प्रो० बाबूलाल शुक्ल शास्त्री प्रथम मात्र प्रस्तावना पृ० - 6

को उभारकर सामने रख देता है । उनकी यह अकेली ही कृति उन्हें एक तत्वदर्शी मनीषी, त्रिकालदर्शी चिन्तक और प्रामाणिक ग्रन्थकार के रूप में प्रतिष्ठित कर देती है । आजतक कोई भी "नाट्यरचना" या संगीत आदि का शास्त्रीय ग्रन्थ ऐसा नहीं है, जो भरत को नाट्यप्रणेता के रूप में साक्ष्यों का उल्लेख न करते हो ।

भरत के परवर्ती जितने भी ग्रन्थकार मतंगमुनि, पंडित शारंगदेव नान्यदेव, नाट्यशास्त्र के प्रामाणिक टीकाकार आचार्य अभिनव गुप्त जैसे लब्ध प्रतिष्ठ ग्रन्थकारों ने महर्षि भरत को "तत्वदर्शी मुनि" के रूप में स्वीकार किया है । नाट्य के क्षेत्र में तो "आदिनाट्याचार्य" मानते हुए उन्हें महर्षि की उपाधि से विभूषित किया है । यही नहीं भरत के वाद से लेकर आजतक संगीत और नाट्य का प्रथम और प्रामाणिक ग्रन्थकार "भरत" को ही माना जाता है ।

देशी-विदेशी भाषाओं में जितनी अधिक टीकाएं, व्याख्याएं और भाष्य इस ग्रन्थकार और इसकी कृति "नाट्यशास्त्र" पर की गई, उतना सौभाग्य किसी अन्य ग्रन्थकार को नहीं दिया गया । यही अंतः साक्ष्य क्या कम है ? महर्षि भरत के प्रभावशाली व्यतित्व को स्वीकार करने के लिए ?

हाँ यह तथ्य अवश्य है कि "नाट्यशास्त्र" के अन्तिम अध्यायों में कुछ आर्याएं और पद्मात्मक विवरण अवश्य वाद में जोड़े गये प्रतीत होते हैं । जिसके लिए विद्वानों का मत है कि सम्भवतः भरत के अशक्त हो जाने पर उन्हीं के शिष्यवत् पुत्रों ने "नाट्यशास्त्र" को पूरा करने का प्रयास किया है । जैसा कि "नाट्यशास्त्र" के 37 वें अध्याय में संकेत है कि "नाट्यशास्त्र" के शेष भाग को कोहल पूर्ण करेगा"[1] ।

अतएव इस सम्बन्ध में मेरा विचार है कि महर्षि भरत के लिए चाहे

---

1. ना0शा0 गायकवाड 37/18 शेषमुत्तरमन्त्रेण कोहलस्तु करिष्यति ।

जो भी विशेषणों का प्रयोग परवर्ती विद्वानों ने किया हो अथवा उन्हें संग्रहकर्ता और उनके ग्रन्थ को "संग्रहग्रन्थ" माना हो, किन्तु अनेक ऐसे साहित्यिक और परम्परागत साक्ष्य है तथा स्वयं भरत की कृति के उल्लेख आज भी मौजूद हैं, जो भरत के प्रामाणिक अस्तित्व को नकार नहीं सकते । और सिद्ध किया जा सकता है कि महर्षि भरत ईसवी पूर्व के एक महान चिन्तन-शील "रचनाकार" और तत्वदर्शी "मनीषी" था, जिसने "नाट्यशास्त्र" जैसे "आप्तग्रन्थ" की रचना की । जिसमें नाट्य, संगीत ललितकलाओं, एवं साहित्य तथा काव्य के मूल सिद्धान्तों का ऐसा प्रस्तुतिकरण है जो शताब्दियों के चिन्तन और कठोर साधना और अनुभवों का परिणाम है । इसी कारण भरत को निर्णीत रूप से आदि नाट्य और संगीताचार्य तथा उनके ग्रन्थ "नाट्यशास्त्र" को इन सभी कला तथा विषयों का "विश्वकोष" स्वीकार किया गया । जिस प्रकार "पाणिनी" को आदि "वैयाकरण" माना जाता है । उसी प्रकार भरत नाट्य-संगीत आदि के आदि प्रवर्तक ।

भरत का कृतित्व व उनका ग्रन्थ नाट्यशास्त्र-

आचार्य भरत के कृतित्व के संबंध में केवल एक शब्द कहना ही पर्याप्त होगा, वह है **"नास्यशास्त्र"** । जिनको आधार पर न केवल नाट्य और संगीत अपितु अन्य ललित कलाओं, साहित्य और साहित्य के अवान्तर विषय जैसे काव्य-रस-छन्द और अलंकार आदि का जितनासर्वांगीण तथा विशद निरूपण इस अकेले ग्रन्थ में हुआ है, उतना विश्व के किसी भी एक ग्रन्थ में नहीं हुआ । "नाट्यशास्त्र" को यदि तत्सम्बन्धित सिद्धान्तों की "संहिता" कहा जाए तो अत्युक्ति न होगी ।

भरत के कृतित्व का अन्दाज केवल इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि परवर्ती जितने भी संगीत, नाट्य, रस, छन्द आदि के आचार्य या विद्वान हुए हैं उन सभी ने इस ग्रन्थ से प्रेरणा लेकर ही अपने ग्रन्थों का सृजन किया । यही नहीं अपनी मौलिक उद्भावनाओं एवं निष्कर्षों के प्रस्तुतिकरण के वाद भी बिना "नाट्यशास्त्र" को उपजीव्य बनाए आगे नहीं बढ़ सके ।

दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य है कि "नाट्यशास्त्र" में न केवल तत्कालीन संगीत, नाट्य, साहित्य और संस्कृति का परिचय मिलता है, अपितु भरत से भी लगभग एक हजार वर्ष पूर्व चली आ रही संगीत की अनेक परम्पराओं एवं शाखाओं का भी उल्लेख मिलता है । "यही कारण है कि आज से लगभग दो हजार वर्ष पूर्व के जन-जीवन एवं उसकी सांस्कृतिक, सामाजिक परम्पराओं का परिचय पाने के लिए आज के विद्वानों को आचार्य भरत के नाम से विख्यात "नाट्यशास्त्र" का अनुशीलन करना आवश्यक हो जाता है[1] । भारतीय प्राचीन सभ्यता संस्कृति की जानकारी हेतु "नाट्यशास्त्र" ही एक मात्र प्राचीनतम कृति है । इसी कारण भरत को "आचार्य" की उपाधि से विभूषित किया गया है । श्री प्रभुदयाल अग्निहोत्री के मतानुसार "भरत" "व्यक्ति" विशेष का नाम नहीं है । व्यास और चरक के समान यह भी "आम्नाय-विशेष" के आचार्यों की उपाधि है । यह एक चिन्तन शाखा है, जिसकी समस्त साधना का फलीभूत सार "नाट्यशास्त्र" में संकलित है[2] ।"

तीसरा तथ्य यह है कि भरत की एक मात्र कृति को "नाट्यशास्त्र" ने अपने मौलिक कलेवर से वाद में नाट्य, संगीत रस-छन्द आदि के अनेक विद्वानों को जन्म देकर भारतीय नाट्य, संगीत आदि के साहित्य को पूर्णता प्रदान की । इसी कारण इस कृति के देशी-विदेशी अनेक टीकाकार, व्याख्याकार, आलोचक, अनुवादकर्त्ता एवं ग्रन्थकार हो चुके हैं तथा इस ग्रन्थ पर निरन्तर अनुसंधान जारी है । इसी कारण वर्तमान उपलब्ध "नाट्यशास्त्र" जैसे कृतीत्व का कर्त्ता चाहे एक भरत हो या अनेक और चाहे यह संग्रह - ग्रन्थ समझा जाए परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इसके वर्ण्य-विषयों में भरत की मौलिकता है और "नाट्यशास्त्र" के रूप में भरत की देन "बहुमुखी" है ।

---

1. आचार्य भरत-प्रभुदयाल अग्निहोत्री पृ0 (द) प्रस्तावना ।
2. आचार्य भरत प्रस्तावना-द, प्रभुदयाल अग्निहोत्री ।

नाट्य-संगीत आदि कलाओं के लिए यह कृति "आदि ग्रन्थ" है ही, जिसमें तत्सम्बन्धित विषयों का सैद्धान्तिक विवेचन हुआ है, साथ ही नाट्य-संगीत आदि के प्रयोगकर्त्ताओं को सामाजिक रूप से प्रतिष्ठा प्राप्त हो, इसके लिए भरत ने स्थान-स्थान पर इसके महत्व पर प्रकाश डाला है । भरत का मत है कि "नाट्यशास्त्र" सभी शास्त्रों का निर्देशन करने वाला ग्रन्थ है -

एतच्छास्त्रं प्रणीतं हि नराणां बुद्धिवर्धनम् ।
त्रैलोक्स्य क्रियेपेतं सर्वशास्त्रनिदर्शनम्[1] ।।

यह ग्रन्थ बुद्धि वर्धन करता है । जो व्यक्ति इस शास्त्र का अनुशीलन करता है वह व्यक्ति धीतवान है क्यों कि यह शास्त्र स्वयभुव द्वारा कहा गया है ।

य इदं श्रुणुयान् नित्यं प्रोक्तं चेदं स्वयम्भुवा
कुर्यात प्रयोगं यश्चैवमथवाऽधीतवान नरः[2] ।।

नाट्यशास्त्र मंगलप्रद और ललित भाव से पूर्ण है । पुण्यवान पवित्र शुभ और पाप-विनाशक है ।

मङल्यं ललितं चैव ब्रह्मणो वदनोद्भवम्[3] ।

नाट्य प्रयोग से वही फल प्राप्त होता है जो एक वेदविद् यज्ञकर्ता, दान देने वाले व्यक्ति को प्राप्त होता है -

या गतिर्वेदविदुषां या गतिर्यज्ञकारिणाम् ।
या गतिदीनशीलानां तां गतिं प्राप्णुयद्विसः[4] ।।

---

1. ना0शा0 गायकवाड 37/25
2. ना0शा0 गायकवाड 37/26
3. ना0शा0 गायकवाड - 25
4. ना0शा0 - 37/27

दान तथा सभी धर्मों से अधिक नाट्यकर्त्ता और प्रयोगकर्त्ता का महत्व माना गया है [illegible] गन्धमाला आदि से जिस प्रकारदेवता प्रसन्न होते हैं उसी प्रकार नाट्यकार से मंगल सिद्ध होते हैं ।

दानधर्मेषु सर्वेषु कीर्त्यते तु महत् फलं
प्रेक्ष्णीयप्रदान हि सर्वदानेषु शस्यते"
तथा गन्धभाल्येन देवास्तुष्यन्ति पूजिता ।
यथा नाट्य प्रयोगस्थैर्नित्यं तुष्यन्ति मङगलै[1] ।"

इन सभी उद्धरणों से स्पष्ट संकेत मिलता है कि "नाट्य" का स्थान उस समय एक पूत, पवित्र वेद की भाँति था इसी कारण भरत ने इसे "सर्वोत्तम दान" कहा है ।

दूसरा अभिप्राय यह भी लगाया जा सकता है कि उस काल में नाट्य, नृत्त संगीत जैसी विद्याओं का स्तर बहुत ऊँचा था । सामाजिक रूप से मन में हीनता की भावना का उदय न हो इसीलिए भरत ने स्थान-स्थान पर नाट्य और संगीत के महत्व को बताया है । वैसे यहाँ भरत का वैज्ञानिक दृष्टिकोण भी दिखाई देता है, भरत का उद्देश्य संगीत और नाट्य के माध्यम से वैदिक सिद्धान्तों का प्रस्तुतिकरण सरलतम् विधि से भी करना था इसीलिए उन्होंने दृश्य और श्रव्य विद्या का उपयोग किया, क्योंकि सामाजिक जागृति और चेतना के लिए चित्रपट और दूरदर्शन जैसे दृश्य माध्यम अत्यन्त सक्षम होते हैं । इसी कारण भारत ने लोगों तक अपनी बात पहुँचाने के लिए "नाट्य" जैसा दृश्य साधन का उपयोग किया जो अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक समर्थ और सक्षम है ।

जहाँ तक दृश्य और श्रव्य विद्याओं के सैद्धान्तिक पक्ष की बात आती है "नाट्यशास्त्र अपने में प्रामाणिक काव्य नाट्य संगीत आदि के अन्तर्गत भरत की

---

1. ना0शा0 गायकवाड - 37/29, 30

इस कृति को वैसा ही महत्वपूर्ण स्थान है जैसा व्याकरण शास्त्र में पाणिनी की "अष्टाध्यायी" को । प्रभूदयाल अग्निहोत्री के शब्दों में "भारत में काव्य-शास्त्रीय चिन्तन का प्रारम्भ "नाट्यशास्त्र" में प्राप्त होने वाले एतद्विषयक विवेचन से माना जाता है। भरत केवल नाट्य और रंगमंच के आदि आचार्य ही नहीं थे प्रत्युत् काव्य आदि के भी प्रथम आम्नायकार थे[1] ।

काव्यशास्त्र सम्बन्धित विवरण भरत के गान्धर्व के तीसरे लक्षण "पद" में प्राप्त होते हैं और इसी के साथ भरत का "रसनिष्पत्ति" सिद्धान्त अपने में मौलिक है । डॉ0 शिव कुमार कृत "आचार्य भरत" की प्रस्तावना में प्रभुदयाल अग्निहोत्री इस सम्बंध में लिखते हैं "भरत का रसनिष्पत्ति का सिद्धान्त तो भारतीय दर्शन के ब्रह्मवाद के समान अखण्ड एवं शाश्वत बन गया है[2] ।" नाट्यशास्त्र का छठा अध्याय "रसाध्याय" है जिसमें रस एवं भाव के विभिन्न पहलुओं पर जितनी सूक्ष्मता से विचार किया गया उतना सम्भवतः अभी तक किसी भी ग्रन्थ में नहीं हुआ । भरत-निर्दिष्ट यह रस-सिद्धान्त एवं उसका प्रस्तुतिकरण संगीत, नाट्य और साहित्य के लिए एक अमूल्य देन है इसी कारण विद्वानों ने उन्हें रस-मीमांसा का "आदि प्रतिष्ठाता आचार्य" माना है । आज भी उनके द्वारा निर्दिष्ट मानवीय रस-भाव और संवेगों की प्रस्तुतियाँ आधुनिक मनोवैज्ञानिक परिवेश में खरी उतरती है । इस संदर्भ में प्रो0 बाबूलाल शुक्ल शास्त्री लिखते हैं । भरतमुनि ने नाट्य के संदर्भ में मानवीय संवेगों, प्रवृत्तियों तथा क्षणिक अनुभूतियों का जो मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया वह मानवमन के सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करने वाले आधुनिक मनोविज्ञान शास्त्र तथा उसकी सम्प्राप्त उपलब्धियों से आश्चर्य जनक समानता लिए हुए है[3] ।"

---

1. आचार्य भरत डॉ0 शिवुमार शर्मा - प्रस्तावना द्वारा अग्निहोत्री पृ0-"अ"
2. आचार्य भरत प्रस्तावना पृ0 - "ब"
3. हिन्दी प्रदीप व्याख्या ना0शा0 पृ0 - 66

इस प्रकार भरत के कृतित्व के संबंध में कहा जा सकता है उनकी प्रतिभा चौमुखी थी यही कारण है कि चाहे संगीत चाहे नाट्य और चाहे साहित्य का विद्यार्थी हो उसे अपने विषय के सम्यक् ज्ञान के लिए नाट्यशास्त्र का पूर्ण अनुशीलन करना आवश्यक हो जाता है ।

"नाट्यशास्त्र" के संगीत सम्बद्ध अध्याय

"नाट्यशास्त्र" के विभिन्न संस्करणों के आधार पर नाट्यशास्त्र में 36 और कहीं-कहीं 37 अध्याय है । गायकवाड ओरीयेन्टेड सीरीज नं0 145 नाट्यशास्त्र में 37 अध्याय है । प्रो0 बाबूलाल द्वारा अनुवादित हिन्दी प्रदीप व्याख्या सहित नाट्यशास्त्र में 36 अध्याय हैं ।

प्रस्तुत शोध में "नाट्यशास्त्र" के संगीत से सम्बन्धित उन्हीं अध्यायों का अध्ययन, अनुशीलन और विवेचन किया गया है जो सीधे संगीतशास्त्र से संबंध है । 28 अध्याय से 34 वें अध्यायों तक गीत एवं विभिन्न वाद्यों का सैद्धान्ति विवरण है । इस लिए इन्हीं अध्यायों के आधार पर प्रस्तुत शोध के विभिन्न अध्यायों को "आकार" दिया गया । इसके अतिरिक्त संगीत, रस, भाव आदि की अन्यान्य जानकारी के लिए नाट्यशास्त्र के प्रथम, चतुर्थ, पंचम और षष्ठ अध्यायों को भी उद्धरण प्रसंगानुसार दिये गये हैं । उपलब्ध नाट्यशास्त्र के संगीत - सम्बद्ध अध्यायों का विषयकार क्रम निम्न प्रकार से है -

28 वाँ अध्याय-

इस अध्याय को "आतोद्यविधानाध्याय" कहा जा सकता है । इसमें स्वर और ताल को व्यक्त करने वाले तत्कालीन समस्त वाद्यों का चतुर्विध वर्गीकरण है । "स्वतन्त्री" का आधार लेकर मानवीय कंठ को प्राकृतिक तन्त्रवाद्य के रूप में स्वीकार करते हुए उसे "गात्रवीणा" या "शारीरी" कहा गया है । "शारीरीवीणा" के आधार पर

काष्ठनिर्मित वीणाएं अर्थात् "दारवी" का उल्लेख है । मानवीय कंठ (गात्रवीणा) दारवी, ये दोनों वीणाएं गान्धर्व के स्वर श्रुति ग्राम मूर्च्छना आदि की अधिष्ठान है । इस अध्याय में इन वीणाओं के साथ-साथ गान्धर्व की स्वरगत विधियों का सूक्ष्म और सैद्धान्तिक विवेचन है । वादी-सम्वादी, जाति, जातिगत लक्षणों की भी व्याख्या है ।

29 वाँ अध्याय-

यह अध्याय रसाश्रित जातियों का वर्णन करता है अर्थात् किन स्वरों के द्वारा जातियों रसाश्रित की जा सकती है इसका सैद्धान्तिक विवेचन है । कंठ संगीत के स्वरा की दृष्टि से वर्ण एवं अलंकारों का विशद विवरण प्रस्तुत करते हुए Voice Culture जैसे अत्याधुनिक विषय का स्पष्टीकरण वर्ण एवं विविध अलंकारों के माध्यम से हुआ है । इसी संदर्भ में वीणावादन पर प्रकाश डालते हुए धातु-करण आदि के द्वारा वीणावादन की विधि पर प्रकाश डाला गया है । आश्रावणा, संघोटना, ताल, काल, क्रिया आदि की विशद जानकारी है ।

30 वाँ अध्याय-

यह अध्याय वांसुरी वादन की विधि पर प्रकाश डालता है ।

31 वाँ अध्याय-

यह अध्याय ताल की सर्वांगीण जानकारी प्रस्तुत करता है । चच्चतपुट चाचपुट तालों के विविध प्रकार, त्रिमार्ग, त्रिलय, ताल की जाति, मात्रा, काल आदि इस अध्याय का वर्ण्य-विषय है ।

32 वाँ अध्याय-

ध्रुवाध्याय है । ध्रुवों के छन्द, ताल प्रावेशिक, प्रासादिकी आदि ध्रुवा के पंचप्रकारों का वर्णन, गीतों में ध्रुवां का स्थान । इनमें स्वर-वर्ण आदि का उपयुक्त चयन, अलंकारों का समुचित समायोजन तथा शारीरिक भावभंगिमा और गीतों के उत्कर्ष के साथ ध्रुवा की रचना पर विवेचन है । नाट्य के संदर्भ में रस भाव-देश-काल आदि के आधार पर ध्रुवाओं के प्रयोग आदि के विवरण हैं ।

33 वाँ अध्याय-

23 श्लोकों के इस अध्याय में गायक वादकों के गुणावगुणों का सूक्ष्म विश्लेषण है यह अध्याय अपेक्षाकृत संक्षिप्त है ।

34 वाँ अध्याय-

इस अध्याय में चर्म से निर्मित ताल वाद्यों का विवेचन है । अर्थात् तत्कालीन तालवाद्य मृंदगं, पुष्कर, पणव, दुर्दुर, पटह, दुन्दभी, मुरज आदि की रचना, स्वरूप वादनविधि और प्रयोगविधि तथा इन वाद्यों के अविष्कर्त्ताओं का भी उल्लेख मिलता है ।

प्रस्तुत शोध में संगीत से सम्बन्धित इन्हीं अध्यायों का विवेचन किया गया है । इसके अतिरिक्त 35, 36 और 37 अध्यायों के प्रसंग भी यथावसर प्रस्तुत किये गये हैं । इस संदर्भ में "गायकवाड सीरीज के अभिनवगुप्त टीका सहित "नाट्यशास्त्र" को आधार माना गया है इसके अतिरिक्त चौखम्बा संस्कृत संस्थान से प्रकाशित "हिन्दी व्याख्या सहित नाट्यशास्त्र" के भी उल्लेख है । साथ ही डॉ0 मुकुन्द लाट कृत दत्तिल को भी आधार ग्रन्थ के रूप में उल्लिखित किया गया है ।

चतुर्थ - अध्याय

आतोद्य विधान

(1) भारत निर्दिष्ट आतोध-विधि, अभिप्राय, लक्षण और उसके विविध प्रयोग

(2) आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में भरत की आतोद्यविधिः

"नाट्यशास्त्र" के अध्ययन से एक तथ्य अवश्य स्पष्ट होता है कि महर्षि भरत का मूल प्रतिपाद्य विषय नाट्य था । नाट्य को पूर्णता देने तथा रसवृद्धि हेतु उन्होंने गीत एवं वाद्यों के सम्मिलित प्रयोग "गान्धर्व" का सहारा लिया । क्यों कि नाट्य-प्रयोग में दृश्यविधा की सफलता के लिए गीत एवं वाद्य परमावश्यक है । यथा -

> वाद्ये च गीते च हि सु (सं) प्रयुक्ते (तो)
> नाट्यप्रयोगे (गो) न विपक्तिमेति[1]" ।

नाट्यशास्त्र के अधिकारी टीकाकार आचार्य अभिनव गुप्त ने भी स्पष्ट किया है कि नाट्य की सिद्धि हेतु गीत एवं वाद्यों (गान्धर्व) का सुप्रयोग वांछनीय है[2] ।

इसीलिए "नाट्यशास्त्र" में गान्धर्व (संगीत) का स्वतन्त्र रूप से वर्णन न होकर नाट्य के अंग के रूप में किया गया है बल्कि नाट्य एवं गान्धर्व इन दोनों के सम्मिलित प्रयोग को स्वीकार किया है । भरत-मत से नाट्य के अन्तर्गत "नृत्त प्रधान अभिनय" और गान्धर्व के अन्तर्गत गीत एवं वाद्यों का सम्मिलित प्रयोग किया जाना चाहिए । इसीलिए भरत ने नाट्य और गान्धर्व को परस्पर अन्योन्याश्रित माना है बल्कि नाट्य, गीत और वाद्य इन तीनों अंगों का परस्पर सानुकूल और सन्तुलित समायोजन तत्कालीन नाट्यसिद्धि का कारण था अर्थात् नाट्य गीत और वाद्य ये तीनों

---

1. ना0शा0 34/309

2. ना0शा0 पृ0 - 392 - मधुरं श्रोत्रयोः । रक्तं तु नास्योपरअकम् एवं भूतं गानं प्रशस्तम् ।

एक दूसरे के सहायक रहते थे, नाट्य में पूर्णानन्द की सृष्टि भी इन तीनों के "एकीभाव" पर निर्भर थी - "एवं गानं च वाद्यं च नाटयं च विविधाश्रयं अलातचक्रप्रतिम्"[1] । भरत-मत से गीत, वाद्य और नाट्य इन तीनों में पूर्णतः सामंजस्य होना आवश्यक है। आचार्य अभिनव गुप्त की टिप्पणी है- "इदं तु गीतवाद्यं नाढ्यानां परस्परस्य विषयम्"[2] इस प्रकार गीत, वाद्य और नाट्य का परस्पर "एकीभाव" इस तथ्य की ओर संकेत करता है, कि उस समय नाट्य के अंग के रूप में गीत और वाद्यों का प्रयोग किया जाता, इसलिए इन तीनों के सामंजस्य पर ही नाट्य प्रयोगों में रसनिष्पति सम्भव थी । इसी कारण "नाट्यशास्त्र" में नाट्य और गान्धर्व अर्थात् (गीत और वाद्य) इन दोनों का महत्व समान रूप से स्वीकार किया गया है ।

किन्तु चूँकि प्रस्तुत शोध का प्रतिपाद्य विषय संगीत शास्त्र है, अतएव संगीत को दृष्टि में रखते हुए भरत निर्दिष्ट गान्धर्व (गीत और वाद्य) पर विचार करना हमारा उद्देश्य है । अस्तुः-

अतएव भरत के मतानुसार "गान्धर्व" का अभिप्राय केवल "गान" या कंठ-संगीत से न होकर गीत एवं वाद्यों का सम्मिलित प्रयोग "गान्धर्व" था । "The word Gandharwa" is amiguous. It can be a synonym of music अर्थात् आज के संगीत (गीत एवं वाद्य) का पर्याय ही तत्कालीन "गान्धर्व" था ऐसा डॉ0 मुकुन्द लाट ने लिखा है । गान्धर्व की मूलमित्ति क्यों कि स्वर है । स्वर के अतिरिक्त गान्धर्व का दूसरा पक्ष लय है जिसका प्रतिनिधित्व "ताल" करती है अतएव भरत निर्दिष्ट गान्धर्व की अवतारणा में स्वर और ताल दो मूल ˉादान है । Gandharu is a group of swarr set towards and well me-assured by tal डॉ0 मुकुन्द लॉट/पृ0 - 66

---

1. ना0शा0 गायकवाड 28/7
2. ना0शा0 गायकवाड पृ0 - 4

इसी कारण स्वर और ताल का अलग-अलग निरूपण करने के लिए महर्षि भरत ने गान्धर्व के प्रसंग में सर्वप्रथम आतोद्य - विधान की चर्चा की है जिसमें स्वर और ताल की सिद्धि कराने वाले विविध वाद्यों के विवरण है । इस संदर्भ में आचार्य अभिनव गुप्त की टिप्पणी है "सिद्धि स्वरास्तथातोद्यं गानं रङ्ग च संग्रहः इत्युक्त"[1] यही कारण है कि तत्कालीन प्रचलित स्वर और ताल को व्यक्त करने वाले सभी वाद्यों को महर्षि भरत ने "आतोद्य विधि" के अन्तर्गत रखकर गान्धर्व (संगीत) के स्वरूप की जानकारी दी है अतएव अतोद्यविधि या अतोद्यविधान से तात्पर्य स्वर और ताल को व्यक्त करने वाले वाद्यों का सैद्धान्तिक विधान ।

भरत निर्दिष्ट आतोद्यविधान-

भरतोक्त "आतोद्य" शब्द का यदि विवेचन किया जाए तो "आतोद्य" शब्द आ उपसर्ग, तुद् धातु में व्यत् प्रत्यय से बना है, आ+तद् (प्रेरणे) + व्यत् = आतोद्य । इसका भावार्थ है अंगुली गज, मिजराफ या किन्हीं दो वस्तुओं के आघात करने पर ध्वनि उत्पन्न करने वाला माध्यम । अतएव "आतोद्य" नाद उत्पत्ति का एक साधन या वाद्य है । इस प्रकार भरत-कालीन "आतोद्य" शब्द को आधुनिक संगीत में प्रचलित "वाद्य" का समानार्थी माना जा सकता है ।

भरत ने अट्ठाइसवें अध्याय के प्रथम श्लोक में उल्लेख किया है, "तत् विनद्ध, धन और सुषिर लक्षणों से युक्त चार प्रकार के आतोद्य जनों"[2] । अतएव

---

1. ना0शा0 - पृ0 - ।
2. ना0शा0 28/1

ततं चैववनद्धं च धनं सुषिर एव च ।
चतुर्विध तु विज्ञेयमतोद्यं लक्षणन्वितम् ।।

नाट्यशास्त्र में "आतोद्य" से अभिप्राय तत्कालीन गान्धर्व में प्रयोज्य वे सभी प्रकार के वाद्य, जो स्वर एवं ताल को व्यक्त करते हों, जिनका प्रचलन उस समय नाट्य एवं गान्धर्व के अन्तर्गत हुआ करता था । "नाट्यशास्त्र" में स्थान-स्थान पर "आतोद्य" शब्द का प्रयोग वाद्यों के अर्थ में किया गया है ।[1]

यही नहीं मानवीय "कंठ" भी स्वयं में एक स्वरोत्पादक वाद्य है।अतएव मानवीय कंठ भी भरत की दृष्टि में एक तन्त्रवाद्य या ततातोद्य था जिसे भरत ने शारीरी या "गात्रवीणा" की संज्ञा दी है । इन सभी वाद्यों के चतुर्विधि वर्गीकरण की मान्यता उस समय भरत-संगीत में थी[2] "आतोद्य" शब्द ही आधुनिक संगीत में "वाद्य" के रूप में प्रचलित हुआ ।

महर्षि भरत ने गान्धर्व (संगीत) की अवतारणा में प्रथम स्थान आतोद्य को दिया । बल्कि "नाट्यशास्त्र" के 28 वें अध्याय में गान्धर्व की शुरूआत ही "आतोद्यविधि" से की गई है । "अब मैं आतोद्यविधि प्रारम्भ करता हूँ"[3] । अतएव स्पष्ट है कि "आतोद्य" का अभिप्राय "वाद्य" से है । "आतोद्य" के इसी अर्थ को भरत के परवर्ती सभी ग्रन्थकारों ने स्वीकार किया है । यही नहीं भरत के माननीय टीकाकार आचार्य अभिनव गुप्त ने भी "आतोद्य" का अर्थ वाद्यों से लिया है । "नाट्यशास्त्र" के 34 वें अध्याय के प्रथम श्लोक में आए "ततवाद्यविधानं" के लिए "आतोद्य" शब्द

---

1. ना0शा0 28/8
   यत्तु तन्त्रीकृतं प्रोक्तं नानातोद्य समाश्रयम् ।
   34/2 - सर्वलक्षणसयुक्तं सर्वातोद्यविभूषितम् ।
   11/10 ईदृशेषु हि कार्येषु सर्वातोद्यानि वादयेत् ।
   11/29 स्वरवानपि विज्ञेयोनानातोद्य समाश्रयम् ।।
2. ना0शा0 28/1 ततं चैवावनद्धं च घनं सुषिरमेव च
   चतुर्विध तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम् ।
3. ना0शा0 28/पृ0 - 1
   आतोद्यविधिमदानी वक्ष्यामः

का प्रयोग किया है[1] इसी प्रकार अन्य वाद्यों के लिए भी "आतोद्य" शब्द का प्रयोग है । इन संदर्भों से स्पष्टतया विदित होता है कि भरत - निर्दिष्ट "आतोद्य" आधुनिक प्रचलित वाद्यों का पूर्वनाम है । तत्कालीन प्रचलित स्वर और ताल को व्यक्त करने वाले सभी वाद्यों के स्वरूप, आकार-प्रकार और प्रयोगविधि के अनुसार भरत ने वाद्यों को चार वर्गों में विभाजित किया । इसी आधार पर भरत ने सभी वाद्यों के सैद्धान्तिक और व्यवहारिक विवरण दिये हैं - यथा -

ततं चैवावनद्धं च धनं सुषिरमेव च
चतुर्विध तु विज्ञेयमातोद्यं लक्षणान्वितम्[2] ।

अर्थात् तत-अवनद्ध-धन और सुषिर इनचार वर्गों में सभी प्रकार के वाद्य समाविष्ट हो जाते हैं । सम्भवतः इन वाद्यों के सैद्धान्तिक और प्रायोगिक विवरण ही भरत की "आतोद्यविधि"[3] है, जिसमें उन्होंने चार प्रकार के वाद्यों का अलग-अलग विवेचन किया है यथा -

(1) तत् वाद्य या ततातोद्य—जिन वाद्यों में स्वरोत्पति स्वरतन्त्रियों द्वारा की जाती है वे सभी वाद्य "ततातोद्य" कहलाते हैं । इसके अन्तर्गत भरत ने अपनी सूझ-बूझ से ईश्वरीय प्रदत्त वाद्य मानवीय कंठ और तत्कालीन वीणाओं को लिया है । जिसे उन्होंने शारीरी या गात्रवीणा और लकड़ी से बनी "दाखीवीणा" कहा है । इन दोनों प्रकार की वीणाओं "मानवीयकंठ" या गात्रवीणा और "दारवी वीणा" में स्वरोत्पत्ति क्यों कि "स्वरतन्त्री" से होती है इसलिए सभी वीणाऐं "ततातोद्य" के अन्तर्गत मानी गई है । आधुनिक सितार, तानपुरा सरोद आदि वाद्य भी तत् वाद्य के अन्तर्गत माने

---

1. ना0शा0 34/टिप्पणी पृ0 - 403 ततातोद्यविधिस्त्वेछा:
   ना0शा0 28/पृ0 - 5 नानातोद्यनिरूपणसमाश्रयं
2. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका 1964 - 28/1
3. विज्ञेयमातोद्यं लक्षणन्वितम् - 28/1

जायेंगे । इन "ततातोद्य" का मूल उद्देश्य स्वरोत्पति और स्वर-संगीत करना है । अतएव गान्धर्व के स्वर-पक्ष के लिए शारीरी वीणा (मानवीय कंठ) और दारवी वीणा मूलाधार थीं[1] ।

(2) अवनद्ध - गान्धर्व की अवतारणा में दूसरा महत्वपूर्ण तत्व लय है । लय को व्यक्त करने के लिए अवनद्धातोद्य अर्थात् लय और ताल को दिखाने वाले वे सभी वाद्य जिनमें स्वरोत्पत्ति चमड़े से मढ़े हुए वाद्यों से की जाती है । यानी तालवाद्य जैसे पुष्कर, दर्दुर मृदंग आदि[2] तथा आधुनिक तबला, परवाबज आदि ।

(3) घन - ताल के लिए प्रयुक्त किये जाने वाले दूसरे प्रकार के वे वाद्य जो कांस्य, लोहा आदि धातुओं से निर्मित किये जाते हैं । जैसे - झांझ, मंजीरे आदि। अवनद्ध और घन वाद्यों का प्रयोग यद्यपि तालार्थ किया जाता था । किन्तु अवनद्ध वाद्य विशुद्ध तालगत वाद्य थे जबकि घन वाद्यों का प्रयोग गान्धर्व के अलावा नाट्य में भी किया जाता था । जैसा अभिनव गुप्त ने लिखा है[3] ।

(4) सुषिर- चौथा वर्ग उन वाद्यों का है जिनमें स्वरोत्पत्ति फूंक द्वारा की जाती है । जैसे वंशी, मुरली और आधुनिक शहनाई क्लोरेनेट आदि ।

इस प्रकार महर्षि भरत ने गान्धर्व की अवतारणा में स्वर और ताल से सम्बन्धित सभी वाद्यों के लक्षणों के विवरण यथा स्थान दिये है । वाद्यों के इसी विभागीकरण को भरत ने "आतोद्य-विधान" कहा है ।

---

1. विज्ञेयमातोद्यं द्वयधिष्ठानाः स्वराः वैणाः शारीराश्चेचि - 28/12
2. विज्ञेययातोद्यं चर्मनद्धानि हातोद्यानि ...... त्रिपुष्कराद्यानि ह्यवननद्धीमिति 34/23
3. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका पृ0 - 2
   तालभागे तु घनावनद्धयो निर्विशपदाशे ध्रुवाध्यायस्योययोगः ।

भरत निर्दिष्ट इस "आतोद्य-विधान" के आधार पर टीकाकार अभिनव गुप्त ने भी स्वर और ताल वाद्यों का वर्गीकरण किया है जो अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त तथा व्यवहारिक है । उन्होंने भरत के चतुर्विध वर्गीकरण के स्थान पर वाद्यों के दो वर्ग बनाए यथा ततातोद्य और अनवद्ध । "ततातोद्य" के अन्तर्गत सभी प्रकार के स्वर-वाद्य सम्मिलित किये गये और अवनद्ध के अन्तर्गत सभी प्रकार के ताल वाद्य। अभिनव गुप्त ने सुषिर और घनवाद्यों को पृथक् न मानकर उनका अन्तर्भाव क्रमशः तत् और अवनद्ध के अन्तर्गत किया है । अर्थात् सुषिर और वीणा आदि को स्वरवाद्य मानते हुए इन्हें "ततातोद्य" की श्रेणी में रक्खा है[1] ।

धातुओं से बने घन वाद्यों को अभिनव गुप्त ने नाट्य में प्रयुक्त किये जाने वाले "शुष्क वाद्य" कहा और इन वाद्यों को अवनद्ध वाद्यों के अन्तर्गत स्वीकार किया[2] । इस प्रकार कंठ, वीणा और सुषिर आदि तन्त्रीगत वाद्यों को अभिनव गुप्त स्वरवाद्यों की श्रेणी में और अवनद्ध और घन वाद्यों को "तालवाद्यों" की श्रेणी में रखते हैं ।

इस प्रकार भरत निर्दिष्ट तत सुषिर - घन और अवनद्ध वाद्य चार प्रकार के थे । जिन्हें अभिनव गुप्त ने तत् और अवनद्ध इन दो वर्गों में समाविष्ट किया। सच पूँछा जाए तो गान्धर्व (संगीत) के स्वर और ताल की पूर्ण अभिव्यक्ति इन दो वर्गों से हो जाती है[3] ।

भरत के परवर्ती जितने भी ग्रन्थकार हुए उन सभी ने भरत निर्दिष्ट "आतोद्य" विधान का आधार लेकर वाद्यों के वर्गीकरण किये हैं लेकिन उन सभी वर्गीकरणों में अभिनव गुप्त का "ततवनद्ध" वर्गीकरण स्वर और तालकी दृष्टि से

---

1. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका पृ0 - 2 सुषिरस्य स्वरात्मकत्वेऽपि तदनन्तरं तस्यानभिधानमिति चेन्म

2. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका पृ0-2 "धातुवाद्येशेषशुष्कप्रकृतिकत्वाच्चावनद्दय"

3. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका पृ0 - 2
"तत्र चतुर्विधमप्यातोद्यं स्वरतालप्राधान्याद्द्विविध कृतं ततमवनद्धं चेति"

अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है क्यों कि इस वर्गीकरण में सभी प्रकार के वाद्यों की आवश्यकताएं पूर्ण हो जाती है ।

स्वर और लय या ताल गान्धर्व (संगीत) के मूल उपादान है, किन्तु महर्षि भरत ने गान्धर्व के प्रसंग में इनकी चर्चा न करके सर्वप्रथम आतोद्य (वाद्य) और आतोद्यविधान की सैद्धान्तिक जानकारी दी है, क्यों कि भरत की दृष्टि में आतोद्यों (वाद्यों) की प्रयोगविधि पर ही गान्धर्व (संगीत) की अवतारणा की जा सकती है । इसीलिए "नाट्यशास्त्र" में प्रत्येक वाद्य के स्वरूप आकार-प्रकार, और प्रयोग विषयक सिद्धान्तों का विशद विवेचन मिलता है, जो भरत निर्दिष्ट "आतोद्य-विधान" है ।

यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से सामने आता है कि "गान्धर्व" या संगीत की मूलभिति क्योंकि स्वर व लय है । भरत ने स्वर की अपेक्षा आतोद्य (वाद्य) को ही क्यों प्रधानता दी ? या गान्धर्व की उत्पत्ति में मूल कारण आतोद्य (वाद्य) को क्यों स्वीकार किया ? इस विषय में यह माना जा सकता है, कि भरत ने गान्धर्व की अवतारणा में सर्वप्रथम "आतोद्य-विधान" का उल्लेख इसलिए किया क्यों कि गान्धर्व या संगीत की उत्पत्ति में वस्तुतः वाद्य या आतोद्य ही मूल कारण है- क्यों कि गान्धर्व (संगीत) की उत्पत्ति सर्वप्रथम मानवीयकंठ से हुई है और कंठ ईश्वर-प्रदत्त एक प्राकृतिक आतोद्य है जिसकी संरचना एक खोखले वाद्य की तरह है । किसी भी प्रकार की ध्वनि या स्वरोंत्पत्ति का "मानवीय कंठ" ही सबसे सरल सहज और वैज्ञानिक माध्यम रहा । यहाँ तक कि मानवीय सभ्यता के क्रमिक विकास में सर्वप्रथम "आदिमानव" ने अपने कंठगत ध्वनि और स्वरों को पहचानकर उसका उपयोग विभिन्न प्रकार से किया होगा और गान्धर्व या संगीत की शुरूआत भी इसी वाद्य से हुई । ये तथ्य ऐसे हैं जिन्हें नकारा नहीं जा सकता ।

अतएव गान्धर्व (संगीत) के स्वरों को निर्धारित करने वाला सबसे पहला प्राकृतिक आतोद्य मानवीय कंठ है । महर्षि भरत ने मानवीय कंठ की इसी क्षमता को अनुभूत करते हुए स्वरोत्पत्ति के लिए मानवीय कंठ को एक आतोद्य या तन्त्रवाद्य

स्वीकार किया । शरीरस्थ इसी कंठ से गान्धर्व के स्वर सम्बन्धित सभी क्रियाएं पूर्ण की जाती है । यह एक वैज्ञानिक तथ्य है । इसीलिए भरत ने मानवीय कंठ को एक सम्वेदन-शील वीणा के रूप में मान्यता दी है जिसे भरत ने "गात्रवीणा" या शारीरी वीणा कहा है । गान्धर्व की अवतारणा में भरत ने गात्रवीणा (कंठ) और लकड़ी से वनी वीणाओं (दाखी) का उल्लेख किया है । यथा- "द्वयधिष्ठानाः स्वराः वैणाः शारीराश्रेति"[1] अर्थात् स्वर के अधिष्ठान के लिए वीणा (दाखी) और शरीरी (मानवीय-कंठ) आवश्यक है । इस प्रसंग में अभिनव गुप्त ने अन्य आचार्यों की भी टिप्पणियाँ दी हैं[2] । स्वयं अभिनव गुप्त ने भी शरीरस्थ कंठ की उपादेयता को किसी सीमा तक स्वीकार किया है[3] ।

स्पष्ट है, कि न केवल भरत ने बल्कि अन्य सभी आचार्यों ने स्वरोत्पत्ति के लिए मानवीय कंठ को मूल और आदि साधन के रूप में मान्यता दी है । वैज्ञानिक दृष्टि से भी मानवीय कंठ एक खोखली नली है जिसके अन्दर स्वरतंत्रियाँ प्राकृतिक रूप से विद्यमान रहती है तथा हमारा मेरूदण्ड (Vertebra) उसका आधार है । जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट ने उल्लेख किया है । "मानवीय कंठ" स्वरोत्पत्ति की मूल तन्त्री है इसी का आधार अन्य वीणाओं को दिया गया है । A mand made vina is compared to the God created human body....

---

1. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका - पृ0 -
2. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका - पृ0 - 8 28/12
   वीणा शारीरिका चैवाचार्यैनिर्दिष्टा
3. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका - पृ0 - 2 "गान्धर्वेऽपि (हि) प्रयोक्तु फलमिति तदनुसारेण शरीरप्राधान्यं फले दर्शितम्" अभिनव गुप्त

इनके मत से भी मानवीय कंठ ही मूल स्वरोत्पादक चन्त्र है[1] ।

इसी कारण महर्षि भरत ने गान्धर्व के स्वरांश प्रधान होने के कारण ही कंठ को शारीरी "या गात्रवीणा" के रूप में एक प्राकृतिक आतोद्य माना है । कंठ चूँकि अन्य सभी तन्त्रीवाद्यों से अधिक सम्वेदनशील और सहज है । गान्धर्व की प्रथम क्रिया यानी ध्वनि उत्पत्ति का प्रथम माध्यम मानवीय कंठ है । इस वाद्य की आवश्यकता और उपयोगिता की आपूर्ति हेतु वाद में वंशी और वीणा जैसे स्वरोत्पादक वाद्यों का निर्माण करने का क्रम बना । अतएव स्वरोत्पत्ति के क्रम में कंठ के साथ-साथ वीणा और वंशी की भी मान्यता रही है[2] ।

अभिप्राय है कि स्वर का मूल स्थान मानवीय कंठ है गान के क्रम में कंठ से ही अभिव्यक्ति होती है । "आचार्य अभिनव गुप्त के मतानुसार" कंठ स्वर के समान ही वीणा और वंशी ये दोनों भी स्वर की अभिव्यति के कारण बनते हैं[3]। अतएव जहाँ कहीं वंशी की चर्चा न करके केवल कंठ और वीणा का उल्लेख हुआ है वहाँ वंशी के स्वरों को भी कंठ में समन्वित मान लेना चाहिये - क्योंकि वंशी से निर्गत स्वरों में कंठ का भी अधिकाधिक योगदान रहा करता है । इस प्रकार भरत ने संगीतात्मक दृष्टि से गान्धर्व के प्रसंग में मानवीय कंठ गात्र वीणा (प्रकृतिप्रदत्त आतोद्य) और दारवीवीणा को स्वरोत्पत्ति का मूल उपादान स्वीकार करते हुए वंशी को इन वाद्यों का सहयोगी वाद्य के रूप में मान्यता दी है । और इसी कारण वंशी

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 71 डॉ0 मुकुन्द लाट - There is long passage where man made vina is compared to the God created human body. Just as the human body had a sira (head) similarly does the vina have one. Just as the body possesses a belly, similarly does the vina have an ambhana (sound box) the string of the vina correspond to the fingers.
2. ना0शा0 अभि0 गुप्त 28/10 अस्य योनि भेवेल्दानं वीणा वंशस्तथैव च
3. ना0शा0 पृ0 - 7 टीकाकृतु गानं प्रधानं तदुपकारकौवीणावंशाविति ।

या सुषिर वाद्यों के स्वरूप, वादन विधि आदि के लिए एक पृथक् अध्याय का निर्माण किया है ।

इस प्रकार गान्धर्व या संगीत के स्वरों की अवतारणा में क्रमशः मानवीय कंठ, वीणा और वंशी जैसे प्राकृतिक और अप्राकृतिक (आतोद्यों) वाद्यों को स्वीकार किया है । आज तक ये तीनों वाद्य "स्वराशप्रधान" वाद्य माने जाते हैं गायकों के साथ वंशीवादक और वीणावादक का रहना रससिद्धि की दृष्टि से आवश्यक है[1] ।

इस प्रकार गान्धर्व की शुरूआत में आतोद्य और आतोद्य विधि का विवेचन भरत की मौलिक और वैज्ञानिक सूझ-बूझ का परिचायक है । गान्धर्व की स्वरविधि के लिए कंठ, वीणा और वंशी का समायोजन एक सार्वभौमिक तथ्य है । यथा -

"अस्य योनिर्भवेग्दानं वीणा वंशस्तथैव च" यही भरत की स्वर निकास का मूल सिद्धान्त है ।

गान्धर्व के स्वर निकास के संबंध में भरत के टीकाकार अभिनव गुप्त के मत को भी जानना आवश्यक है । अभिनव गुप्त स्वरोत्पत्ति के प्रसंग में यद्यपि शारीरी (मानवीय कुंठ) और दारवी, दोनों प्रकार की वीणाओं को महत्व देते हैं क्यों कि शब्दोच्चारण में शरीर रूपी वीणा ही एक माध्यम है[2] । फिर भी स्वर-प्रसंग में शारीरी वीणा से अधिक दारवी वीणा का महत्व अभिनव गुप्त अपेक्षाकृत अधिक मानते हैं । जहाँ गात्रवीणा (कंठ) में एक वार में एक ही स्वर की उत्पत्ति होती है वहाँ वीणा (दाखी) पर एक से अधिक अंगुलियों के आघात से कई स्वर उत्पन्न किये जा सकते हैं ।[3]

---

1. ना0शा0 28/4 गायन सपरिग्रहः । वैपन्चिको वैणिकश्च वंशवाद-स्तथैव च ।
2. ना0शा0 प्रथम अध्याय श्लोक - 10
   दारूणोऽपत्यं वीणा वाग्रूपा भगवतीति दाखी ..... एवं शरीरे वीणा वाग्रूपा हि सरस्वती वीणाशब्देनोच्यते"
3. ना0शा0 पृ0 - एवं हि निर्यामतपीडितं त्र्यङगुलिसमीभिघातोत्थित शब्दानन्तरं

इस प्रकार अभिनव गुप्त के मतानुसार शारीरी (मानवीय कंठ) की अपेक्षा दारवीवीणा स्वरोत्पत्ति में अधिक सक्षम है फिर भी स्वरों के लिए शारीरी और दारवी दोनों प्रकार की वीणाओं का महत्त्व वे स्वीकार करते हैं[1] । महर्षि भरत की भाँति वंशी को अभिनव गुप्त ने स्वर का कारण माना है "नत्वेवं वंश इति ततातोद्यस्यैव प्राधान्यम्"[2] ।

अभिप्राय है कि स्वरोत्पत्ति के प्रसंग में महर्षि भरत और अभिनव गुप्त दोनों ने ही शारीरी (मानवीय कंठ) दारवी (लकड़ी से निर्मित वीणा) और वंश (वंशी) इन तीन वाद्यों को मूलसाधन मानकर उन्हें "ततातोद्य" यानी तन्त्रीकृत आतोद्य के अन्तर्गत स्वीकार किया है । ततातोद्य या तन्त्रीकृत - आतोद्य से इन दोनों आचार्यों का अभिप्राय वे सभी स्वरवाद्य जो स्वरोत्पत्ति और स्वर-संगीत के पूर्णतः अनुकूल हों । इन वाद्यों का मूल उद्देश्य स्वरलाभ है । अतस्तातोद्यस्यैव प्रथममभिधानं, स्वाराणामिति तत्रैव स्वरलाभ इत्युक्तम्[3] ।

गान्धर्व या संगीत के लिए क्यों कि प्रथम स्वर की आवश्यकता है इसीलिए ततातोद्य या तन्त्रीकृत या तत् वाद्यों को संगीत में प्रथम स्थान दिया जाता है "प्रथममभिधानं"। स्वरों की प्रधानता के कारण ही गान्धर्व या संगीत में गीत या गान को महत्त्व दिया गया है । इसीलिए भरत ने स्वर प्रधानांश वाद्यों को "ततातोद्य" यानी तन्त्रीवाद्यों के अन्तर्गत रखकर इन वाद्यों का, इनकी विधियों (Techniques) का विस्तार से निरूपण किया ।

---

1. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका - पृ0-2 "इहापि पूर्वं वेणाः एव स्वराः उद्दिश्यन्ते द्वयधिष्ठानाः स्वराः वैशाः शारीराश्चेति"
2. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका - पृ0 - 1
3. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका पृ0 - 2

स्वर के साथ गान्धर्व का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व लय है जिसका प्रतिनिधित्व विभिन्न तालों द्वारा किया जाता है । और जिसका मूल स्त्रोत अवनद्ध और घन जैसे आतोद्य हैं । गान्धर्व और नाट्य में प्रयुक्त होने वाले जितने भी तालगत वाद्य है उन्हें अवनद्ध और घन वाद्यों की श्रेणी में स्वीकार किया[1] पुष्कर, दर्दुर, मृदंग, पणव, महाघट आदि चमड़े से मढ़े हुए वाद्य ताल दिखाने के लिए है[2] इस प्रकार गान्धर्व के स्वर और ताल का निरूपण तत्सम्बन्धित वाद्यों (आतोद्य) द्वारा किया ।

अतएव गान्धर्व के प्रसंग में सर्वप्रथम आतोद्य और अतोद्यविधान की चर्चा महर्षि भरत की उदात्त प्रतिभा और भौतिक सूझ-बूझ की परिचायक है । वे जानते थे कि गान्धर्व (संगीत) में गान या गीत का प्रमुख स्थान है[3] और जिसकी उत्पत्ति का एक मात्र आदिम स्थान मानवीय शरीरस्थ कंठ है, जो स्वयं में एक प्राकृतिक और संवेदनशील वाद्य है, जिसमें ध्वनि की अनुभूति, निकास और उच्चारण के प्रकृति प्रदत्त साधन हैं तथा जिसका आधार बिन्दु शरीरस्थ मेरूदण्ड (Vertebra) है । इसी में कंठ एक खोखली नली है । जिसमें स्वरोत्पत्ति के लिए प्राकृतिक स्वरतन्त्रियाँ बनी हुई है । इसीलिए महर्षि ने प्राकृतिक आतोद्य (मानवीय कंठ) को गात्रवीणा या शरीरी वीणा के रूप में उल्लेख करते हुए इस वीणा को गान्धर्व की अवतारणा का प्रथम वाद्य स्वीकार किया । यही वाद्य वस्तुतः संगीत के समस्त क्षेत्र का निर्धारण भी करता है फिर इसकी आवश्यकता और उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए अन्य वाद्यों का विकास हुआ । इस संदर्भ में दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य यह है, कि गायन यह कंठ संगीत

---

1. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका - 28/2
2. श्रेययवनद्धं तु पौष्करम् । घनं तालस्तु विज्ञेयः"
   " " पृ0 - 3 अद्यावनद्धशशीमाह मार्दङ्किक इत्यादि'
3. ना0शा0 पृ0 - 6 ननुगान इवमुख्यतया श्रोतृनिष्ठं"

की मधुरता सानुकूलता और प्रभावीपन के लिए वीणा (दाखी) और सुषिर वाद्यों को भरत ने सर्वाधिक उपयुक्त "तन्त्रीकृतातोद्य" का उल्लेख किया है[1] । अर्थात् तन्त्रीकृत आतोद्य के अन्तर्गत वीणा और वेणु जैसे वाद्य गान्धर्व के स्वर-पक्ष को और अधिक प्रिय बनाते हैं । यही कारण है कि हमारे यहाँ गायन की संगति के लिए तन्त्रीवाद्य तानपूरा, वीणा, वायलिन, सारंगी और बाँसुरी का परम्परागत प्रयोग किया जाता है क्योंकि इन तन्त्रवाद्यों की संगति से गायन के जितने भी दोष हैं वे समाप्त होकर सुस्वर हो जाते हैं[2] । इस प्रकार भरत ने गान्धर्व के स्वरपक्ष के स्वरूप का स्पष्टीकरण करने के लिए "तन्त्रीकृतातोद्य" का उल्लेख किया है । तीसरा तथ्य यह है कि "कंठ संगीत" के लय और तालपक्ष को पूर्णता देने के लिए भरत ने अवनद्ध और घन वाद्यों का उल्लेख किया ।

इस प्रकार गान्धर्व (संगीत) की मूलभित्तियों स्वर एवं ताल की पूर्ण जानकारी के लिए भरत ने अपने आतोद्य - विधान के अन्तर्गत उन सभी आतोद्य या वाद्यों को शामिल किया जो स्वर और ताल को प्रकट करने में पूर्णतः सक्षम हो । यही कारण है भरत ने गान्धर्व में प्रयोज्य सभी प्रकार के ज्ञात वाद्यों का विवेचन किया है ।

भरत ने कहा है कि "तन्त्रीकृतातोद्य" के साथ जब अन्य सानुकूल वाद्य सम्मिलित हो जाय तब गान्धर्व की अवतारणा होती है अर्थात् गान्धर्व का स्वरूप सामने आता है -

"यत्तु तन्त्रीकृतं प्रोक्तं नानातोद्यसमाश्रयं गान्धर्वमिति तज्ज्ञेयं"[3] अर्थात् तन्त्रीकृत - आतोद्य, कंठ वाद्य (गात्रवीणा) और सुषिर आदि वाद्यों के साथ उनकी

---

1. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका 28/8
"यत्तु तन्त्रीकृतं प्रोक्तं"

2. ना0शा0 पृ0-1 गातॄणां हि वाक्पारूण्यादिदोषशतोपहतानां स्वर-तन्त्री वेणुस्वरेण सुखरतां नीयते स्वभावत एव तन्माधुर्यात् ।

3. ना0शा0 28/8

आवश्यकता और अनुकरण के लिए अन्य सभी आतोद्यों (वाद्यों) का आश्रयीभूत जो है, वही गान्धर्व है ।

उपरोक्त संदर्भों का यही अभिप्राय लगाया जा सकता है कि भरत ने जिस गान्धर्व की चर्चा की है उसकी अवतारणा का मूल उपादान मानवीय कंठ है । जो एक प्रकृति प्रदत्त वाद्य है । बल्कि विश्वभर के संगीत या गान्धर्व की शुरूआत इसी प्राकृतिक वाद्य कंठ से की जाती है । इसी वाद्य या आतोद्य की आवश्यकता और आपूर्ति के लिए अन्य सभी तन्त्र सुषिर और अवनद्ध वाद्यों की निर्मिति का विधान है । इसीलिए महर्षि भरत ने गान्धर्व के प्रसंग में स्वर, लय ताल आदि की जानकारी देने से पूर्व सर्वप्रथम उस "आतोद्यविधान" का विवरण दिया है जिसमें ध्वनिनिकास, स्वर, स्वर-संगीत लय और ताल आदि को व्यक्त करने वाले वे सभी वाद्य सम्मिलित है जिनके आधार पर गान्धर्व यानि गायन और वादन की प्रस्तुति की जाती है ।

बल्कि साधारणतः यह कहा जा सकता है कि भरत की यह "आतोद्यविधि" गान्धर्व या संगीत की अवतारणाका एक वैज्ञानिक Process है जिसके क्रमानुसार प्रयोग व अभ्यास से न केवल स्वर, लय और ताल बल्कि तत्सम्बन्धित समस्त वाद्यों का स्वरूप स्वतः सामने आ जाता है इसके बाद फिर गान्धर्व के अन्य उपादान जैसे स्वर, स्वरों के विभिन्न प्रकार श्रुति ग्रामः मूर्च्छना जातिगायन और विविध ताल वाद्यों के विकास और स्वरूप बनते हैं । अर्थात् भरत-निर्दिष्ट आतोद्यविधि समस्त शास्त्रीय संगीत के स्वरूप की सैद्धान्तिक चर्चा है । 'Atodyavidhan' is a term under which the entire exposition of music in included. इसी कारण मानवीय कंठ यानि संगीत तन्त्रवाद्य, सुषिर वाद्य धन और अवनद्ध वाद्यों को स्वरूप और प्रयोग विधि के अनुसार वाद्यों के चतुर्विधि वर्गीकरण को "आतोद्यविधान" में मान्यता दी गई है ।

भरत की "आतोद्यविधि" के विवरण से एक तथ्य और स्पष्ट होता है कि भरतकाल में गायन और वादन का सम्भवतः समान महत्व रहा होगा । आज जैसे

विद्वानों में चर्चा की जाती है कि संगीत के विकास क्रम में पहले गायन का प्रदुर्भाव हुआ या वादन का ?

"नाट्यशास्त्र" जैसी प्राचीनतम और प्रामाणिक कृति के अध्ययन से तो यही स्पष्ट होता है कि संगीत या गान्धर्व की अवतारणा में न तो पहले गीत की है, और न वाद्यों की, बल्कि गीत एवं वाद्य दोनों के समायोजन से गान्धर्व की प्रस्तुति की गई। क्योंकि भरत - निर्दिष्ट आतोद्य - विधान के अनुसार मानवीय कंठ एक प्राकृतिक वाद्य है जो गीत और वाद्य दोनों का प्रतिनिधित्व करता है । क्योंकि संगीत के स्वरों की प्रथम उत्पत्ति प्रकृति प्रदत्त कंठ, से हुई, गान के क्रम में भी कंठगत स्वरों की मान्यता है । अतएव संगीत की शुरूआत के लिए कंठगतस्वरों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए ।

लेकिन दूसरी ओर भरत की मान्यता के अनुसार ही नहीं, वैज्ञानिक दृष्टि से भा कंठ एक खोखली स्वरतन्त्री से युक्त नली है जो एक ईश्वरीय प्रदत्त वाद्य है । अतएव यह वाद्य संगीत की उत्पत्ति का कारण होना चाहिये । इसलिए इस दृष्टि से संगीत की उतपत्ति और विकास में इस वाद्य का महत्व है ।

इस प्रकार कंठ ध्वनि और कंठ आतोद्य को दृष्टि में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि गान्धर्व या संगीत के उद्‌भव में गीत एवं वाद्य दोनों का सम्मिलित समायोजन है इसीलिए महर्षि भरत ने गान्धर्व के प्रसंग में सर्वप्रथम "आतोद्यविधि" का सूक्ष्म विश्लेषण दिया है ।

आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में भरत-निर्दिष्ट आतोद्यविधान

आधुनिक संगीत की परम्परा पर यदि दृष्टिपात किया जाए तो स्पष्ट प्रतीत होता है भरत निर्दिष्ट "आतोद्यविधान" आज भी संगीत में स्वीकार किया जाता है ।

हांलाकि भरत काल से लेकर आधुनिक काल के आते-आते हमारे संगीत के स्वरूप, आकार-प्रकार और व्यवहार में अनेक देशी - विदेशी जातियों व संस्कृतियों का प्रभाव पड़ा परिणामतः संगीत में प्रयुक्त होने वाले अनेक शब्द अपने परिवर्तित रूप में प्रयुक्त होने लगे । फिर भी संगीत विषयक जितने भी मूलभूत (Fundamental) सिद्धान्त है वे सभी भरत परम्परानुसार आज भी स्वीकार किये जाते हैं । कारण -

(1) स्वयं "संगीत" शब्द भरत के गान्धर्व का ही परिवर्तित नाम है, जैसा डॉ० मुकुन्द लाट ने भी लिखा है[1] । "गान्धर्व" के स्थान पर "संगीत" शब्द कब प्रचार में आया इसके स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलते, किन्तु अनुमान यह लगाया जाता है कि रत्नाकर काल में सम्भवतः गान्धर्व के स्थान पर "संगीत" शब्द प्राचार में आया ।

क्योंकि भरत-काल से भी पूर्व संगीत कला को "गान्धर्व" नाम से पुकारा जाता था क्योंकि यह कला गान्धर्व और देवताओं को प्रिय थी[2] । उस समय गान्धर्वों को गान-विद्या का अधिकारी समझा जाता था । इसी कारण इसे "गान्धर्व" कहा गया।

---

1. दत्तिलम् पृ० - 65 The word Gandharva is ambiguous. It can be synonym of music.
2. ना०शा० 28/9 अत्यर्थमिष्टं देवानां तथा प्रीतिकरं पुनः
   गन्धर्वाणां च यस्माहिद तस्मादान्धर्वमुच्यते ।।

भरत ने इसे "गान्धर्व" के रूप में स्वीकार किया । किन्तु भरत ने गान्धर्व का विवेचन नाट्य के अंग के रूप में किया बल्कि गान्धर्व और नाट्य इन दोनों का साथ-साथ निरूपण किया, जिसमें नाट्य के अन्तर्गत नृत-प्रधान अभिनय तथा गान्धर्व के अन्तर्गत गीत एवं वाद्यों का सम्मिलित प्रयोग किया गया । किन्तु भरत के वाद जब नाट्य से पृथक् गान्धर्व का स्वतन्त्र रूप से विवेचन किया गया, तब गीत वाद्य और नृत्य इन तीन कलाओं के समुच्चय बोधक स्वरूप को "संगीत" के अन्तर्गत मानकर इसकी व्याख्या की गई । पंडित शारगदेव ने "संगीत रत्नाकर" में "गीतं वाद्यं तथा नृत्यं त्रयं संगीतमुच्यते" कहकर गीत-वाद्य तथा नृत्य इन तीनों का समावेश "संगीत शब्द के अन्तर्गत किया। अतएव अनुमान है कि गान्धर्व का स्वतन्त्र रूप में विकास होने पर रत्नाकर-काल में गीत-वाद्य और नृत्य इन तीन कलाओं के रूप में "गान्धर्व" ही संगीत शब्द में समाविष्ट कर लिया गया और सम्भवतः इसी समय से "गान्धर्व" के स्थान पर "संगीत" शब्द प्रचार में आया ।

(2) लेकिन भरत निर्दिष्ट गान्धर्व का स्वरूप आधुनिक प्रचलित संगीत-परम्परा में देखा जा सकता है । क्योंकि भारतोक्त गान्धर्व में गीत-वाद्य तथा नृत्य इन तीन कलाओं की सामूहिक परम्परा का प्रचलन नहीं था । बल्कि नाट्य के अन्तर्गत नृत्य एवं अभिनय तथा गान्धर्व में गीत एवं वाद्यों का सम्मिलित प्रयोग था । आज भी गायन एवं वादन की सम्मिलित परम्परा संगीत में प्रचलित है तथा नृत्य आज भी "संगीत" से पृथक् मानने की प्रथा है क्योंकि आज Music and Dance संगीत और नृत्य आदि वाक्य इस तथ्य के द्योतक है, कि संगीत के अन्तर्गत गीत एवं वाद्य तथा नृत्य का विकास स्वतन्त्र रूप से किया जाता है । अतएव परिभाषिक रूप से गीत-वाद्य और नृत्य इन तीन कलाओं का समावेश संगीत के अन्तर्गत किया जाता हो किन्तु व्यवहारिक दृष्टि से आज भी गीत एवं वाद्यों का सम्मिलित प्रयोग संगीत के अन्तर्गत किया ज़ाता है और नृत्य संगीत से पृथक् माना जाता है । जबकि भरत-मत से भी गीत वाद्यों का सम्मिलित प्रयोग गान्धर्व था और नृत्य नाट्य के अन्तर्गत मान्य था ।

(3) अतएव "गान्धर्व" के स्थान पर संगीत शब्द का ग्रहण भले ही "संगीत रत्नाकर" से किया गया हो किन्तु प्रचलित संगीत का स्वरूप शारंगदेव की अपेक्षा भरत के गान्धर्व के अधिक समीप है । आज की तरह भरत-निर्दिष्ट गान्धर्व में गायन को प्रधानता दी गई है जिसका विश्लेषण भरत ने वैज्ञानिक रूप से दिया है । क्योंकि स्वरोत्पत्ति के क्रम में भरत ने आतोद्यविधि के अन्तर्गत मानवीय कंठ वीणा और वंशी को मान्यता देते हुए इहै "तन्त्रीकृतातोद्य" कहा है जिनपर गान्धर्व के स्वरों की अवतारणा की जाती है इसमें सन्देह नहीं है कि स्वराधिष्ठान के लिए ये वाद्य पूर्ण है- किन्तु जहाँ तक "गानविद्या" का सम्बन्ध है उसकी अभिव्यक्ति के लिए मानवीय कंठ ही एकमात्र प्राकृतिक आतोद्य है उसी की आपूर्ति के लिए "नानातोद्य" स्वीकार किये जाते हैं । इसके अतिरिक्त कंठ संगीत की दूसरी विशेषता सार्थक शब्द समूह का होना । इसी कारण भरत ने गानके क्रम में गान्धर्व को स्वर और ताल के साथ पद से युक्त माना है । गान्धर्व के स्वरूप की पूर्ण अवतारणा में स्वर ताल और पद का होना आवश्यक है । "गान्धर्वमिति तज्ज्ञेयं स्वरतालपदाश्रयं" इस प्रकार स्वर और ताल की परस्परसानुकूलता के साथ "पद" का होना अनिवार्य है । इन तीनों के बीच सन्तुलन रखना गान्धर्व की सिद्धि है । आज भी भरत परम्परानुसार गीत को सर्वोच्च स्थान देकर सभी वाद्यों का आश्रयीभूत माना गया है । प्रचलित "संगीत" शब्द में भी इसीकारण सम्भवतः "गीत" "सम् + गीत" शब्द रखकर गायन को प्रधानता दी गई है ।

(4) स्वर और तालार्थ के लिए भरत ने "आतोद्य" शब्द का प्रयोग किया है जो अर्थ और भाव के अनुकूल है जिसमें किसी प्रकार टकराने, घर्षण करने आदि से ध्वनि उत्पत्ति होती है । अतएव जितने भी तन्त्री घन अवनद्ध आदि सभी "आतोद्य" कहलाते हैं । जिसे आज इसी अर्थ में वाद्य या Instrument शब्द से अभिहित किया जाता है ।

(5) स्वर और तालार्थ प्रयुक्त किये जाने वाले समस्त वाद्यों के आकार-प्रकार स्वरूप, वादनविधि और उनकी उपयोगिता की दृष्टि से भरतनिर्दिष्ट वाद्यों का चतुर्विध

वर्गीकरण भरत की आतोद्योवीध है जिसका आधार लेकर प्रचलित संगीत के समस्तवाद्यों का वर्गीकरण किया गया है । तत् - सुषिर - अवनद्ध और घन । तत् के अन्तर्गत वीणा, सितार, वायलिन तानपूरा आदि आधुनिक तन्त्रवाद्य आते हैं । अवनद्ध के अन्तर्गत तालार्थ प्रयोग किये गए वाद्य पखावज, तबला, ढोलक, मृदंग आदि घन के अन्तर्गत झांझ, करताल, सन्तूर आदि और सुषिर में वासुरी मुरली क्लोरोनेट शहनाई आदि ।

(८) नाट्यप्रयोगों में विभिन्न वाद्यों की सहायता से नृत्य आदि में विशेष सौन्दर्य की वृद्धि की जाती थी । समवतवादन के अन्तर्गत पुष्कर, वीणा वंशी आदि वाद्यों का नियमानुसार प्रयोग किया जाता था[1] आज भी वाद्यों का समवेत वादन किया जाता है जिसे Orchatra कहा गया है । यही नहीं एकल वादन का भी प्रचलन था जिसे आज solo वादन कहते हैं । नाट्य प्रयोगों के खाली समय को भरने के लिए भी एकल वादन की प्रथा थी । आज भी इसी परम्परा का पालन किया जाता है जब गायन-वादन या नृत्य के कार्यक्रमों में वादक बीच-बीच में एकल वादन करके कार्यक्रम को और भी रक्तवर्धक करते हैं ।

भरत-काल में गीत एवं वाद्यों का समुचित प्रचलन था । नाट्य के अंग के रूप में गीत - वाद्य (गान्धर्व) का इसीलिए प्रयोग आवश्यक था और इसी कारण भरत ने आतोद्याविधान का सैद्धान्तिक विवरण दिया है इसका अभिप्राय ही गीत एवं वाद्यों के सिद्धान्त, जिसमें कंठ संगीत से लेकर सभी (man made) तन्त्र अवनद्ध, घन और सुषिर वाद्यों के स्वरूप, आकार-प्रकार और प्रयोग की समस्त विधियों का वैज्ञानिक रूप से निरूपण किया गया है । गीत-वाद्यों का यह विधान क्योंकि सार्वग्राह्यी और सार्वभौमिक है इसीकारण आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में भी स्वीकार किये जाते हैं ।

---

1. ना0शा0 34/17 रसभावे प्रयोगं तुज्ञात्वा योज्यं विधानतः
2. ना0शा0 34/22 विश्रामहेतो शोभार्थं भाण्डवाद्यं विनिर्मितम्

पंचम - अध्याय

भरतोक्त तन्त्रीकृतातोद्य एवं गान्धर्व

(क) गान्धर्व का स्वरूप तथा त्रिविध लक्षण

(ख) गान्धर्व की स्वरगतविधियाँ - सप्तस्वर - 22 श्रुतियाँ तथा स्वरों के आपसी सम्बन्ध ।

(ग) ग्रामों की संख्या, स्वरूप व प्रयोजन

(घ) भरतनिर्दिष्ट श्रुति - निदर्शन, प्रयोग व परिणाम

(ङ) आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में श्रुतिस्वर, ग्राम

(च) मूर्च्छनां, प्रकार, स्वरूप, आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में भरतोक्त मूर्च्छना, व विकृत स्वर ।

चतुर्थ अध्याय में भरतकृत "आतोद्यविधि" और उसके अन्तर्गत तत्कालीन तत्-अवनद्ध धन एवं सुषिर (ततश्चैवावनद्धं सुषिरमेव) सभी प्रकार के स्वर तथा ताल वाद्यों का चतुर्विध वर्गीकरण तथा गान्धर्व की अवतारणा में इन अतोद्यों के महत्व पर प्रकाश डाला गया है । इन सभी वाद्यों में तत् या तन्त्रवाद्यों को महर्षि भरत ने (स्वरांशप्रधान) माना है और इसी कारण इन वाद्यों पर गान्धर्व (संगीत) की स्वरता "आधारित" है अर्थात् तन्त्रवाद्य भरत के मतानुसार गान्धर्व के स्वरवाद्य है अर्थात् गान्धर्व की स्वरोत्पत्ति के अधिष्ठान है । "यतु तन्त्रीकृतं प्रोक्तं" नानातोद्य समाश्रयम् गान्धर्वमिति तज्ज्ञेयं" अर्थात् विभिन्न प्रकार के आतोद्यों या वाद्यों के आश्रयी तन्त्रीकृत ही गान्धर्व है ।

अभिप्राय यह है, कि तत्कालीन तन्त्रवाद्यों में आज की मान्यता के अनुसार केवल काष्ठ निर्मित वीणाएं या सितार आदि वाद्य नहीं थे अपितु भरत के मतानुसार तन्त्रीकृतातोद्य में मानवीयकंठ सर्वाधिक प्रमुख और आदिम वाद्य है । जिसे भरत ने

"गात्रवीणा" कहा है । कंठ और दाखी वीणाओं पर ही स्वरों का अधिष्ठान होता है[1] इसी कारण भरत ने गान्धर्व के स्वरपक्ष के लिए प्राकृतिक और अप्राकृतिक (Man made) सभी तन्त्रवाद्यों को सम्मिलित किया है । (शारीरीवीणा) मानवीय कंठ प्रमुख प्राकृतिक तन्त्रीकृतातोद्य है, जब कि इसी वाद्य की आवश्यकता और अनुकरण पर अन्य सभी तन्त्र और अवनद्ध वाद्यों को सहयोगी और संगीत-वाद्यों के रूप में मान्यता दी गई है।

अतः भरत के मत से तन्त्रीकृतातोद्यों में मानवीय कंठ "स्वयं में एक प्रकृतिप्रदत्त तन्त्री है, जो स्वरों की महीन से महीन अदाकारी को अभिव्यक्त करने में सक्षम है, दूसरे काष्ठनिर्मित वीणाएं और तानपूरा आदि सहयोगी तन्त्रवाद्य है, जिन पर गान्धर्व या संगीत के स्वर निर्भर करते हैं । पिछले अध्याय में इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है ।

भरतनिर्दिष्ट गान्धर्व हो या आज का संगीत, गायन इसीलिए प्रधान माना जाता है क्योंकि कंठ-तन्त्री ही विशेषतया गायन के लिए मूलसाधन है । क्योंकि गान के क्रम में कंठ से ही अभिव्यक्ति की जाती है - लेकिन कंठ स्वर के साथ वीणा और वंशी भी स्वरोत्पत्ति के कारण है । इसीकारण महर्षि भरत ने "गान्धर्व की योनि" या स्वरोत्पादक वाद्यों के रूप में क्रमशः मानवीय कंठ काष्ठ निर्मित वीणा और वंशी इन तीन वाद्यों को सम्मिलित किया है[2] अभिप्राय यह है कि मानवीय कंठ की अभिव्यक्ति गान है । अतएवं गान्धर्व के स्वरों को उत्पन्न करने वाला मूल उपादान कंठ है तत्-पश्चात् वीणा । कंठ और वीणा स्वराधिष्ठान-हेतु है, और वंशी स्वर-संगति के अनुकूल वाद्य माना गया है । इसी कारण महर्षि भरत ने गान्धर्व के स्वरों की अवतारणा में कंठ (गात्रवीणा) वीणा और वंशी इन तीन वाद्यों को "तन्त्रीकृतातोद्य" कहा है । जैसा

---

1. ना0शा0 - 28 वैणाः शारीरिकारत्ता"
2. ना0शा0 (गायकवाड) 28/12 द्वयधिष्ठानाः स्वराः ज्ञेया वैणाः शारीश्च प्रकीतिता ।

कि अभिनव गुप्त का भी मत है[1] स्वरांश में तत् (गात्रवीणा और वीणा) तथा वंशी (सुषिर) का उपयोग है ।

इस प्रकार कंठ- वीणा और वंशी ये वाद्य गान्धर्व की अवतारणा के लिए अनुकूल समझे जाने के कारण "तन्त्रीकृतातोद्य" है । यही तन्त्रीकृत जब नाना प्रकार के अन्य सहयोगी वाद्यों का आश्रयी हो जाता है तब स्वर और ताल से युक्त "गान्धर्व" या संगीत की अवतारणा की जाती है[2] । किसी भी प्रकार का संगीत हो, स्वर तो उसका प्राण है । चाहे उसकी अभिव्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार के वाद्य का आश्रय लिया जाय ।

इसी कारण स्वर को गान्धर्व या संगीत की आत्मा कहा गया है । स्वरोत्पत्ति में "तन्त्रीकृतातोद्य" की प्रधानता है । बल्कि गान्धर्व की शुरूआत ही गात्रवीणा यानी कंठतन्त्री से की जाती है । इस दृष्टि से संगीत में गायन या कंठ-संगीत को प्रधानता दी जाती है । वीणा और वंशी उसकी सहयोगी वाद्य है । आज भी कंठ संगीत को प्रधान मानत हुए तानपूरा, सारंगी, वायिलन, वीणा आदि वाद्यों को गायन का सहयोगी या संगति वाद्यों के रूप में मान्यता है ।

गान्धर्व का स्वरूप तथा लक्षण-

अति प्राचीन काल के गन्धर्व और देवताओं के द्वारा गेय होने के कारण तत्कालीन गान-विद्या को "गान्धर्व" कहा गया "अत्यर्थमिष्टं देवानां तथा प्रीतिकरं पुनः गन्धर्वाणां[3] । साम-संगीत के समानान्तर उद्भूत होने के कारण गान्धर्व "साम" की भाँति

---

1. ना0शा0 (गायकवाड) 28/10 अस्योनि मकेदानं वीणा वशस्तथैव ।
2. ना0शा0 28/8 यत्तु तन्त्रीकृतं प्रोक्तं नानातोद्यसमाश्रयम् गान्धर्वमिति तज्ज्ञेयं ।
3. ना0शा0 गायकवाड 28/9

पवित्र और शास्त्रोक्त कला थी । जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट का कथन है - "It was a sacred form, parallel in this sense, to the more ancient 'Sama' a sung form"[1].

भरत को गान्धर्व कला परम्परागत रूप से प्राप्त हुई, इसीकारण भरत ने गान्धर्व के स्वरूप, गान्धर्व से सम्बन्धित वाद्यों, इसके लक्षण तथा इस कला के कर्त्ता, आविष्कर्त्ता प्रयोक्ता ब्रह्मा, नारद स्वाति आदि पूर्वाचार्यों का पूर्ण संदर्भ "नाट्यशास्त्र" में दिया है[2]। हॉं यह बात अवश्य है, कि भरत ने अपने अनुभवों एवं परीक्षणों से यह अवश्य सिद्ध किया है कि गान्धर्व के स्वरोत्पत्ति में तन्त्रवाद्यों का मूल योगदान है "कंठतन्त्री" भी एक प्रकार की प्राकृतिक वीणा है जो गान्धर्व के गान की अभिव्यक्ति का कारण है बल्कि बिना कंठ के गायन की अभिव्यक्ति सम्भव ही नहीं है । इसीलिए कंठ (गात्रवीणा) तन्त्रवाद्य (आन्यवीणाएं) एवं अवनद्ध वाद्यों के विधिवत् प्रयोग को तत्कालीन "गान्धर्व" कहा गया है । इस संदर्भ में नारद का पद मिलता है गान्धर्व का "ग" अक्षर गायन का "ध" अक्षर काष्ठनिर्मित वीणाओं का और व अक्षर अन्यवाद्यों का प्रतिनिधित्व करने पर "गान्धर्व" की प्रतिष्ठा होती है[3] । इससे स्पष्ट संकेत मिलता है कि गान (कंठ-संगीत) और वाद्यों का सम्मिलित प्रयोग ही तत्कालीन "गान्धर्व" या शास्त्रीय संगीत था । आज भी संगीत शब्द से गीत और वाद्यों का अभिप्राय लिया जाता है, किन्तु स्वर और ताल गान्धर्व के स्वरों और लय, ताल की आपूर्ति करते हैं गान या गायन के लिए इसमें तब तक गुंजाइश नहीं हो सकती, जब तक इसमें स्वर और ताल के साथ सार्थक शब्द-समूहों का प्रयोग न किया जाए । इसी कारण महर्षि भरत ने गान्धर्व में स्वर - ताल और पद इन तीन का समन्वय किया है । त्रिविध विद्याओं

---

1. दत्तिलम डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0-65 Commentary on the text.
2. ना0शा0 गायकवाड टिप्पणी पृ0-394 "गान्धर्वमेतत् कथितं मया" वा: पूर्व युदुक्तं प्रपिता महेन 33-23
3. नारदीय शिक्षा 3.4.12 गेत्ति गेयं विदुः प्रज्ञा धेत्ति का रूप्रवादनम्
   वेत्ति वाद्यस्य विज्ञेयं गान्धर्वस्य विरोचनम् ।

(स्वर - ताल - पद) से गान्धर्व की पूर्णता मानी है[1] । अध्याय - आठ में भरत का स्पष्ट कथन है कि "गान्धर्व" वही है जिसमें स्वर-ताल और पद (सार्थक शब्द समूह) हो[2] । डॉ0 मुकुन्द लाट ने लिखा है "In other words, suara - pada and tala are the three elements on which Gandharva depends[3]

"स्वरतालपदात्मकं त्रिविध" त्रिविध शब्द को लेकर प्रायः यह सन्देह हो सकता है कि वह (गान्धर्व) स्वर, ताल और पद, भेद से तीन प्रकार का है । किन्तु वस्तुतः गान्धर्व तीन प्रकार का न होकर उक्त तीन प्रकार (स्वर-ताल-पद) पर आश्रित होता है । इस संदर्भ में अभिनव गुप्त ने विश्वखिलाचार्य को उद्धृत करते हुए स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि स्वर, पद और ताल से समन्वित होने पर "गान्धर्व" कहलाता है । भरत ने "पदात्मकम्" कहते हुए "आत्म" शब्द का ग्रहण भी इनके मिश्रीभाव की सूचना देने के लिए ही किया है[4] । आचार्य दत्तिल ने इस रहस्य को "पदस्थ स्वरसंघातः तालेन समुमितः" कहते हुए उन्मीलित किया[5] । पुनः आचार्य अभिनव गुप्त का मत है इसमें स्वर प्रधान है ताल उसकी आत्मा है इसके अतिरिक्त "पद" का भी अत्यधिक महत्व है । तीनों के मिश्रीभाव पर गान्धर्व निर्भर करता है[6] ।

---

1. ना0शा0 गायकवाड 28/11 गान्धर्व त्रिविधं विद्यात्स्वर तालपदात्मकम् ।
2. ना0शा0 गायकवाड 8/8 गान्धर्व तज्जन्यं स्वरतालपदात्मकृम् ।
3. ना0शा0 गायकवाड दत्तिलम - डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 66
4. ना0शा0 28 पृ0 - 7 आश्रितवाची विद्याशब्द इति चिरन्तानाः । न त्वत्र-विद्याशब्द प्रकारार्थः । एवं हि सति पृथक् पृथमान्धर्वव्यवहारो भवेत् । न चैव तथा च विशाखिलाचार्यः स्वरपदतालसमवाये तु गान्धर्वम् इति । आत्मग्रहणनैषा मिश्रीभावः ।
5. दत्तिलम् - पृ0 - 66
6. तेन स्वराः प्रधानं तालोनामात्मा तत्साम्येनोपकारकः "तलप्रतिष्ठाकरणे" इति ताल एवैतदाह ततोऽपि दूरं पदं पदशब्देनैव तस्याधारलाभः ।

इस प्रकार गान्धर्व तीन प्रकार का न होकर, इसका स्वरूप स्वर - ताल और पद से निर्मित होता है । अर्थात् स्वर-पद और ताल गान्धर्व के तीन प्रमुख तत्व हैं जिनपर 'गान्धर्व' की प्रतिष्ठा की जाती है । डॉ० कुमुन्द लाट ने आचार्य दत्तिल की परिभाषा को स्पष्ट करते हुए लिखा है । Dattila's definition of Gandharva, besides implying a togatherness of svara - pada and tala also suggests hierachical relationship between these elements, because he says, gandharva is a group of svaras set to words and well measured by tala ----- svaras is the dominent element, tal second in importance. Its function is to give an equipose and equilibrium (Samya) to svara - pada follows last in hierachy.[1]

आचार्य दत्तिल के अनुसार स्वर-ताल-पद में परस्पर सामंजस्य रहता है अर्थात् गान्धर्व स्वरों की एक रचना या Setting है जिसमें शब्दानुसार होती है तथा ताल के द्वारा जिसका माप होता है इस दृष्टि से गान्धर्व में स्वर प्रधान है उसके वाद-ताल, तत्पश्चात् पद की प्रमुखता है । ये तीनों तत्व एक दूसरे से अनुकूल रहते हुए गान्धर्व को प्रतिष्ठित करते हैं ।

इस प्रकार "स्वरतालपदात्मकम्" के रूप में भरतनिर्दिष्ट गान्धर्व का स्वरूप अपने आप में बड़ा व्यापक व सहैतुक है । जिसके अन्तर्गत स्वर ताल से लेकर संगीत की समस्त गायन शैलियों का स्वरूप अन्तर्निहित रहता है । स्वर इसका प्रमुख तत्व है ताल द्वितीय महत्वपूर्ण तत्व है और पद के रूप में समस्त विद्यमान गायनों की श्रृंखला इसमें समायोजित रहती है । डॉ० मुकुन्द लाट लिखते हैं -

---

1. दत्तिलम् - डॉ० मुकुन्द लाट पृ० - 66

Gandharva has been difined in these ancient deffinitions, as a body of music, where svara and tala in that order, dominated pada. This definition is too broad 'atiuyapta' especially since the name gandharva given to it could be used for any music, whatever in deed, the definition can be seen to apply to our our dhrupada and Khayal and great deal of Karnatic singing.[1]

अभिप्राय है कि "स्वरतालपदात्मकम्" के रूप में भरतनिर्दिष्ट गान्धर्व का स्वरूप आज भी हिन्दुस्तानी और दक्षिणी संगीत में देखा जा सकता है । आचार्य दत्तिल ने स्वर-पद और ताल के साथ गान्धर्व का चौथा अवधान को माना है - Dattila definies, gandharva, he says gandharva consists of four elements, pada - svara - tala and 'avadhana'[2].

यहाँ अवधान से अभिप्राय किसी भी कला को धारण करने या पूर्णता प्राप्त करने का लगातार अभ्यास करने की प्रवृत्ति । इस प्रकार भरत की दृष्टि में स्वर - ताल और पद इन तीन का समुच्चयबोधक स्वरूप गान्धर्व है । A specific combination of svara - tala and pada[3].

---

1. दत्तिलम् - 67 डॉ0 मुकुन्द लाट
2. दत्तिलम् - 67 डॉ0 मुकुन्द लाट
3. दत्तिलम् - 67 डॉ0 मुकुन्द लाट

लेकिन दत्तिलाचार्य ने इन तीन तत्वों के साथ अवधान को जोड़कर गान्धर्व के चार तत्वों का उल्लेख किया है । चौथा तत्व अवधान किसी भी कला कि पूर्णता प्राप्त करने का तरीका है । Avdhana as a quality which is necessary in the pursuit of any art or science.[1]
गान्धर्व के स्वरांश में क्रमशः अनिवद्ध और निबद्ध गान से सम्बन्धित स्वर श्रुति ग्राम आदि जितने भी सांगीतिक तत्व हैं, वे सभी सम्मिलित हैं । ध्वनि क्योंकि संगीत या गान्धर्व का प्राण है इसलिए भरत ने स्वरों को प्रधानता दी है । जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट का कथन है" The word svara in the 'Dattilam' and in other texts on gandharva, stands for musical notes but also in the case for whatever concerns musical notes the frame - work for analysing them and the melodies built with them.[2]

अर्थात् स्वर में, स्वर ग्राम मूर्च्छना, तान, स्थान, श्रुति, वर्णा, अलंकार ये समन्वित माने जाते हैं । इनकी स्थिति मानवीय कंठ और दारवी दोनों वीणाओं में रहा करती है । यद्यपि भरत - मत से शारीरी वीणा में मूर्च्छना और तान की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं हो पाती, इसके लिए दारवी वीणा का आश्रय लिया जाता है[3] ।

यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि वीणा शब्द का प्रयोग सामान्यतया "दारवी" वीणा के लिए होता है । किन्तु स्वर, ग्राम आदि के समान आश्रय होने के

---

1. दत्तिलम् - 67 डॉ0 मुकुन्द लाट
2. दत्तिलम् अ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 65
3. ना0शा0 अभिनव गुप्त 28/13, 14, 15
   स्वरा ग्रामो मूर्च्छनाश्च तानाः स्थानानि वृत्तयः
   शुष्कं साधारणे वर्णाः ह्यलङ्काराश्चधातवः
   श्रुतयो यदयश्चैव नित्यं स्वरगतात्मकाः
   दार्व्यां समवायस्तु वीणायां समुदाहृतः
   स्वराः ग्रामावलङ्कारा वर्णा स्थानानि जातयः

कारण शारीरी (कंठ) और "दारवी" दोनों के लिए "वीणा" शब्द का प्रयोग आचार्य भरत ने किया है । आचार्य अभिनव गुप्त भी वीणा को "सरस्वती वीणा" के नाम से स्मरण करते हैं[1] । वाग्

गान्धर्व के तालांश के लिए भरत ने 21 तत्व स्वीकार किये हैं । यथा ध्रुव, आवाप, निष्क्राम, विक्षेप, प्रवेशन, अंग, विदारी, यति, लय, गीतियाँ अवयव, मार्ग, पादमार्ग, पाणि ये इक्कीस तत्व ताल से सम्बन्धि है[2] ।

गान्धर्व के स्वर और ताल के पश्चात् पद यानी गान से सम्बन्धित तत्वों के लिए भरत ने "शब्द" और शब्द से सम्बन्धित स्वर, वर्ण, व्यंजन सन्धि, विभक्ति, नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, तद्धित छन्द, वृत्त और जाति भेद से अनेक प्रकारों का उल्लेख किया है । ये पद वाक्य - योजना में अनिवद्ध और निबद्ध भेद से अर्थात् गद्य और पद्य भेद से दो रूप में व्यवहार में आते हैं[3] ।

इस प्रकार "स्वरतालपदात्मकम्" अर्थात् स्वर-ताल और पद इन तीन लक्षणों पर भरत निर्दिष्ट गान्धर्व निर्भर था । आज भी स्वर-ताल और पद से संगीत का स्वरूप आंका जाता है क्यों कि स्वर से अभिप्राय स्वर, श्रुति ग्राम आदि ताल के लय, लय के प्रकार आदि तालांश और पद से सार्थक शब्दों का वह समूह जो गीत या गान की अभिव्यक्ति करता है । इस प्रकार भरत-निर्दिष्ट गान्धर्व के स्वरूप को मतंगमुनि के मार्ग-संगीत में तथा आज के शास्त्रीय संगीत (Clasical Music) में देखा जा सकता है ।

---

1. न0शा0 अभिनव गुप्त 28 अ0पृ0-6 "शरीरे वीणा वात्रूणां हि सरस्वतीवीणा शब्देनोच्यते"

2. ना0शा0 अभिनव गुप्त 28/18, 19, 20
   "ध्रुवस्त्वावापनिष्क्रामौ विक्षेपोऽथ प्रवेशनम्
   शम्या ताल "सन्निपातः परिवर्तः सवस्तुकः
   मात्र प्रकरणाङगानि विदारी यतयो लयाः
   गीतयोऽवयवा मार्गाः पदामार्गाः सपाणय
   इत्येकविंशतिविधि ज्ञेयं तालगत बुधै"

गान्धर्व की स्वरगत विधियाँ-

(1) **भरत प्रोक्त सप्तस्वराः -**

गान्धर्व में प्रयुक्त होने वाले स्वर सात हैं । संस्कृत भाषा में जिनके नाम क्रमशः "षडजऋषभगान्धर" आदि हैं । ये ही सात स्वर अपने सांकेतिक नाम स-रे-ग-म-प-ध-नी के रूप में विश्वभर के संगीत में स्वीकार किये गये हैं ।

स्वर का अर्थ यद्यपि "स्वयं यो राजन्ते इति स्वराः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार "आ इ ई उ ऊ" इत्यादि स्वर, भाषा में समझे जाते हैं किन्तु संगीत शास्त्र में स्वर से अभिप्राय संगीतोपयोगी ध्वनि या नाद है । जब यही नाद स्वयं में रंजक और श्रोतृचित होता है तो "स्वर की संज्ञा प्राप्त कर लेता है" । "संगीतरत्नाकर" में-"श्रुत्यन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मक" । स्वतो रन्जयेत श्रोतृचिंतं स स्वर उच्यते" अर्थात् श्रुत्यन्तरभावी वह नाद जो स्वयं सुशोभित होता है स्वर कहलाता है । संगीत में स्वर शब्द षडज, रिषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम धैवंत और निषाद इन सप्तस्वरों के लिए प्रयुक्त किया जाता है । जिनका सर्व प्रथम उल्लेख महर्षि भरतकृत "नाट्यशास्त्र" में मिलता है[5] ।

---

2. ना0शा0 हिन्दी प्रदीप व्याख्या, चौखम्बा संस्कृत संस्थान श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री 28.16.17
   वयणानि स्वरा वर्णास्सन्ध्योऽथ विभत्तयः
   नामाख्यातोपसर्गश्चनिपातास्तद्धितास्तथा
   दन्छो वृत्तानि जात्यश्च ज्ञेयाः पदगतात्मकम्
   अनिवद्धं निबद्धन्च द्विविधन्तत् पदं स्मृतम्"
3. " "
4. संगीतरत्नाकर पंडित शारगदेव
5. ना0शा0 अभिनव भारती 28/21
   षडजश्च ऋषभचैव गान्धारो मध्यमस्तथा"
   पन्चमो धैवतश्चैव निषादः सप्त च स्वराः

स्वर के सम्वन्ध में आचार्य अभिनव गुप्त की टिप्पणी है कि "जाति राग, भाषा आदि के भेद से स्वर अपने आप में सुशोभित होता है[1] । अर्थात् संगीतात्मक सूक्ष्म ध्वनियों (Micro - lines) में से वह स्थूल ध्वनि या नाद "स्वर कहलाता है जो स्वयं में रंजक, स्पष्ट एवं सहज है । इस प्रसंग में अभिनव गुप्त ने यहाँ मातृगुप्त के मतों का उल्लेख किया है "जायते" सहजनैव समस्त श्रुतिविस्तरः[2] डॉ0 मुकुन्द लाट ने लिखा है - Among them some are picked out and sung in all gities.[3]
इस प्रकार स्वर अपने आप में स्वतन्त्र, सहज और स्निग्ध नाद है जो सभी के द्वारा गेय हों ।

इन सप्तस्वरों में प्रथम स्वर "षडज" नारद आदि के अनुसार नासिका, कण्ठ, उन तालु, जिह्वा और दन्त इन छः शरीरांगों से उत्पन्न होने के कारण "षडज" कहलाता है[4] किन्तु मुनि भरत ने "षडज" शब्द का प्रयोग करते हुए यह अभिप्राय नहीं लिया, उसका कारण यह है कि दाखीवीणा में भी "षडज" स्वर की उत्पत्ति होती है किन्तु उसमें नासिका, कण्ठ इत्यादि शरीरावयवों की स्थिति नहीं है । आचार्य अभिनव गुप्त ने इस आशय को स्पष्ट किया है "तदनुपयोगान्मुनिना न स्वीकृतं ।

---

1. ना0शा0 अभिनव भारती पृ0 - ।। स्वयं स्वेष्टवेव जातिराग भाषाभेदेषु राजन्त इति ।

2. " " पृ0 - 12 " (जायते) सहजनैव समस्त श्रुतिविस्तारः"

3. दत्तिलम् - डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 3

4. ना0शा0 अभिनव गुप्त - पृ0 - ।। अत्र नारदाद्या नामानिर्वचनमकार्षुः नासां कण्ठमुरस्तालुं जिह्वा दन्ताश्च संश्रितः षडभ्यस्तन्जायते यस्मात्तस्मात् षडज "इत्यादि"

वीणायां च तया भावाभावेऽपि पन्जादिदर्शनात्[1] ।"

मुनि भरत के परवर्ती विद्वानों ने "षडजस्वर" को अन्य छः स्वरों का जनक मानने के कारण "षडज स्वर" इस प्रकार कहलाता है[2] । इस प्रकार "षडजस्वर" की उत्पत्ति सहेतुकी मानी गई है । इसी प्रकार पंडित शारंगदेव ने अन्य स्वरों की ध्वनिसाम्य और स्वरूपज्ञान के लिए पशु व पक्षियों की बोलियों" का उदाहरण रक्खा है यथा - मयूर - षडज, चातक - ऋषभ, अज - गान्धार, कौन्च - मध्यम, कोकिल-पन्चम, मेंढक - धैवत, तथा हाथी - निषाद के स्वरों को व्यक्त करते हैं[3] । इस प्रकार सप्तक के सप्त स्वरों की व्युत्पत्ति के उल्लेख मिलते हैं ।

इस प्रकार भरत-निर्दिष्ट सप्तस्वरों की परम्परा का प्रचलन संगीत में होता रहा है । आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं - सप्तस्वरा इति सप्त वर्णा "नि ग रि-ध म प स" स्वरैब्रह्मणा पूर्वमुदीरिता[4]" इन सप्त स्वरों की परम्परा पूर्व निर्धारित है। हाँ भरत प्रोक्त षडज - ऋषभ - गान्धार आदि सात स्वर "स - रे - ग - म - प - ध - नी" अपने इन सांकेतिक नामों से कब प्रचार में आए इसके स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होते हैं । इनके सांकेतिक नाम पूर्व प्रचलित है इसका अवश्य अनुमान है- "स्वरैब्रह्मणा पूर्वमुदीरिता" । पर भरतकाल से लेकर आज तक संगीत के क्षेत्र में भरत-प्रोक्त सप्त स्वर स्वीकार किये जाते हैं ।

---

1. ना0शा0 पृ0 - ।। - तदनुपयोगान्मुनिना न स्वीकृतं ।
   वीणायां च तया भावाभावेऽपि षडज दर्शनात् ।

2. ना0शा0 हिन्दी प्रदीप व्याख्या - पृ0 - ।9 षण्णां स्वराणां जनकः षडीभर्वा जन्यते स्वरैः

3. संगीत रत्नाकर - पंडित शारंगदेव - मयूर चातक छागकौन्चकोकिल दर्दुरः
   'गजश्च सप्त षड्जादीन् स्वरानुच्चायन्त्यमी ।

4. ना0शा0 अभिनव भारती पृ0 - ।। "स्वरैब्रह्मणा पूर्वमुदीरिताः"

भरत निर्दिष्ट श्रुतियों, श्रुतियों की संख्या व स्वरूप-

सप्तस्वरों के मध्य एक ग्राम या सप्तक में 22 श्रुतियों का विधान भी भरत ने सर्वप्रथम लिपिबद्ध रूप में प्रस्तुत किया "अत्राश्रिता द्वाविंशति श्रुतयः" श्रुतियों का यह विधान जितना व्यवहारिक है उतना ही वैज्ञानिक भी । क्योंकि मनुष्य के कान और कंठ की मर्यादित सीमा में संगीतोपयोगी ये 22 ध्वनियों श्रवणीय और गेय है। ये ही ध्वनियाँ मानवीय हृदय में मन्द्र रूप में कंठ में मध्य रूप में और मस्तिष्क में तार रूप में विद्यमान रहती है । ये ही ध्वनियाँ श्रुतिरूप में पहचानी जाती है डॉ0 मुकुन्द लाट का कथन भी यही है[1] ।

भरत-निर्दिष्ट एक ग्राम में 22 श्रुतियाँ की व्यवस्था के क्रम में यह भी तर्क दिया जा सकता है कि कोई भी ध्वनि जो उच्चरित की जाती है वह उच्चारण की प्रक्रिया और ग्राह्यता के कारण तीन प्रकार से कही जा सकती है - मन्द्र - मध्य तार । वैदिक प्रक्रिया में भी उच्चारण के रूप में उदात्त-अनुदात्त और स्वरित ये तीन भेद स्वीकार किये गये है । 22 श्रुतियों की वैज्ञानिकता इसीलिए मानी जा सकती है क्योंकि अनुमान है, कि भरत ने सामान्यतः 21 संगीतोपयोगी ध्वनियाँ निश्चित की होगी, लेकिन मध्य ध्वनि का मान अनिश्चित और अनिर्धारित् होने के कारण एक ध्वनि की अधिक कल्पना करने पर श्रुतियों की संख्या 22 होती है । अभिप्राय यह है

---

1. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 3 Twenty two different sounds reside in the human chest. This consitituess the 'mandra' the set of sounds in regim of the throat, is the madhya. In the head it is know as tara. We obtain successesiuely higher pitch as we more down. These specific sounds are known as sruties because the ears can distinguish them.

कि वैदिक प्रक्रिया में स्वरोच्चारण की दृष्टि से उच्च-मध्य और निम्न ये तीन क्रियाएं होती है । जिसे व्याकरण लिपि में "।ऽ।" इस प्रकार दिखाया जाता है । अतएव अनुमान है, कि महर्षि भरत ने प्रथम इक्कीस संगीतोपयोगी ध्वनियों की कल्पना एक ग्रामान्तर्गत वैदिक प्रक्रिया के अनुसार की होगी किन्तु इन ध्वनियों के स्वरूप व मान स्थिर करने के लिए किसी एक अन्य ध्वनि की कल्पना करके 22 श्रुतियों की संख्या निर्धारित की हो - जैसे "।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।, ।ऽ।," इन इक्कीस ध्वनियों का मान निश्चित करने के लिए एक ध्वनि की और कल्पना इस प्रकार ।+2। = 22 श्रुतियों की सिद्धी की । अभिनव गुप्त ने इसी कारण तर्क दिया है "तत्कथं द्वाविंशतिरित्याह" किस प्रकार 22 श्रुतियाँ कहीं गई, निश्चित स्थान भेद के कारण"[1] ।

इस संदर्भ में दूसरा प्रमाण यह भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि महर्षि ने षडजग्रामिक षडज-ऋषभ-गान्धार-मध्यम-पंचम-धैवत-निषाद इन सात स्वरों की क्रमानुसार श्रुतियों की संख्या का उल्लेख "षडज स्वर" से न देकर षडज के बाद ऋषभ स्वर की श्रुतियों से किया - "तिस्त्रो द्वे च चतस्त्रश्च चतस्त्रीस्तस्त्र एव च द्वे चौवाथ चतस्त्रश्च षऽजग्रामे भवेद्विधि[2] ।"

अर्थात् 3-2-4-4-3-2 और 4 श्रुतियों के इस क्रम में षऽजग्रामिक रे-ग-म-प-ध और सबसे वाद में षडज स्वर की श्रुतियों षडज ग्राम के स्वरों में होती है । अभिप्राय यह है, कि भरत ने षडजग्राम के स्वरों की निर्धारित श्रुतियों का उल्लेख षडज स्वर से न करके षडज के दूसरे स्वर "ऋषभ" स्वर की श्रुतियों से किया जो वैदिक स्वरोच्चारण की प्रक्रिया को दर्शाता है । अतएव भरत निर्दिष्ट 22 श्रुतियों की संख्या न केवल संगीतात्मक दृष्टि से बल्कि सैद्धान्तिक रूप से स्वयं सिद्ध है । अतएव आचार्य अभिनव

---

1. ना0शा0 अभिनव भारती पृ0 - 19 ननु स्थानभेदेन षटषष्टि तत्कथं द्वाविंशति-रितयाह - स्वरमण्डलस्य स्वरसमूहस्य सप्तकस्य द्वाविंशत्येव सिद्धिः"

2. ना0शा0 अभिनव भारती पृ0 - 28/24 तिस्त्रो द्वे च चतस्त्रश्च चतस्त्रस्तिस्त्र एव च द्वे चैवाथ चतस्त्रश्च षडजग्रामे भवेद्विधि ।

गुप्त का कथन "स्वरसमूहस्य सप्तकस्य द्वाविशत्येव सिद्धः" 22 श्रुतियाँ इस प्रकार वैज्ञानिक, व्यवहारिक और संगीतात्मक दृष्टि से सर्वमान्य है । एक ग्राम या सप्तक की असंख्य ध्वनियों में से मानवीय कंठ और कर्ण की मर्यादा को देखते हुए 22 ऐसी संगीतात्मक ध्वनियाँ, जिन्हें आसानी से अनुभूत किया जा सके "श्रुतियाँ" कहलाई । इसी कारण श्रूयते इति श्रुति" के रूप में विद्वानों ने श्रुति को परिभाषित किया है । पंडित शारंगदेव ने सुनी जाने योग्य 22 ध्वनियों को श्रुति" कहा है, जिनके स्थान क्रमशः मानवीय कंठ तथा मस्तिष्क में रहते हैं[1] । पाश्चात्य संगीत में इन श्रुतियों को Micro - tones कहा जाता है । इन्हीं 22 श्रुतियों में से सात ऐसी श्रुतियाँ स्वर की संज्ञा प्राप्त करती हैं जो सर्वग्राही सजह व सरलता से गेय हों । डॉ0 मुकुन्द लाट का मत है[2] । The svara, among them (sruties) some are picked out and sung in gities. इस प्रकार भरतनिर्दिष्ट स्वर और श्रुतियों की संख्या व स्वरूप की मान्यता न केवल भारतीय संगीत में अपितु विश्व भर के संगीत में स्वीकार की जाती है । स्वरों की अपेक्षा श्रुतियाँ सूक्ष्म नाद हैं । आचार्य अभिनव गुप्त के मतानुसार ये धवनियाँ प्रिय व विलक्षण होती है तथा क्षणिक है[3] । किसी राग व जाति में श्रुतियाँ जब "स्वरत्व" को प्राप्त कर लेती है तो स्वर की संज्ञा प्राप्त करती है[4] । अतएव श्रुतियाँ सूक्ष्म नाद

---

1. संगीत रत्नाकर - पंडित शारंगदेव - "तस्य द्वाविंशतिर्भेदा श्रवणाच्चछुतयोमता" एवं कण्ठे तथा शीर्षे श्रुतिर्द्वविशतिर्मताः 1/13
2. दत्तिलम् - डॉ0 मुकुन्द लाट - पृष्ठ - 3
3. ना0शा0 अभिनव भारती पृ0 - 19 "श्रुतिश्च नाम श्रोतृगम्यं वैलक्षण्यं यावता शब्देनोत्पद्यते ननु कालांश श्रुतिः"
4. दत्तिलम् - डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 3 Those of the sruties that are especially esteemed (adriyante) att the state of svara - hood becoming the seven svaras beginning with saday.

हैं और स्वर स्थूल नाद । सप्तस्वर और 22 श्रुतियों के ऊपर "स्वरतालपदात्मक" गान्धर्व का स्वरपक्ष निर्भर करता है ।

महर्षि भरत कृत नाट्यशास्त्र ही वह प्रथम ग्रन्थं है जिसमें सर्वप्रथम स्वर और श्रुतियों का सैद्धान्तिक विवरण प्राप्त होता है । भरत ने यद्यपि स्वर और श्रुतियों को अन्योन्याश्रित माना है, फिर भी भरतमत से स्वरों के पश्चात् श्रुतियों का क्रम है। आचार्य अभिनव गुप्त, विशाखिलाचार्य और मातृगुप्त आदि सभी विद्वान् भरत के अनुसार श्रुतियों को "स्वरान्तरगता" स्वीकार करते हैं[1] । इस प्रकार श्रुतियों के स्वरूप व संख्याएं वस्तुतः स्वरों को प्रभावी तथा बल प्रदान करने के लिए होती है । जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट ने उल्लेख किया है" Bharat ----- evidently believed that sruities were subscruient to svara, the very first topic; the nature of sruties the number of sruties in svar are recounted after svar.[2]
इस प्रकार इन सभी विद्वानों की दृष्टि में श्रुतियाँ स्वरों के लिए होती हैं ।

डॉ0 मुकुन्द लाट के अनुसार दत्तिल आदि आचार्यों ने स्वर किसी विशेष श्रुति पर स्थापित होने के कारण श्रुतियों का महत्व स्वर से अधिक माना है- क्योंकि श्रुतियाँ स्वरों को बल प्रदान करती है[3] कुछ विद्वानों के मत से श्रुतियों से सात स्वरों की प्राप्ति होती है "श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः सप्त" । डॉ0 मुकुन्द लाट ने आचार्य दत्तिल का उल्लेख इस संदर्भ में किया है -" Svara depended upon sruties and grama upon svara.[4]

---

1. ना0शा0 अभिनव भारती पृ0 - 12 "श्रुतयः स्वरेभ्योऽनन्तरमुक्ता" एतदाश्रयेणैव विशाखिलाचार्या ग्रामान्तरं श्रुतीरूदिदशतिस्म ।
2. दत्तिलम डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 73
3. दत्तिलम् पृ0 - 73 "Dattilam thought that sruties gave rise to svara.
4. ना0शा0 अभिनव भारती पृ0 - 11
5. दत्तिलम् - डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 73 He describes svara first them names the two grama.

इन विद्वानों की दृष्टि में स्वर की अपेक्षा श्रुतियों का महत्व है । जबकि भरत की दृष्टि में स्वर चूँकि स्वयं में एक स्वतन्त्र और सक्षम नाद है "स्निग्धमधुरः शुद्ध एवं स्वर इति वक्ष्यामः" इसी प्रसग में डॉ0 मुकुन्द लाट का उल्लेख है - Svaras were self-evident entities.

अर्थात् स्वर स्वयं में अपना साक्ष्य है । इसीकारण महर्षि भरत ने पहले स्वरों की, उसके वाद श्रुतियों और ग्राम की चर्चा की है । भरत-मत से सप्त स्वरों की निर्धारित श्रुतियाँ निम्न प्रकार से हैं षडज चतुश्रुतिक, ऋषभ त्रिश्रुतिक, गान्धार द्विश्रुतिक, मध्यम चतुश्रुतिक, पंचम चतुश्रुति, धैवत त्रिश्रुतिक, और निषाद द्विश्रुतिक[2] अर्थात् षडज की चार श्रुतियाँ ऋषभ की तीन श्रुतियाँ आदि । लेकिन भरत ने किसी भी श्रुतिविशेष पर किसी स्वर को स्थिर नहीं बताया । जिसका स्पष्टीकरण आचार्य अभिनव गुप्त ने किया है कि "ऋषभस्त्रिश्रुति" का अभिप्राय यह नहीं है, कि ऋषभ स्वर तीसरी श्रुति परस्थिति है क्योंकि स्वर श्रुति रूप अवयवों से उत्पन्न नहीं होता बल्कि ऋषभ स्वर के लिए भरतनिर्दिष्ट तीन श्रुतियां हैं । अतएव ऋषभ स्वर किसी श्रुति विशेष पर स्थिर न होकर तीनों श्रुतियों को ऋषभ समझना चाहिये[3] । अर्थात् भरत ने किसी भी स्वर के लिए निर्धारित सभी श्रुतियों को "स्वर" माना है ऋषभ की तीन श्रुतियाँ ऋषभ कहलाई जायेगी, अगर भरत किसी विशेष श्रुति पर स्वर की स्थिति मानते तो ऋषभ के लिए वे "तिस्त्रः श्रुतयः" न कहकर श्रुति विशेष "तृतीया" का उल्लेख करके तृतीया श्रुति पर ऋषभ स्वर की

---

1. दत्तिलम् - डॉ0 मुकुन्द लाट - पृ0 - 73 Svaras were self evident entities and they were arranged in two gramas on the basis of a slightly different sruti arragement.
2. ना0शा0 अभिनव भारती 28 चतुः श्रुति भवेत् षडज ऋषभस्त्रिश्रुतिः स्मृतः
3. ना0शा0 अभिनव भारती पृ0 - 21 श्रुतेः शब्दस्य श्रोत्रग्राहस्य उत्कर्ष तीव्रता आकर्षो मन्दता तद्धेतुत्वान्मार्दवायते तु द्वे अपि तथोक्ते । एवं तीव्रमन्दत्वहेतुभ्यां मार्दवायवत्वाभ्यां यदन्तरं यो विशेषाववोध प्रमाण निश्चायक यस्याः सा श्रुति ।

स्थिति का उल्लेख करते । अभिनव गुप्त पुनः आचार्य भट्ट का उल्लेख करते हुए मानते हैं कि स्वर स्वयं "स्वसंवेद्य" है और गायन के क्रम में स्वर और श्रुति का आभास बराबर होता है[1] । अतएव श्रुतियाँ स्वरान्तरगता होती है । संगीतोपयोगी ये ध्वनियाँ (श्रुतियाँ) निरन्तर स्वरों को बल प्रदान करती है जो गान के क्रम में कण्ठ, हृदय और मस्तिष्क में अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान रहकर गायन को सुमधुरता प्रदान करती है ।

भरत-दृष्टि से श्रुतियों का मूल उद्देश्य षडज ग्रामिक और माध्यम ग्रामिक स्वरों की भिन्नता बताना था । जैसा डॉ0 मुकुन्द लाठ का भी मत है[2] । इसीलिए भरत ने पंचम स्वर की श्रुति के उत्कर्ष व उपकर्ष से दोनों ग्रामों (षडज व मध्यक्राम) का अन्तर स्पष्ट किया है । "यथा श्रुतेः शब्दस्य श्रोत्र ग्राहस्य उत्कर्ष तीव्रता अपकर्षो मन्दता ------ प्रमाण निश्चायक यस्याः सा श्रुति[3]" अतएव श्रुति षडज और मध्यमग्राम के स्वरों के स्वरूप को पृथक् - पृथक् दर्शाती है । श्रुति विषयक इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए ही महर्षि भरत ने समान-गुण-धर्मवाली वीणाओं के द्वारा श्रुतियों का निरूपण किया, जिसे परवर्ती विद्वानों ने "सारणाचतुष्टयी" नाम दिया है ।

---

1. ना0शा0 अभिनव भारती - तदुक्तं भट्टतोतेन "श्रुतिः स्वरः सर्वसंवेद्या" इति गाने श्रोतृणां सर्वत्रापि स्वरूपावभासः ।

2. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 73 According to this view the primarg function of the sruti was to distin -guish one grama to another.

3. ना0शा0 अभिनव भारती पृ0 - 21 श्रुतेः शब्दस्य श्रोत्रग्राहस्य उत्कर्ष तीव्रता अपकर्षो मन्दता तद्धेतुत्वान्मार्दवायते तु द्वे अपि तथोक्ते । एव तीव्रमन्द-त्वहेतुभ्यां मार्दवायतत्वाभ्यां यदन्तरं यो विशेषाववोध प्रमाण निश्चायक यस्याः सा श्रुति ।

निष्कर्ष-

इस प्रकार महर्षि भरतनिर्दिष्ट "सप्त चस्वरा:" और उनमें द्वाविंशति (22) श्रुतियाँ विश्व भर के संगीत में आज तक मान्य है । श्रुतियाँ सात स्वरों का वली तथा प्रभावी बनाती हैं अतएव श्रुतियाँ स्वरान्तरगता हैं । स्वर स्वयं में साक्ष्य है Self-evident enlites । श्रुतियां की 22 संख्या का निर्धारण वैदिक प्रणाली के अनुसार किया गया है इसीलिए 22 श्रुतियाँ तथा सप्तस्वर पूर्ण वैज्ञानिक व्यवहारिक और संगीतमय है इसीलिए इनकी मान्यता है । सभी श्रुतियाँ स्वरों के लिए हें इसी कारण गान के क्रम में ये संगीतापयोगी ध्वनियाँ कंठ, हृदय और मस्तिष्क में अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान रहकर गायन-वादन को सुमधुरता प्रदान करती हैं ।

भरत-मत से श्रुतियों का मूल उद्देश्य स्वरों को बल प्रदान करना है तथा श्रुतियों का उद्देश्य षडज ग्राम और मध्यम ग्राम के स्वरों का अन्तर बताना है । "प्रमाणश्रुति" भी श्रुतियों की कम और अधिकता से प्राप्त होती है । इसीलिए भरत ने समान-गुण-धर्म वाली दो वीणाओं पर सप्त स्वरान्तर्गता 22 श्रुतियों का प्रयोग किया, जिससे परवर्ती विद्वानों ने "सारणा चतुष्टयी" का नाम दिया ।

एक महत्वपूर्ण तथ्य यह भी रहा कि भरत-मत से सप्तक के सभी स्वरों म "मध्यम" स्वर अविलोपी है अर्थात् इस स्वर का लोप अमान्य है जबकि सभी स्वर "जाति" के स्वरूप और व्यवहार के अनुसार लोपनीय है । जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा ।

सप्त स्वरों के आपसी सम्बन्ध-

महर्षि भरत के अनुसार एक सप्तक या ग्राम में 22 श्रुतियों के अन्तर्गत सात स्वर परस्पर सम्वाद्भाव से स्थित है । सात स्वरों के परस्पर सम्बन्ध के आधार पर स्वर चार प्रकार के हो जाते हैं तथा वादी-सम्वादी-अनुवादी और विवादी । यथा-

चतुर्विधत्वमेतेषां विज्ञेयं गाययोक्तृभिः
वादी चैवाथ संवादी विवादी चानुवाद्यपि[1] ।।

स्वरों के इन चतुर्विधि प्रकारों या भेदों के आधार पर जातियाँ अथवा रागों का गायन होता था । जातियों के गायन में कोई एक स्वर प्रधान होता था जिसे महर्षि भरत न "अंश" स्वर कहा है । इसी अंश स्वर को केन्द्र मानकर अन्य स्वरों की योजना की जाती थी इसी अंश स्वर को भरत ने वादी स्वर की संज्ञा दी है । इसी वादी या अंश स्वर के आधार पर श्रुतियों के माध्यम से स्वरों के आपसी सम्बन्धों का उल्लेख किया है जिसके उन्होंने पृथक्-पृथक् सूत्रों का उल्लेख किया है - "यो यत्रांश स तत्र वादी"[2] जो स्वर अंश या importent है वह वादी स्वर है । इसी प्रकार टीकाकार अभिनव गुप्त का मत है - "तत्र वादिनं लक्षयति यो यदांशश्चदा वादीति"[3] इसी प्रसंग में अभिनव गुप्त ने दत्तिल आदि आचार्यों के मतों का भी उल्लेख किया है - "अंश एवं हि वादीति दत्तिलाद्या"[4] ।

इन सभी आचार्यों के मतों से स्पष्ट है कि किसी भी जाति का अंश स्वर ही वादी है "वादी" शब्द का अर्थ है "वदति इति वादी" जो स्वर राग के स्वरूप को स्पष्ट करता है उसे "वादी" कहते हैं । इसीलिए सभी आचार्यों ने जाति के अंश स्वर को वादी माना है । आधुनिक विद्वान डॉ० मुकुन्द लाट का भी यही मत है- Where a svar is used copiously it is known as the vadi or the amsa.[5]

---

1. ना०शा० Oriented Series गायकवाड 28/22
2. " अभिनव भारती पृ० - 15
3. " अभिनव भारती पृ० - 16
4. ना०शा० अभिनव भारती पृ० - 16
5. दत्तिलम् डॉ० मुकुन्द लाट पृ० - 5

इस प्रकार जातिगायन का प्रधान स्वर वादी है । इस स्वर के साथ कोई एक अन्य स्वर प्रधान न होकर भी मुख्य सहयोगी स्वर के रूप में प्रयुक्त होने वाला स्वर सम्वादी कहलाता है । इसके अतिरिक्त इस जाति या राग के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले प्रायः सभी स्वर अनुवादी कहलाते हैं[1] ।

वादी स्वर के साथ प्रतिकूलता रखने वाला स्वर अर्थात् विरोधी भाव रखने वाला स्वरविवादी है । विरोधभाव रखने के कारण विवादी स्वर "वैरस्यजनक" होता है किन्तु बहुधा गायन के क्रम में विवादी स्वर का प्रयोग वैचित्र्य जनन के लिए भी किया जाता है, किन्तु भरत-कालीन संगीत में स्वरों के ये चार भेद श्रुतियों के आधार पर स्वीकार किये गये थे । किसी भी जाति का अंश स्वर निश्चित हो जाने पर उसी के आधार पर वादी-सम्वादी अनुवादी और विवादी स्वरों की प्राप्ति होती है जिसके लिए भरत ने पृथक्-पृथक् सूत्रों का उल्लेख किया है ।

"नवकत्रयोदशकमन्तरं तावन्योन्यं संवादिनो अर्थात् श्रुतियों के आधार पर वादी से नौ तथा तेरह श्रुतियों के अन्तराल पर जो स्वर प्राप्त होगा वह सम्वादी है । उदाहरणार्थ यदि किसी ग्राम या सप्तक में "सा" स्वर को अंश या वादी माना जाए तो इस स्वर से नौ और तेरह श्रुत्यन्तरका जो भी स्वर है वह "सा" स्वर का सम्वादात्मक स्वर सम्वादी होगा । नीचे स्वर - संस्थान से यह स्पष्ट होता है -

श्रुतियाँ	1 2 3 4	5 6 7	8 9	10 11 12 13	14 15 16 17	18 19 20	21 22
स्वर	सा	रे	ग	म	प	ध	नि

इस स्वर संक्रम में सा "स्वर" चौथी श्रुति पर स्थित है । सा स्वर के वाद श्रुतियों की गणना करने पर मध्यम (म) स्वरनवीं श्रुति पर और पंचम (प) स्वर तेरहवीं श्रुति पर

---

1. नाoशाo अभिनव भारती पृo - 15 तत्र या यदंशः स तदावादी । ययोश्च नवकत्रयो दशकमन्तरं तावन्योन्यं संवादिनो । ..... वादिसवादिविनादिषु स्थापितेषं शेषास्त्वनुवादिनः ।

आता है । अतएव इस स्वरसंस्थान में "सा" स्वर के मध्यम (म) और पंचम (प) स्वर सम्वादी स्वर समझे जाए । अतएव स-म का परस्पर सम्बन्ध नौ श्रुत्यन्तराल होने के कारण सम्वादात्मक है । डॉ0 मुकुन्द का लाट के मतानुसार ये स-म और स-प स्वरों के सम्वाद natural है जो "हारमोनिक्स" नियम के ऊपर आधारित हैं ।

नवश्रुत्यन्तराल स-म सम्बन्ध

```
1 2 3 4   5 6 7   8 9   10 11 12 13
-------|  -----|  ----|  -----------|
      सा       रे     ग             म
```

इसी प्रकार स-प सम्बन्ध 13 श्रुतियों के अन्तर का है । षडज स्वर से पंचम स्वर 13 श्रुतियों के अन्तर पर है अतएव स-प सम्वादी है । पाश्चात्य संगीत में भी स-म और स-प सम्बन्ध सम्वादात्मक माने गये हैं तथा जिन्हें 3:4 और 3:2 के रूप में दिखाया जाता है ।

---

1. विवादिनस्तु ये तेषां द्विश्रुतिकमन्तरं ना0 शा0 अभिनव भारती - पृ0 - 15

1. दत्तिलम 80 The Notion of samvada between svaras was evidently based on the harmonic law of natural accousto affinity, which exists between certain intervals in octane the ancient speak of two samvads. One between notes separated by nine sruties and another between notes separated by thirteen sruties. These are all now call sadaymalhgan samvads and saday pancham samvad.

तेरह श्रुत्यन्तराल स-प सम्बन्ध

```
              सा          रे      गा             म                 प
    1 2 3 4    5 6 7  8 9  10 11 12 13  14 15 16 17
```

इस प्रकार महर्षि भरत ने नौ और तेरह श्रुतियों के अन्तराल वाले स्वरों को परस्पर मधुर कहा है । अभिनव गुप्त का भी यही मत है[1] । किसी भी ग्राम या सप्तक में स्वरों का संवादात्मक रूप से व्यवस्थित रहना सांगीतिक दृष्टि से आवश्यक है । इसीलिए "भरत-ग्राम" में क्रमशः स-प, रे-ध, ग-नी, म-स के स्वर-युग्मों को तेरह श्रुत्यन्तर मानत हुए परस्पर सम्वादात्मक स्वर माने गये हैं[2] । इसी प्रकार द्विश्रुति अन्तर के स्वर विवादी माने गये हैं[3] । भरत निर्दिष्ट नवश्रुत्यन्तर स-म और तेरह श्रुत्यन्तर स-प के स्वर अभीष्ट "संवाद" युक्त हैं जिनकी मान्यता न केवल भारतीय संगीत में बल्कि विश्वभर के संगीत में स्वीकार की जाती है । पाश्चात्य संगीत में भी "स-म" और "स-प" स्वर-युग्म अभीष्ट स्वर सम्वाद के रूप में माने जाते हैं, जिन्हें वे Perfect Consonance के नाम से पुकारते हैं । अन्तर केवल यही है कि जहाँ भरत ने श्रुतियों के आधार पर स्वरों के आपसी सम्बन्धों को स्वीकार किया है वहाँ पाश्चात्य संगीतज्ञों ने वैज्ञानिक उपकरणों की सहायता से स्वरों की आन्दोलन संख्या Frequencies से स्वरों के आपसी सम्बन्ध को मान्यता दी है। विवादी स्वरों को पाश्चात्य संगीत में Dissonance या विसम्वाद स्वर कहा जाता है ।

---

1. ना0शा0 पृ0 - 16 तेन नवश्रुतिकं चस्य स्वरूपं स्वरस्य यस्य च त्रयोदश श्रुति स्वरूपं तौ स्वरौ परस्परसंवादिनौ"
2. ना0शा0 28 पृ0 - 15 "षडज पन्चमो, ऋषभ धैंवतौ गान्धारनिषादवन्तौ, षडजमध्यमाविति"
3. ना0शा0 28 पृ0-15 विवादिनस्तु ते येषां दिश्रुतिकमन्तर - तद्यथा ऋषभ-गन्धारौ, धैवतनिषादे"

महर्षि भरत-निर्दिष्ट संगीत - सिद्धान्तों और सूत्रों की मान्यता आज भी इस कारण से है, कि उन्होंने संगीत सम्बन्धित जो भी जानकारी रक्खी वह सब उनके स्वानुभव का परिणाम था । इसी कारण स्वरों के आपसी सम्बन्धों को भी मुनि भरत ने कंठ तथा कर्ण जैसे जीवित उपादानों से अनुभूत करके उनके निर्णय दिये इसी लिए उन्होंने स्वरों के सम्बन्ध में श्रुति जैसी सूक्ष्म ध्वनियों को महत्व दिया है । बल्कि किसी भी जाति के वादी स्वर से श्रुतियों की गणना करने पर सम्वादी अनुवादी और विवादी स्वरों की प्राप्ति स्वयमेव हो जाती है ।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि भरत-ग्राम में सप्त स्वरों के परस्पर सम्बन्ध के लिए वादी - सम्वादी आदि चार श्रेणियाँ निर्धारित की गई है जिनके सूत्र निम्न है - "नवकत्रयोदशकमन्तरं तावन्योन्यं संवादिनौ" विवादिनस्तु ते तेषां द्विश्रुतिकमन्तरे" और वादिसवादि विवादिषु स्थापितेषु शेषास्त्वनुवादिनः[1] अर्थात् किसी जाति या राग का प्रधान या अंश स्वरवादी है, वादी स्वर से नौ तथा तेरह श्रुतियों पर उसका सहयोगी स्वर सम्वादी होता, वादी स्वर से द्विश्रुति अन्तर पर विवादी स्वर है[2] । वादी, सम्वादी और विवादी के निर्णय के पश्चात् जो स्वर बचते हैं वे अनुवादी स्वर कहलाते हैं । स्वरों की इसी श्रेणी के आधार पर अभिनव गुप्त ने मुख्य स्वर वादी को स्वामी सहयोगी स्वर सम्वादी को मन्त्री तथा शत्रुभाव रखने के कारण विवादी को शत्रु तथा अवशिष्ट स्वरों को परिजन की उपाधि से विभूषित किया है[3] ।

---

1. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका - पृ0 - 15
2. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका पृ0 - 15 द्विश्रुतिकमन्तरं तद्यथा ऋषभगान्धारौ धैवतनिषादौ"
3. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका पृ0 - 18 यत्र वादी स्वामी, अमात्य इवेतरोऽनुयायी संवादी अरिवद्विवादीत्वल्पः अनुसारिपरिजन इव योगवादी चेति विभागः"

इस प्रकार भरत कालीन जातियों में स्वरों को सम्वाद और विवादभाव से प्रयुक्त किया जाता था स्वरों के ये सम्वाद और विवाद कान और कंठ से पूर्णतः अनुभूत होने के कारण अपने आप में सिद्ध थे । अभिप्राय है, कि यद्यपि भरत ने नौ और तेरह श्रुन्तराली स्वरों के सम्वाद के लिए कोई तर्क नहीं दिया फिर भी एक सप्तकान्तर्गत स्वरों के मध्य रहने वाले स-प स-म सम्वाद यह सिद्ध करते हैं कि नवश्रुति और तेरह श्रुति अन्तर के स्वर सांगीतिक दृष्टि से मधुर या इष्ट है । इसी कारण आज तक स्वरों के इन सम्वादों की मान्यता है । पंडित आहोवल ने लिखा है कि षडज-पंचम और षडजमध्यम सम्वादों से ही स्वरों की सम्वादात्मकता समझी जाती है यथा- "षडजपंचम भावेन ज्ञेया स्वराः"

हमारी वर्तमान हिन्दुस्तानी संगीत के रागों में भी स्वरों के इन सम्वादों की मान्यता है अन्तर केवल यही है, कि हम इन सम्वादों को वादी-सम्वादी युग्म से जानते हैं । प्रचलित विलावत सप्तक में भी सभी स्वरों को सम्वादात्मक ढंग से प्रयुक्त किया जाता है । पंडित विष्णु नारायण भातखण्डे जी ने भी इसी कारण इन स्वरों की व्याख्या "अभिनय राग मंजरी" में की है यथा-

"वादी स्वरस्तु राजा स्यान्मन्त्री संवादिसंज्ञितः ।
स्वरो विवादी वेरी स्यादनुवादी च भूत्यवतः

अर्थात् वादी राजा, सम्वादी मन्त्री विवादी शत्रु और अनुवादी सेवक । हांलाकि आज की रागपद्धति में इन चार स्वरों का शास्त्रीय और व्यवहारिक प्रयोग किया जाता हे । किन्तु श्रुतियों जैसी सूक्ष्म ध्वनियों के आधार पर वादी-सम्वादी आदि स्वरों की जो मान्यता भरत-कालीन ग्राम तथा जातियों में थी उसका आज सर्वथा अभाव है । उसका मूल कारण सम्भवतः विद्यालय और विश्वविद्यालयों में दी जाने वाली संगीत की सामूहिक शिक्षा तथा पाश्चात्य संगीत के स्वरों का प्रभाव । यही कारण है कि प्रचलित शुद्ध स्वर सप्तक विलावत के स्वरों में आचार्य वृहस्पति को विसंगति दिखाई दी ।

भरत निर्दिष्ट स-प और स-म सम्वाद के सम्बन्ध में डॉ0 मुकुन्द लाट आचार्य दत्तिल के मतानुसार विवरण देते हैं कि प्राचीन ग्रन्थकार इन दोनों सम्वादो स-प - स-म को आवश्यक मानते हैं यद्यपि इसका कोई कारण नहीं दिया। वह पुनः कहते हैं कि सम्भवतः दो ग्रामों (षडज तथा मध्यम ग्राम) की भिन्नता का कारण न केवल श्रुतियों की भिन्नता है बल्कि स्वर-सम्वादों की भिन्नता के कारण दो ग्राम बने ।

यही कारण है कि षडजग्राम में तेरह श्रुत्यन्तराल का स-प सम्वाद है और मध्यम ग्राम में नौ श्रुति अन्तर के स-म और रे-प का सम्वाद है[1] ।

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 80-81 This the ancient do not speak of, though musicians must have been aware of it ----- the structure of the two gramas were defined, not only by the different sruti-intervals existing between same svars but also by their slightly differing samvads this is, evidently, the reason why Dattila notes the samvadi relations as an aspect of the topic grama ------------- the sadaz grama we see that 'pa' is located on the thirteen sruties counting from 'sa'----- Bharat and Datula have called the thirteen sruti intervals ---- In the madhgam grama like wise, Pa in relation to sa, is on the twelth sruti. Hence the sadaz- Pancham's samvad does not obtain, but ri in this grama has the required nine sruti interval with pa and hence the pair were samvadi. This was the only samvada which differred bitween the two gramas.

भरत निर्दिष्ट ग्राम

ग्राम शब्द का अभिप्राय आधुनिक भारतीय संगीत के सप्तक से लगाया जा सकता है, जिसमें स-रे-ग-म-प-ध-नी ये सात स्वर सम्वादित रूप से व्यवस्थित हैं ।

"नाट्यशास्त्र" में यद्यपि "ग्राम" शब्द का पारिभाषिक विवेचन नहीं प्राप्त होता है फिर भी भरत के परवर्ती विद्वानों ने भरत-निर्दिष्ट "ग्राम" के आधार पर "ग्रामों" की विवेचना की है । सर्वप्रथम मुनि मतंग ने "वृहद्दशी" में लिखा है "समूहवाचिनौ ग्रामौ स्वरश्रुत्यादि"[1] अर्थात् ग्राम स्वर और श्रुतियों का समूह है । इस सम्बन्ध में डॉ0 मुकुन्द लाट का भीयही मत है[2] ।

पंडित शारंगदेव ने "संगीतरत्नाकर" में लिखा है "ग्राम एव स्वर समूह स्यात मूर्च्छनादि समाश्रय:"[3] अर्थात् ग्राम स्वर और श्रुतियों का वह समूह है जो मूर्च्छना आदि का आश्रय है पंडित शारंगदेव ने दो ग्रामों के अलावा तीसरा ग्राम "गान्धार ग्राम" का भी उल्लेख किया है । जो प्रचार में नहीं रहा ।

महर्षि भरत ने ग्राम की विवेचना न करके दो ग्रामों की चर्चा की है। "अथ द्वौ ग्रामविति"[4] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है, कि दो "ग्राम"

---

1. वृहद्देशी मुनिमतंग
2. दत्तिलम् डॉ0 कुमुन्द लाट - 72 The two gramas, says Mantangs were two groupings consisting of certain specific arrangement of svaras measured by sruties.
3. संगीतरत्नाकर पंडित शारंगदेव 1/3/1 पृ0 - 99
4. ना0शा0 अभिन्व गुप्त टीका पृ0 - 15
   अथ द्वौ ग्रामौ, षडजग्रामों मध्यमग्रामच्चेति

स्वरो की दो Groupings या समूह है जिसमें 22 श्रुतियों का स्वरूप व्यवस्थित रहता है । जैसे अभिनव गुप्त ने लिखा है "तत्रस्वर मात्रं कुत्रचिद् दृष्टादृष्टयोरूपयोऽयपि तु तत्समूह एवं तु प्रयोग उपयोगी तत्स्वराणां समूहो ग्राम"[1] ग्राम स्वर और श्रुतियों का वह समूह या Group हैं जिससे मूर्च्छना, वर्ण, अलंकार आदि का स्वरूप बनता है । "ग्राम" ही आगे चलकर आधुनिक भारतीय संगीत में सप्तक और पाश्चात्य संगीत में Scale के रूप में प्रचार में आया ।

किन्तु आधुनिक भारतीय संगीत में जो सप्तक प्रचलित हुआ उसमें भरत-निर्दिष्ट ग्राम की अपेक्षा पाश्चात्य संगीत के Scale का प्रभाव अधिक है[2] क्योंकि आधुनिक ग्राम या सप्तक में "षडज" स्वर को Initial Sound के रूप में मान्यता दी गई है । षडज स्वर के साथ पंचम स्वर को भी अचलत्व प्रदान किया जाता है ।

आज भी राग - पद्धति में यह नियम है कि "षडज स्वर" को छोड़कर सप्तक के किसी भी स्वर को वर्जित करके राग-गायन करने की प्रथा है । अतएव सात स्वरों में केवल षडजस्वर" ही अचलत्व को प्राप्त करके Initial Sound का स्वरूप प्राप्त करता है । इसी कारण षडजस्वर को Basic स्वर की भी संज्ञा दी जाती है । साथ ही सप्तक के अन्य छः स्वरों का आपसी सम्बन्ध भी "षडजस्वर" से स्थापित किया जाता है । "षडज" स्वर को केन्द्र मानते हुए रागों का प्रस्तार

---

1. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका पृ0 - 18

2. दत्तिलम् पृ0 - 74 In the notion of absolute pitch as it has conventionly and customarily came to be fixed for each note in the westen system. His system was like one which still persists in India where saday is fixed at any conveniant pitch.

और विस्तार करने की प्रथा भी आधुनिक राग-पद्धति में है जिसका संकेत डॉ0 मुकुन्द लाट ने किया है[1] ।

जबकि भरत-निर्दिष्ट जातिगायन में "गृह" एवं अंश इन दो स्वरों को आधार मानते हुए जाति का प्रस्तार किया जाता था । इस दृष्टि से किसी भी जाति का कोई भी स्वर अंश या ग्रह की श्रेणी में आ सकता था । आधुनिक संगीत परम्परा की भाँति किसी स्वर विशेष को अचलत्व प्रदान नहीं किया जाता था । इसी कारण भरत-संगीत में (द्वौ ग्रामौ) दो ग्रामों की व्यवस्था का विधान था जिसमें यथा समय सभी स्वरों का महत्व था । षडज और मध्यम ग्राम का उद्देश्य सात स्वर एवं 22 श्रुतियों का व्यवहारिक, वैज्ञानिक और सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत करना था । क्यों कि भरत की दृष्टि में गान्धर्व का मूल ध्येय "श्रोतृसुखावह" था जिसे प्राप्त करने के लिए स्वर एवं श्रुतियों का सम्यक् ज्ञान व अभ्यास अपेक्षित होता है, जिसका उल्लेख आचार्य अभिनव गुप्त ने किया[2] इस संदर्भ में अभिनव गुप्त ने मातृगुप्त के मत का भी प्रतिपादन किया यथा -

---

1. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 72 The notion of grams is difficult for us to understand we no longer have gramas ----- there was basic difference with the modern system saday once established was not constant time, the fixed centre round which all other notes evolved and on the basis of which they had their being saday.

2. ना0शा0 अभिनव भारती पृ0 - 21 "श्रुतय: स्वरान्तगता" इति संप्ताश्रयता-स्वरगतां इति "अन्तरगतास्वन्या" इति गाने तु श्रोत्रसुखावहोऽनेन विभागेन प्रयोजनम् ।

"हीयमाने स्वरे श्रोतु: स्वसंवेद्योऽणुश: क्रम: ।
श्रूयमाण: पुनर्नाद एक एवाद्य रन्जित:[1] ।।

अर्थात् -

अभिप्राय यह है, कि एक ग्रामान्तर्गत स्वर - श्रुतियों का मूल प्रयोजन "श्रोतृसमुखावह" है । इसीलिए इन आचार्यों ने श्रुतियों को "स्वरान्तर्गता" "सप्ताश्रयतास्वरगता" आदि के रूप में मान्यता दी है । विशाखिल आदि आचार्यों के मत का उल्लेख भी अभिनव गुप्त ने किया है, कि गान्धर्व या संगीत पूंछना है श्रुतियों का प्रयोग स्वरों को और अधिक स्पष्ट करना था[2] ।

इसी कारण भरत ने दो ग्रामों षडज व मध्यम) के अन्तर्गत 22 श्रुतियों की विद्यमानता का उल्लेख किया है[3] । यही नहीं षडज और मध्यम ग्रामिक स्वरों में 22 श्रुतियों का क्या महत्व व उपयोग है इसके लिए भरत ने समान गुण-धर्म वाली दो वीणाओं (चल एवं अचल) द्वारा प्रयोग किया है जिसे परवती विद्वानों ने "सारणाचतुष्टयी" नाम दिया इस प्रयोग के परिणाम स्वरूप स्वरों के चतुश्रुतिक त्रिश्रुतिक और द्विश्रुतिक स्वरूप प्राप्त होते हैं[4] । जो सम्वाद तत्व पर भी निर्भर है तथा

---

1. ना0शा0 अभिनव भारती मातृगुप्त मता पृ0 - 2।
2. ना0शा0 अभिनव भारती पृ0 - 2। तत्र गान्धर्वे श्रुतावेवान्त्ययां स्वरस्पुटतां दायिन्यामवधातव्यं इति विशाखिलाचार्य प्रभ्रतय ऊचु ।
3. ना0शा0 पृ0 - 15 अथ द्वौ ग्रामौ षडज ग्रामौ मध्यग्रामश्चेति । अद्धाश्रिता द्वाविंशति श्रुतय: स्वरमण्डल साधिता ।
4. ना0शा0 अभिनव भारती पृ0 - 23-24 एवं धुववीणा श्रुतेरियतात्र (स्फुटीकृता) भवति । द्विश्रुतिभिस्त्रिश्रुतिचतुश्रुतिस्वरूपं च श्रुतेरियत्ता (निर्धारणा) स्फुटीकरणार्थ प्रस्तारादेव दृश्यते ।

"सामगान" में प्रयुक्त होने वाले उदात्त अनुदात्त - और स्वरित स्वरों का भी संकेत देते हैं । इस संदर्भ में आचार्य वृहस्पति का कथन दृष्टव्य है "चतुः श्रुति अर्थात् षडज मध्यम और षडजग्रामीय पंचम उदात्त है क्यों कि अपने पूर्ववर्ती स्वर की अपेक्षा इन स्वरों की ऊँचाई द्विश्रुति अथवा त्रिश्रुतिक स्वरों की ऊँचाई की अपेक्षा अधिक है ।

द्विश्रुति स्वर गान्धार और निषाद अपने पूर्ववर्ती स्वरों से ऊँचे तो हैं, परन्तु उनकी ऊँचाई चतुश्रुतिक अथवा त्रिश्रुतिक स्वरों की अपेक्षा नीची है इसी नीचाई के कारण ये अनुदात्त है । त्रिश्रुतिक स्वर स्वरित हैं, क्योंकि पूर्ववर्ती स्वर की अपेक्षा इनकी ऊँचाई द्विश्रुतिक स्वरों की ऊँचाई से अधिक, चतुश्रुतिक स्वरों की ऊँचाई से कम है । इस प्रकार उच्चता और नीचता का समाहार होने के कारण ऋषभ और धैवत स्वर "गान्धर्व" में स्वरित हैं[1] । परिणामतः भरत-निर्दिष्ट ग्रामों में प्रयुक्त होने वाले क्रमश. चतुश्रुतिक त्रिश्रुतिक और द्विश्रुतिक स्वरों में एक ओर सामवेदीय उदात्त अनुदात्त और स्वरित की अनुकृति है, तो दूसरी ओर पाश्चात्य संगीत । प्रयुक्त होने वाले Major-Minor and semi tone जैसे स्वरों के भी स्वरूप प्राप्त होते हैं । इससे सिद्ध होता है कि विश्व भर के संगीत के स्वर व श्रुतियाँ भरत-निर्दिष्ट स्वर और श्रुतियों की अनुकृतियाँ हैं ।

भरत ने कहीं पर भी न तो श्रुतियों के नामों का उल्लेख किया और न ही आधुनिक संगीत में प्रयुक्त षडज की तरह ग्राम के किसी स्वर-विशेष को अचलत्व (Initiality of Saday) प्रदान किया क्योंकि भरत-निर्दिष्ट गान्धर्व में प्रत्येक स्वर का मूल्य था आज की तरह चतुश्रुतिक षडज 'गान्धर्व' में नहीं था आवश्यकतानुसार इस स्वर को छोड़ा भी जा सकता था जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट ने

---

1. संगीत चिन्तामणि आचार्य वृहस्पति पृ0 - 96

उल्लेख किया है[1,2] । जब कि आज की राग-पद्धति में षडज को केन्द्र मानते हुए राग - विस्तार किया जाता है । षडज स्वर को छोड़कर राग के सभी स्वर वर्ज्य किये जा सकते हैं । अभिप्राय यह है कि आज की संगीत परम्परा में व्यवहृत सप्तक में श्रुतियों का वह मूल्य व महत्व नहीं देखा जाता जो भरतकालीन ग्रामों में था । आज का सप्तक शुद्ध और विकृत 12 स्वरों पर आधारित हैं तथा षडज स्वर " Initial Sound " के रूप में अचल माना जाता है जबकि गान्धर्व में षडज और मध्यम ग्रामों की व्यवस्था थी जिसके अन्तर्गत सात स्वर और 22 श्रुतियों का महत्व था । षडज तथा मध्यम ग्राम में षडज तथा मध्यम ये दोनों स्वर ग्राम स्थापना की प्राप्ति कराने वाले स्वर समझे जाते थे[3] । यह कहा जा सकता है कि आधुनिक संगीत-सप्तक पर पाश्चात्य संगीत (Scale) का प्रभाव दिखाई देता है- जैसा डॉ० मुकुन्द लाट का मत है[4] ।

---

1. दत्तिलम् डॉ० मुकुन्द लाट पृ० - 74 Sadaz is ancient system was no more important than any other note and could also be dropped if necessary.
2. दत्तिलम् डॉ० मुकुन्द लाट पृ० - 76 After the svars were arranged with in a grama, any note could evidently be given the status of the tonic, none of the notes appears to have been constent adharsruti like the moderm 'Sa'.
3. संगीत चिन्तामणि आचार्य वृहस्पति पृ० - 64
   दोनों ग्रामों में षडज और मध्यम ग्रामणी (ग्राम में प्रधान, ग्राम के आधार-भूत, ग्राम स्थाना की प्राप्ति कराने वाले) होते हैं और अन्य स्वर इनके पश्चात् हैं ।
4. दत्तिलम् डॉ० मुकुन्द लाट - His system was like the one which still persists in India, where saday is fixed.

दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य है कि भरत ने श्रुति-संख्या-निर्देश में पूर्ववर्ती स्वर की अपेक्षा परवर्ती स्वर की श्रुतियों का उल्लेख करके परवर्ती स्वर की ऊँचाई बताना अधिक उपयुक्त समझा अर्थात् भरत ने रे - ग - म - प - ध - नी के वाद सा की श्रुतियों का उल्लेख किया[1] यानी षडजग्रामीय स्वरों की श्रुतियों की गणना करते समय भरत ने रे 3, ग 2, म 4, प 4, ध 3, नी 2 और सबसे वाद में षडज की 4 श्रुतियों का उल्लेख करना इस तथ्य का संकेत करता है कि पूर्ववर्ती स्वर की तुलना में परवर्ती स्वर की ऊँचाई बताना अधिक उपयुक्त है जैसा आचार्य वृहस्पति जी का कथन है "श्रुति-संख्या"- निर्देश का प्रयोजन पूर्ववर्ती स्वर की अपेक्षा परवर्ती स्वर की ऊँचाई बताना है फलतः किसी ध्वनि की गृहीत रूप में षडज की संज्ञा देने के पश्चात् ही परवर्ती स्वरों की ऊँचाइ बताया जाना सम्भव है । अतएव ऋषभ की श्रुतियाँ बताने की उपयुक्तता है, क्यों कि उससे पूर्ववर्ती स्वर षडज को स्थापित कर लिया है, षडज की श्रुतियाँ सबसे पश्चात् अर्थात् निषाद की सत्ता के अनन्तर बताई गई है"[2] । आचार्य वृहस्पति के अनुसार श्रुति-संख्या-निर्देश का दूसरा प्रयोजन दोनों ग्राम की अन्तर - मूर्च्छनाओं का प्रतिपादन करना था[3] ।

षडज तथा मध्यम ग्राम-

षडज ग्राम में स्वर और श्रुतियों की व्यवस्था के संबंध में भरत-मत से षडज स्वर 4 श्रुतियों, ऋषभ तीन श्रुति, गान्धार 2 श्रुति, मध्यम 4 श्रुति, पंचम 4 श्रुति,

---

1. ना0शा0 अभिनव भारती 20/24 तिस्त्रो द्वे च स्तयच चतस्त्रीस्तस्त्रएव च द्वे चेवाथ चतसृत्रश्च षडजग्रामे भवेद्विधि ।
2. ज्ञानो चिन्भमी पृ0 - 64
3. संगीतचिन्तामणि आचार्य वृहस्पति पृ0 - 64

धैवत 3 श्रुति और निषाद 2 श्रुतियों का था[1] । इस प्रकार षडजग्रामीय स्वर-श्रुतियों का क्रम निम्न था स, म, प ये तीन स्वर चतुश्रुतिक, रिषभ तथा धैवत त्रिश्रुतिक और गान्धार तथा निषाद द्विश्रुतिक थे । भरत के इसी सूत्र के अनुसार परवर्ती विद्वानों ने "चतुश्च - चतुश्च चतुश्चैव षडज मध्यम पन्चमा, द्वे - द्वे गान्धारनिषादौ त्तिस्त्री ऋषभधैवतौ" श्लोककी रचना की ।

मध्यग्रामिक स्वर-श्रुतियों के लिए नाट्यशास्त्र (अभिनवगुप्तटीका) में कोई ऐसा शलोक नहीं है जिसमें मध्यम ग्राम के स्वरों की श्रुतियों का उल्लेख किया गया हो । मध्यम ग्राम की श्रुतियों के लिए भरत ने पंचम स्वर को एक श्रुति कम करने का लक्षण दिया है[2] । अर्थात् षडजग्रामिक स्वर और श्रुतियों के क्रम में चतुश्रुतिक पंचम को एक श्रुति कम करके तथा धैवत स्वर को चतुश्रुतिक मानने पर मध्यम ग्राम के स्वर - श्रुति-संक्रम प्राप्त हो जाता है । इस संदर्भ में बाबूलाल शुक्ल शास्त्री ने नाट्यशास्त्र "हिन्दी प्रदीप व्याख्या" में मध्यमग्रामिक स्वर और श्रुतियों के लिए उल्लेख किया है कि मध्यम ग्राम में मध्यम स्वर के लिए 4 श्रुतियों, पंचम के लिए 3 श्रुतियाँ धैवत के लिए 4 श्रुतियाँ निषाद के लिए 2, षडज स्वर के लिए 4 श्रुतियों, रिषभ की ३ श्रुतियों और गान्धार स्वर की 2 श्रुतियाँ हैं[3] । इस प्रकार गान्धर्व में भरत-

---

1. ना०शा० अभिनव भारती 28/25,26
   चतुः श्रुतिर्भवेत् षडज ऋषमस्त्रिश्रुतिः स्मृतः ।
   द्विश्रुतिश्चैव गान्धारो मध्यमश्च चतुः श्रुतिः
   पञ्चमस्तद्वदेव स्यात् त्रिश्रुति धैवतो मतः
   द्विश्रुतिश्च निषाद स्यात् षडजग्रामे विधिभवेत् ।
2. ना०शा० पृ० - 21 एवं श्रुत्यपकृष्टः पन्चम इति मध्यम ग्रामस्य लक्षणम् ।
3. नाट्यशास्त्र हिन्दी प्रदीप व्याख्या चौखम्भा प्रकाशन, बाबूलाल शुक्ल शास्त्री 28/27, 28
   चतुश्रुतिस्तु विज्ञेयो मध्यम पन्चम पुंनः
   त्रिश्रुति धैवतस्तु स्याच्चतुश्रुतिक एव च
   निषाद षडजो विज्ञोयो द्विचतुः श्रुतिसम्भवो
   ऋषभस्त्रिश्रुतिश्च स्यात् गान्धारो द्विश्रुति तथा ।

निर्दिष्ट षडज तथा मध्यम ग्रामिक स्वर तथा उनकी श्रुतियों को निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है यथा -

षडयग्रामिक स्वर व उनकी श्रुतियाँ-

स्वर   रे - ग - म - प - ध - नी - स

श्रुतियाँ   3 - 2 - 4 - 4 - 3 - 2 - 4

मध्यमग्रमिक स्वर व श्रुतियाँ-

स्वर   म - प - ध - नी - स - रे - ग

श्रुतियाँ   4 - 3 - 4 - 2 - 4 - 3 - 2

उपरोक्त दोनों ग्रामों के स्वर और श्रुतियों को देखने से विदित होता है कि दोनों ग्रामों के प - ध इन दो स्वरों की श्रुतियों में भिन्नता है अन्य स्वरों की श्रुतियाँ समान है । अर्थात् षडज ग्रामिक (प) चतुश्रुति है तथा " ध " त्रिश्रुति और मध्यम ग्रामिक (प) त्रिश्रुति और " ध " चतुश्रुति । दूसरी भिन्नता - षडजग्राम में षडज स्वर आधार स्वर है और मध्यम ग्राम में मध्यम स्वर आधारभूत है अन्य स्वर इन दोनों स्वरों के पश्चात् आते हैं । षडज और मध्यम स्वरों के प्रधान होने के कारण ही इन दोनों ग्रामों को क्रमशः षडज और मध्यम ग्राम कहा गया । जैसा आचार्य वृहस्पति ने मतंग के मत का उल्लेख किया है । षडज ग्राम में षडज स्वर इत्यादि स्वरों से तथा मध्यम ग्राम में मध्यम इत्यादि स्वरों से आरम्भ होने वाली सात-सात मूर्च्छनाएं होती है नाम के अनुसार दोनों ग्रामों के ग्राम - स्थापना की प्राप्ति कराने वाले षडज तथा मध्यम स्वर होने के कारण इन ग्रामों का नाम पड़ा[1] ।" आचार्य वृहस्पति ने षडज एवं मध्यम स्वरों

---

1. संगीत चिन्तामणि आचार्य वृहस्पति पृ0 - 65 षडजग्रामे षडजाद्या सप्तमूर्च्छना मध्यमग्रामे मध्यमा (मध्यमाद्या)

को "ग्रामणी" संज्ञा दी है[1] अर्थात् ग्राम प्राप्ति कराने वाला स्वर । यही नहीं षडज ग्राम में षडज स्वर को और मध्यम ग्राम में मध्यम स्वर को आधार लेकर द्वैग्रामिक स्वरों का क्रम है । इस सन्दर्भ में डॉ0 मुकुन्दलाट ने लिखा है - षडज ग्राम में रिषभ स्वर षडज स्वर से तीन श्रुति ऊँचा है, रिषभ से दो श्रुति ऊँचा गन्धार, गन्धार से चार श्रुति ऊँचा मध्यम, मध्यम से चार श्रुति ऊँचा पंचम, पंचम से तीन श्रुति ऊँचा धैवत और धैवत से दो श्रुति ऊँचा निषाद है और इन सभी स्वरों की ऊँचाई षडज स्वर की गृहीत ध्वनि को चार श्रुतिक परिभाण में स्वीकार किया गया है[2] ।

इसी प्रकार मध्यम ग्राम में मध्यम स्वर से आरम्भ करते हुए क्रमशः म-प-ध-नी-सा-रे-ग स्वीकार किया गया है ।

तीसरी भिन्नता - षडज ग्राम में षडज - पंचम सम्वाद है जो तेरह श्रुत्यन्तर का है । तथा मध्यम - ग्राम में षडज - रिषभ का सम्वाद है । तद्वत ग्राम के अन्यस्वर परस्पर भाव से जुडे हुए हैं[3] । इस प्रकार महर्षि भरत ने षडज तथा मध्यम ग्राम

---

1. संगीत चिन्तामणी - आचार्य वृहस्पति पृ0 - 122 ग्रामणी स्वर (ग्राम-नी = ग्रामणी) अर्थात ग्राम का नेता मार्गदर्शक व्यवस्थापक:
2. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 5 Resabha is the third higher sruti beginning with the sound accepted as the saday ---- from Resabha the second higher sruti is gandhar, from gandhar the fourth is madhyam. Again from madhaym is pancham from which Dhauater is three sruties higher still from Dhauater is Nishad, higher by two sruties.
3. ना0शा0 28/23 संवादो मध्यमग्रामे षजस्यर्षभस्य च
   षडजग्रामे तु षडजस्य संवादः पल्वगस्य ।

के स्वर व श्रुतियों का स्वरूप स्पष्ट किया है । इन दोनों ग्रामों के स्वरों का प्रयोग तत्कालीन जातियों में किया जाता था ।

षडज तथा मध्यम ग्राम के अतिरिक्त भरत के परवर्ती विद्वानों ने गन्धार-ग्राम का भी उल्लेख किया है । किन्तु भरत ने "नाट्यशास्त्र" में "गन्धारग्राम" का उल्लेख नहीं किया । पंडित शारंगदेव ने "गान्धारग्राम" का उल्लेख किया है । किन्तु उसे दिवंगत बताया है"[1] इसी प्रकार आचार्य अभिनव गुप्त ने गन्धार ग्राम को निरस्त बताया हे अर्थात् अप्रचलित[2] । इस सम्बन्ध में डॉ0 मुकुन्द लाट ने भी षडज तथा मध्यमग्राम की विवेचना की है किन्तु "गन्धारग्राम" को वे भी "लोप" बताते हैं[3] ।

विद्वानों के इन उद्धरणों से संकेत मिलता है कि यदि माना जाए कि भरत से पूर्व गान्धार ग्राम का प्रचलन रहा होगा, परन्तु भरत काल में "गन्धार ग्राम" का स्वरूप स्पष्ट न होने के कारण "गान्धार ग्राम प्रचार में न आ सका, इसी कारण महर्षि भरत ने इस ग्राम का उल्लेख न करके केवल षडज और मध्यम ग्राम इनका विस्तार से विवेचन किया । "गान्धार ग्राम" को स्वर्गस्थ कहकर छोड़ दिया - "स्वर्गान्नान्यत्र गान्धारो"

---

1. संगीत चिन्तामणि पृ0 199 शारगदेव ने इस ग्राम (गान्धार ग्राम) की चर्चा की है परन्तु उसे दिवगंत बताया है ।

2. ना0शा0 पृ0 - 18 दो ग्राम (षड्ज व मध्यम ग्राम) गान्धारग्राम निरस्यति ।

3. दत्तिलम् पृ0 - 5 There are two gramas, sadaz and madhyam. Some speak of also gandhar gram but. That is not to be found in this world.

अतएव भरतकाल में षडज तथा मध्यमग्रमिक स्वरों का प्रचार होने के कारण इन्हीं दो ग्रामों का विवेचन हुआ । इन दोनों ग्रामों के अन्तर का मुख्य कारण पंचम स्वर का "श्रेत्यकृष्ट" होना था । षडजग्रामिक जो पंचम चतुश्रुतिक था वही "पंचम" मध्यमग्राम में तीनश्रुतिक हो जाता है तथा धैवत स्वर पंचम की एक श्रुति ग्रहण करने पर चतुश्रुतिक हो जाता हे । अर्थात् षडजग्रामी पंचम चार श्रुतियों का तथा धैवत तीन श्रुतियों का है तो मध्यमग्रामी पंचम तीन श्रुतियों का धैवत चार श्रुतिक हो जाता है । इस संदर्भ में आचार्य वृहस्पति ने मतंग के कथन को स्पष्ट करते हुए लिखा है दो ही ग्राम क्यों हैं ? उत्तर यह हे कि दो स्वरों (पंचम और धैवत के प्रयोग में) षडज ग्राम में चतुः श्रुति पंचम, त्रिश्रुति धैवत्, और मध्यमग्राम में त्रिश्रुति पंचम और चतुः श्रुति धैवत । प्रयोग के कारण दो ही ग्राम बताए गये हैं"[1] इस प्रकार षडज ग्राम में पंचम चतुश्रुतिक हे और मध्यमग्रामी पंचम तीन श्रुतियों का है । अतएव इन दोनों ग्रामों के पंचम में एक श्रुति का अन्तर है । इस एक श्रुति-अन्तर को भरत ने "प्रमाणश्रुति कहा है, जो पंचम के एक श्रुति आयतत्व (चढ़ने) और एक श्रुति मार्दिवत्व (उतरने) से प्राप्त होता है[2] । षडज और मध्यमग्रामी पंचम के एक श्रुत्यन्तर को स्पष्ट करने के लिए महर्षि भरत ने समान गुण-धर्म वाली दो वीणाओं द्वारा प्रयोग किया जो कालान्तर में सारणा चतुष्टयी के नाम से प्रसिद्ध हुआ । जिसका विवेचन आगे किया जायेगा । इसके अतिरिक्त षडज और मध्यमग्राम का अन्तर सम्वादी स्वरों पर भी निर्भर है । मध्यमग्राम में पंचम तथा रिषभ का सम्वाद है जिसमें नवश्रुति अन्तर है और षडजग्राम

---

1. संगीत चिन्तामणि आचार्य वृहस्पति मतंग का कथन पृ0 - 82
   ननु कथं द्वोवेद ग्रामौ उच्यते । इहहि द्विस्वरप्रयोगमूलप्रयोगवशाद् द्वौ ग्रामावुपन्यस्तौ"

2. ना0शा0 अभिनव भारती पृ0 - 20 मध्यमग्रामे तु षडचमः श्रुत्यपकृष्ट कार्यः । एवं स्वश्रुत्युपकर्षादपकर्षाद्वा यदन्तरं मार्दवादायतत्वाद्वा तत्प्रमाणं श्रुतिः"

में स-प सम्बन्ध है जो तेरह श्रुत्यन्तर का है[1] इस प्रकार भरत-निर्दिष्ट मध्यमग्रामिक स्वरों में नव श्रुत्यन्तर है और षडज ग्राम में 13 श्रुत्यन्तर का सम्वादभाव है । ये स-म और स-प सम्बन्ध सनातन माने गये हैं[2] ।

इस प्रकार इन दोनों ग्रामों का अन्तर पंचम स्वर से है । षडज ग्रामिक पंचम चतुश्रुतिक मध्यमग्रामिक पंचम त्रिश्रुतिक । यह अन्तर एक श्रुति का है यही भरत की प्रमाणश्रुति है । सम्भवतः इसी आधार पर पाश्चात्यविद्वानों ने गुरू तथा लघु स्वरों के अन्तर को "कोमा" कहा है जो लगभग 5 सेवर्ट से बराबर है तथा जिसका मान 81/80 है[3] ।

षडज तथा मध्यम ग्रामिक स्वरों में व्यवस्थित 22 श्रुतियों के स्पष्टीकरण के लिए महर्षि भरत ने दोवीणाओं पर प्रयोग किया, जो भरत का श्रुतिनिदर्शन था । जिसका स्पष्टीकरण आगे किया जायेगा ।

---

1. ना0शा0 अभिनव भारती 28/23 संवादो मध्यमग्रामे षडाचस्यर्षभस्यच । षडजग्रामे तु षडजस्य संवादः षडजमस्य च ।

2. संगीत चिन्तामणि आचार्य वृहस्पति पृ0 - 180-181 स-म का सनातन सम्वाद जो षडज-मध्यम-भाव नौ श्रुतियों के अन्तर का वोध कहा स-प का सनातन षडजग्रामीय सम्वाद जो तेरह श्रुतियों के अन्तर का बोधक षडज पंचम भाव है ।

3. ध्वनि और संगीत दो ललित किशोर सिंह पृ0 - 116
कोमा डायसिस इससे कुछ छोटा होता है जो गुरू स्वर 9/8 और लघु स्वर 10/9 का अन्तर 81/80 या 5-4 सेवर्ट है ।

भरतनिर्दिष्ट श्रुति निदर्शन-

स्वर-विधि के अन्तर्गत श्रुतिनिदर्शन एक महत्व पूर्ण प्रसंग है जिसका अभिप्राय जिस उपाय या विधि से षडज तथा मध्यम ग्राम में व्यवस्थित 22 श्रुतियाँ अनुभूत की जा सके । इसी को भरत का श्रुति - निदर्शन समझना चाहिये । इसी क्रम में अभिनव गुप्त ने उल्लेख किया है श्रुति की संख्या व स्वरूप का जो लक्षण होना चाहिये उसे दिखाना ही श्रुति - निदर्शन है[1] । इस प्रकार आचार्य अभिनव गुप्त के मत से दो ग्रामों में व्यवस्थित 22 श्रुतियों को दिखाना ही श्रुति-निदर्शन का प्रयोजन है[2] ।

इस प्रयोग को अनुभूत कराने के लिए मुनि ने दो समान गुणधर्म वाली वीणाओं के द्वारा सैद्धान्तिक प्रयोग किया है[3] । श्रुतियों के इस प्रयोग को परवर्ती विद्वानों ने "सारणाचतुष्टयी" का नाम दिया । श्रुतियों की प्राप्ति के लिए यह प्रयोग क्योंकि चार बार किया गया इसी कारण इसे "सारणाचतुष्टयी" अर्थात् चार बार तन्त्री द्वारा सारणा करना कहते हैं । सारणा का शाब्दिक अर्थ है सरकाना किसी ध्वनि को उतारकर या चढ़ाकर अभीष्ट स्थान पर ले जाना "सारणाक्रिया" कहलाती है । डॉ0 मुकुन्द लाट ने और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है -

---

1. ना0शा0 पृ0 - 22 एवमकस्याः श्रुतेः स्वरूपमभिधाय श्रुतिसंख्या स्वरूपं यथालक्षणीयं यथा भवति तथा दर्शयितुमुपक्रमेत । निश्चिततया दृश्यन्ते येनापायेन तन्निदर्शनम्"
2. पृ0 - 20 एवमेतेन श्रुतिनिदर्शनेन द्वौ ग्रामिक्यौ द्वाविंशति श्रुतयः प्रत्यवगन्तव्या।
3. ना0शा0 पृ0 - द्वे वीणे तुल्यप्रमाणतन्त्र्युपवादनदण्डमूर्च्छने कृत्व ।

The term sarana (from sr. to shift to arrenge, to alter a note by raising or lowering it on the vina) here evidently connotes the transposition through a slight change in tunning -------- sarana appears to have been general term in music for the tunning vinas.[1]

अर्थात् तन्त्री के द्वारा ध्वनि को अभीष्ट स्थान पर लाना "सारणा" कहलाता है । किन्तु सारणा शब्द का प्रयोग महर्षि भरत ने नहीं किया । We note that Bharat does not call this proass 'Sarana' सारणा का अभिप्राय चूँकि वीणा पर द्वैग्रामिक स्वरों के एक ही समय निकालना था चूँकि सारणा में तन्त्री को ऊंपर नीचे करके अभीष्ट ध्वनि को प्राप्ति करना था इसी कारण डॉ0 लाट ने लिखा है साधारण वीणाओं की करना सारणा क्रिया है[3] । दोनों ग्रामों (षडज तथा मध्यम ग्राम) के स्वर किंचित परिवर्तन करने से वीणा पर प्राप्त हो जाते हैं । डॉ0 लाट ने इस संदर्भ का स्पष्टीकरण अच्छी

---

1. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 90
2. दत्तिलम् मुकुन्द लाट पृ0 - 91
3. दत्तिलम् - पृ0 - 91 'Sarana' in this exposition is the name given to the brocess of tunning by which the measure of sruties was determined. However 'saran' appears to have been the general term in music for the tunning of vinas.

प्रकार किया है[1] ।

श्रुति - निदर्शन के इस प्रयोग में - दो वीणाएं जो सर्वथा एक जैसी हो अर्थात् उनके डाड, तार, बनावट आदि सब समान है उनके बजाने या छेड़ने वाला कोण या मिजराफ भी समान है । तथा दोनों वीणाएं षडज ग्रामिक स्वरों में मिली हो तथा दो वीणाओं को बजाने वाला व्यक्ति भी एक हो[2] ।

इन दोनों वीणाओं में से एक वीणा ध्रुव वीणा यानी अचल वीणा जो श्रुतियों और स्वरों की जांच करने के लिए थी और दूसरी वीणा जिस पर स्वर और श्रुतियों को दर्शाने के लिए प्रयोग किया गया, इस वीणा पर अभीष्ट स्वर की प्राप्ति हेतु तार उतारे तथा चढ़ाये जाने के कारण इसे "चलवीणा" नाम दिया गया । दोनों वीणाओं को षडज ग्रामिक स्वरों में मिलाया गया यथा -

षडज ग्रामिक स्वरों की वीणा-

1 2 3 4   5 6 7   8 9   10 11 12 13   14 15 16 17   18 19 20   21 22

सा   रे   ग   म   प   ध   नी

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 88 One grama could be transposed upon the other with case and this apparently rules out the possibility that the two gramas, were concieved as constantly beginning at different pitch.

2. ना0शा0 पृ0 - 20 यथा द्वे वीणे तुल्यप्रमाणतन्त्र्युपवादनदण्डमूर्च्छने कृत्वा षडजग्रामाश्रिते कार्ये तयोरक्यतरस्यां पन्चमस्यापकर्षे श्रुतिं मध्यमग्रामिकीं कृत्वा ....

उपरोक्त 22 श्रुतियों पर जो स्वर व्यवस्था दिखाई गई है, इसी व्यवस्थाक्रम में भरत ने अचल तथा चल वीणाओं को मिलाया । भरत ने श्रुति - निदर्शन - प्रयोग का मूल आधार पंचम स्वर को लिया जो सत्रहवीं श्रुति पर स्थित है । इसी पंचम के श्रुति उत्कर्ष और उपकर्ष पर भरत का प्रयोग निर्भर है । सत्रहवीं श्रुति पर स्थित पंचम को सोलहवीं श्रुति पर उतार कर भरत ने प्रथम प्रयोग किया, इसी क्रम से भिन्न-भिन्न स्वरों का आधार लेकर क्रमशः चार बार प्रयोग किया गया ।

प्रथम प्रयोग-

भरत के सूत्र "तयोरन्यतरस्यां"[1] के अनुसार चल वीणा के सत्रहवीं श्रुति पर स्थित पंचम को एक श्रुति उतार कर मध्यम ग्रामिक स्वर बनाये गये । अर्थात् एक श्रुति उतरे हुए पंचम के अनुपात से चल वीणा के अन्य स्वरों को भी एक-एक श्रुति उतार दिया गया । परिणामतः चलवीणा के उतरे हुए स्वर अचल वीणा के षडजग्रामिक स्वरों से एक-एक श्रुति नीचे हो गये । जिससे इन दोनों वीणाओं के स्वरों में एक-एक श्रुति का अन्तर प्राप्त हुआ । इसी एक श्रुति अन्तर को भरत ने "प्रमाण श्रुति" कहा । इस एक श्रुति का परिणाम यह हुआ कि चल वीणा के पंचम का सम्बन्ध अचल वीणा के रिषभ के साथ षडज - मध्यम भाव से हुआ, अर्थात् चल वीणा के पंचम और अचल वीणा के रिषभ में नौ श्रुति का अन्तर होने के कारण रे-प में मधुर सम्वाद स्थापित हुआ । अभिप्राय यह है कि षडज ग्रामिक पंचम स्वर के एक श्रुति अपकर्ष से चल वीणा के सभी स्वर एक-एक श्रुति उतर जाते हैं जिसके परिणाम स्वरूप षडज ग्रामिक स्वरों से मध्यमग्रामिक स्वरों की प्राप्ति हुई । जैसा आचार्य अभिनव गुप्त ने स्पष्ट किया है पंचम स्वर की तन्त्री को एक श्रुति उतारने

---

1. ना0शा0 अभिनव भारती पृ0 - 20 तयोरन्यतरस्यां पन्चमस्यापकर्ष श्रुतिं मध्यमग्रामिकी कृत्वा तामेव च पन्चमस्य श्रुत्युत्कर्षाशात् षडजग्रामिकी कुर्यात्

पर षडजग्रामिक स्वरों से मध्यमग्रामी स्वर प्राप्त होते हैं[1] ।

जैसे - प्रथम प्रयोग-

षडजग्रामिक स्वर-

1 2 3 4	5 6 7	8 9	10 11 12 13	14 15 16 17	18 19 20	21 22
सा	रे	ग	म	पा	ध	नी

षडजग्रामी इन स्वरों में से सत्रहवीं श्रुति पर स्थित पंचम को एक श्रुति अर्थात् सोलहवीं श्रुति पर स्थित करने पर मध्यमग्रामिक पंचम तद्वत् स्वरों की प्राप्ति होती है ।

मध्यमग्रामिक स्वर-

14 15 16	17 18 19 20	21 22
प	ध	नी

इस प्रयोग का मूल उद्देश्य षडजग्रामी स्वरों से मध्यमग्रामी स्वरों की प्राप्ति अर्थात् दो ग्रामों के पंचम स्वरों की भिन्नता जैसा डॉ0 मुकुन्दलाट ने स्पष्ट किया है[2] ।

---

1. ना0शा0 पृ0 - 23 स्वराणां कस्यांचदपि वैलक्षण्यं यस्य प्रतिभासनात्तैका धुवकस्थानीया अचल सारणा वीणायामपरस्यां षडचमतन्त्री श्रुति मात्रं शिथलीकार्या। तदा मध्यमग्रामों जा यते । अनन्तरं मध्यमादीनां सर्व स्वाराणं श्रुति मेका पातयेत ।

2. दत्तिलम् - 74 One of the chief function of sruties was measure the exact distinction between the two paneam in the two grams.

इससे "प्रभाण श्रुति" प्राप्त होती है तथा चल वीणा के पंचम कासाम्य अचल वीणा के रिषभ से होता है जैसा चार्ट में दिखाया गया ।

दूसरा प्रयोग-

इस प्रयोग में भरत ने "चलवीणा" के गान्धार और निषाद को दो-दो श्रुति उतारते हुए अन्य स्वरों को भी दो-दो श्रुति उतार दिया[1] । जिसका परिणाम यह निकला कि चल वीणा के गान्धार और निषाद अचल वीणा के रिषभ और धैवत के साथ 13 श्रुतियों के अन्तर पर रहने के कारण परस्पर सम्वादित भाव से मिल जाते हैं । इस सम्बन्ध में आचार्य अभिनव गुप्त ने लिखा है, इस प्रकार धैवत की विलक्षणता के कारण निषाद और गान्धार का साम्य ध्रुववीणा के ऋषभ और धैवत के साथ हो जाता है[2] । अर्थात् गान्धार और निषाद को दो श्रुति अधिक उतारने से ये दोनों स्वर रिषभ - धैवत में प्रवेश करते हैं, यानी सम्बद्ध हो जाते हैं ।

इस प्रयोग में चल वीणा के सभी स्वर अचल वीणा के स्वरों से क्रमशः दो-दो श्रुतियाँ उतरे हुए थे । परिणामतः ऋषभ - धैवत के मिश्रीभाव होने से गान्धार और निषाद की दो-दो श्रुतियाँ स्पष्टरूप से उपलब्ध हो जाती है[3] । जैसा निम्न चार्ट में दिखाया गया है जिसमें चल वीणा के गान्धार और निषाद क्रमशः अचल वीणा के रिषभ और धैवत में मिल जाते हैं -

---

1. ना0शा0 पृ0 - 20 पुनरपि तद्वदेवापकर्षेत यथा गान्धार निषाद वन्तावितरस्याम मृषभ धैवतो प्रेवेक्ष्यतः ।
2. ना0शा0 अभिनव गुप्त टिप्पणी एवं धैवतवैलक्ष्येण गान्धारनिषाद - योरन्य वीणागतधैवतषर्भसाम्य जायते । तदेव श्रुतिरित्युतं भवति ।
3. ना0शा0 गान्धारनिषादगं प्रत्येक यच्छुतिद्वयं तच्च धैवतषभीमश्रीभावभिज्ञानेन स्फुटमेवोपलब्धं ।

प्रयोम नं0 - 2

	अचल वीणा के स्वर	चल वीणा के स्वर
1.	-------------------	
2.	-------------------	
3.		
4.	----- स	
5.	-------------------	रे
6.		
7.	----- रे ------------	"ग" गन्धार स्वर रिषभ में मिल गया
8.,		
9.	----- ग	
10.		
11.	-------------------	म
12.		
13.	----- म	
14.		
15.	-------------------	प
16.		
17.	----- प	
18.	-------------------	ध
19.		
20.	----- धा -----------	"नी" निषाद स्वर धैवत में मिल गया
21.		
22.	----- नी	

प्रयोग नं0 - 3

चल और अचल वीणा के इस प्रयोग में चल वीणा के स्वर अचल वीणा की अपेक्षा 3-3 श्रुतियाँ उतारे गये । अभिप्राय हे कि इस प्रयोग में भरत ने रिषभ और धेवत स्वरों का आधार लेकर चल वीणा के स्वरों को इतना उतारा कि चल वीणा के रिषभ ओर धैवत का साम्य अचल वीणा के षडज एव पंचम स्वर से हुआ[1] ।

परिणामतः चल वीणा के सभी स्वर अचल वीणा के स्वरों से क्रमशः तीन-तीन श्रुतियाँ उतर गये यानि ध्रुववीणा या अचल वीणा के स्वर चल वीणा से तीन श्रुतियाँ अधिक थे जिसके परिणामस्वरूप चल वीणा का रिषभ अचलवीणा के षडज स्वर से, और धैवत स्वरपंचम स्वर में मिल गया "पन्मषऽजौ प्रविशतः त्रिश्रुत्याधिकत्वात्"[2] ।

निम्न चार्ट में दर्शाया गया है चल वीणा का रे और ध क्रमशः अचल वीणा के षडज (स) पंचम (प) स्वरों से साम्य रखता है ।

प्रयोग नं0 - 4

अचल वीणा के स्वर		चल वीणा के स्वर
1.	------------------	स
2.		
3.		

1. ना0शा0 पृ0 - 23 पुनरपि चलवीणायां श्रुतियदीयकुपयते सर्वस्वरेभ्यस्तदा चलवीणागतौ धैवतर्षभौ ध्रुववीणागताभ्यां पन्चमषडजाभ्यां यथा क्रम साम्यं गच्छतः ।
2. ना0शा0 पृ0 - 20 पनस्तदेवापकर्षात् धैवतर्षभवितरस्यां पन्चमषऽजो प्रविशतः त्रिश्रुत्यधिकत्वात्" ।

4. ----- स ------------ रे रिषभ स्वर षडज में मिल गया

5.

6. -------------------- ग

7. ----- रे

8.

9. ----- ग

10. -------------------- म

11.

12.

13. ----- म

14. -------------------- प

15.

16.

17. ----- प ------------ ध धैवत स्वर पंचम में मिल गया

18.

19. -------------------- नी

20. ----- ध

21.

22. ----- नी

प्रयोग नं0 - 4

इस प्रयोग में भरत ने चल वीणा के मध्यम, पंचम और षडज को इतना उतारा जाय कि ये तीनों स्वर अचल वीणा के मध्यम - गन्धार और निषाद में

सम्बन्ध हो जाय, और उसी अनुपात में चल वीणा के सभी स्वरों को उतारा जाये[1]।

भरत के सूत्र के अनुसार - तद्वतपुनरपकृष्टायां तस्यां पन्चम मध्यमषडजा इतरस्यां मध्यमगन्धारनिषादवन्तः प्रवेक्ष्यन्ति चतुश्रुत्यधिकत्वात्[2] अर्थात् पंचम मध्यम और षडज स्वरों को इतना अधिक अपकर्ष किया जाय कि ये तीनों स्वर अचल वीणा के मध्यम गन्धार और निषाद में प्रवेश कर जायं। ये अपकर्ष चार श्रुति अधिकता से है । इस प्रयोग में सभी स्वर चार-चार श्रुतियाँ नीचे हो जायेंगे जैसे निम्न लिखाया गया है -

अचलवीणा के स्वर		**चल वीणा के स्वर**
1.		
2.		
3.	----------------	रे
4.	---- स	
5.	----------------	ग
6.		
7.	---- रे	
8.		
9.	---- ग ----------	म मध्यमस्वर गन्धार में मिल गया
10.		
11.		

---

1. नाट्यशास्त्र, अध्याय - 28 गद्यपंक्तियाँ 16 पृ0
2. नाट्यशास्त्र, अध्याय - 28 गद्य पंक्तियाँ 16 पृ0

12.

13. ---- म ------------- प पंचम स्वर मध्यम में मिल गया

14.

15.

16. ------------------ ध

17. ---- प

18. ------------------ नी

19.

20. ---- ध

21.

22. ---- नी ------------ स षडज स्वर निषाद में मिल गया

इस प्रकार भरत ने षडज और मध्यम ग्रामिक स्वरों की श्रुतियों का निदर्शन कराने के लिए प्रथम पंचम स्वर को एक श्रुति उतार कर चल वीणा के सभी स्वरों को एक-एक श्रुति नीचे उतार दिया, जिससे उन्हें प्रमाण-श्रुति की प्राप्ति हुई। तथा षडजग्रामिक स्वरों से मध्यग्रामी स्वर प्राप्त हुए ।

इसके बाद गन्धार और निषाद स्वरों को दो-दो श्रुति उतार कर चल वीणा के सभी स्वरों को अचल वीणा के सभी स्वरों से दो-दो श्रुति नीचे कर दिया। परिणामतः चल वीणा के ग और नी स्वर अचल वीणा के ऋषभ और धैवत में मिल जाते हैं ।

पुनः ऋषभ और धैवत स्वरों को तीन-तीन श्रुति उतार कर चल वीणा के सभी स्वरों को अचलवीणा के स्वरों की अपेक्षा तीन-तीन श्रुति उतार दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि चल वीणा के ऋषभ और धैवत स्वर अचल वीणा के पंचम और षडज स्वरों में मिल जाते हैं । इसी प्रकार चौथी बार पंचम मध्यम और षडज

स्वरों को चार-चार श्रुति नीचे करके चल वीणा के सभी स्वरों को भी चार-चार श्रुतियाँ नीचे उतारा गया परिणामतः चल वीणा के मध्यम, पंचम और षडज स्वर अचल वीणा के गन्धार, मध्यम और निषाद स्वरों में मिल जाते हैं ।

भरतोक्त श्रुतिनिदर्शन का परिणाम-

भरत मत से स्वर और श्रुतियाँ अन्योन्याश्रित हैं, फिर भी स्वर और श्रुतियाँ का स्पष्टीकरण करने के लिए महर्षि भरत ने "तुल्यवीणे" के द्वारा प्रयोग किया जिसका मूल उद्देश्य स्वरों के द्वारा श्रुति जैसी सूक्ष्म ध्वनियों की अनुभूति । इस संदर्भ में आचार्य वृहस्पति का कथन है[1] ।

अतएव श्रुतिनिदर्शन का मूल उद्देश्य दो ग्रामों में व्यवस्थित सप्तस्वरान्तर्गत 22 श्रुतियों का स्पष्टीकरण करना था इसीलिए महर्षि भरत ने दो समान वीणाओं के द्वारा प्रयोग किये । चल वीणा पर सारणा क्रिया द्वारा अभीष्ट स्वर की प्राप्ति की गई तथा अचल या ध्रुववीणा को उसके परिणाम के लिए रक्खा अतएव भरत निर्दिष्ट इस प्रयोग का परिणाम निम्नतः देखा जा सकता है -

1. श्रुति निदर्शन का प्रथम परिणाम यह हुआ कि सप्तस्वरान्तर्गत 22 श्रुतियों का दर्शन ।

2. किंचित परिवर्तन से एक ही समय में सारणाक्रिया के द्वारा षडजग्रामिक स्वरों से मध्यमग्रामिक स्वरों की प्राप्ति करना - Through a slight change in tunning of murchaner of one grama on a vina tuned to other gram.

---

1. संगीतचिन्तामणि पृ0 - 134 महर्षि भरत ने स्वर समूह एवं ग्रामों का ज्ञान कराने के पश्चात् चतुः सारणाओं के द्वारा वाइन्स श्रुतियों की सिद्धि का उपाय बताया । यही मार्ग वैज्ञानिक भी है स्थूल ज्ञान के पश्चात् सूक्ष्म का ज्ञान सम्भव है ।

अभिप्राय यह है कि भरत के स्वर-प्रबन्ध में किसी स्वर विशेष को प्राथमिकता नहीं दी जाती थी प्रत्येक स्वर का महत्व था आज के संगीत में प्रचलित षडज - पंचम की अचलत्व जैसी सीमाबद्धता नहीं थी । जैसा आचार्य वृहस्पति ने भरत निर्दिष्ट द्वैग्रामिक स्वर समूह को सप्तदल कमल की पंखुड़ियाँ माना है[2] ।

3. जिसकी कोई भी पंखुड़ी प्रथम कही जा सकती है उसी प्रकार भरत के ग्राम के स्वरों में कोई भी स्वर प्रधान मानकर उसका मूर्च्छना के रूप में विस्तार किया जा सकता है । जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट ने लिखा है आधुनिक संगीत स्वरों की तरह भरत संगीत के स्वरों में किसी एक स्वर को अचलत्व प्रदान नहीं किया जाता था[3] ।

यही कारण है कि एक वीणा पर सारणा के द्वारा एक ही समय षडज ग्रामिक स्वरों से मध्यम ग्राम बनाया जा सकता है और तदुपरान्त मध्यम ग्रामी मूर्च्छनाओं का विस्तार सहज है ।

4. प्रथम प्रयोग में पंचम स्वर की एक श्रुति उत्कर्ष तथा अपकर्ष से षडज और मध्यम ग्रामिक स्वरों में अन्तर बताना है । इस प्रयोग का दूसरा प्रयोजन "प्रमाणश्रुति" की उपलब्धि "प्रमाणश्रुति" से भरत का अभिप्राय षडजग्रामिक और मध्यम ग्रामिक पंचम स्वर के बीच एक श्रुत्यन्तर यानी षडज ग्राम का पंचम चतुश्रुतिक और धैवत त्रिश्रुतिक है किन्तु प्रमाण

---

1. दत्तिलम् अ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 98
2. संगीतचिन्तामणी पृ0 - 131-122 यदि ग्रामाश्रित सातों स्वरों के समूह की तुलना सप्तदल कमल से करे तो उसकी किसी भी पंखुड़ी को प्रथम कहा जा सकता है ग्राम रूपी स्वर प्रबन्ध का कोई स्वर प्रयोक्त या श्रोता की दृष्टि में प्रथम हो ग्राम का ग्रामत्व जैसे का तैसा रहता है ।
3. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 76 After the svars were arraged with in a grama any note could evidently be given the status of the tonic. None of the notes appears to have been a constant 'adhar' sruti like modern 'sa'.

श्रुति के कारण मध्यमग्रामी पंचम त्रिश्रुतिक और धैवत चतुश्रुतिक हो जाता है अर्थात् षडज ग्राम के पंचम और धैवत का विपरीत मध्यमग्रामी पंचम का धैवत । इनमें एक श्रुति का उत्कर्ष तथा उपकर्ष होने के कारण यह अन्तर महर्षि की दृष्टि में प्रमाण श्रुति है ।

द्वितीय - तृतीय और चतुर्थ प्रयोग का सारणा में भरत ने श्रुतियों के उत्कर्ष से क्रमशः सप्तस्वरान्तर्गत 22 श्रुतियों व्यवस्थित दिखाई गई है । जैसे - दूसरी सारणा में जो स्वर सिद्ध किये जाते हैं उनमें क्रमशः 2-2 श्रुतियाँ का अन्तर होता है परिणामतः चल वीणा के गान्धार और निषाद का साम्य अचल वीणा के रिषभ और धैवत से हो जाता है जिसे आचार्य अभिनव गुप्त ने श्रुति की इयता कहा है श्रुतेरियत्ता"[1] जो चार श्रुतियों का बोध कराती है । तीसरे प्रयोग में सभी स्वर तीन - तीन श्रुतियाँ उतरने के कारण चल वीणा के रिषभ और धैवत अचल वीणा के षडज और पंचम में साम्य करते हैं । जो 3-3 श्रुतियों का बोध कराती हैं जिसे अभिनव गुप्त ने चतुर्थी श्रुतिष्टकं"

चौथे प्रयोग के अन्तर्गत सभी स्वर चार-चार श्रुतियाँ उतरे होने के कारण चल वीणा के मध्यम पंचम और षडज का साम्य अचल वीणा के क्रमशः गन्धार मध्यम और निषाद स्वरों के साथ होता है । आचार्य अभिनव गुप्त के मतानुसार 4+4+4 = 12 श्रुतियों का बोध होता है ।

अभिप्राय यह है कि श्रुतियों के इस प्रयोग से प्रत्येक स्वर की निर्धारित श्रुतियाँ स्पष्ट हो जाती है । अभिनव गुप्त ने प्रथम प्रयोग से षडजग्रामिक स्वर दूसरे प्रयोग से "प्रमाण श्रुति" अर्थात् एक श्रुति के अन्तर का बोध होता है जिसे अभिनव गुप्त ने "श्रुतेरियत्ता" कहा है । अर्थात् श्रुति का माप तीसरी सारणा से 2+2 = 4

---

1. ना0शा0 अभिनव गुप्त टिप्पणी पृ0 23 एवं ध्रुववीणाश्रुते रियत्तात्र (स्फुटीकृता) भवति द्विश्रुतिभिस्त्रिश्रुतिचतुश्रुतिस्वरूपं च"

श्रुतियों की प्राप्ति होती है जो गन्धार और निपाद स्वरों के लिए है । चौथी सारणा 3-3 श्रुतियों को सिद्ध करती है जो क्रमशः रिषभ और धैवत स्वरों के लिए है तथा पाँचवी सारणा क्रमशः 4+4+4 = 12 श्रुतियों को सिद्ध करती है जो षडज - पंचम और धैवत स्वरों के लिए हैं ।

इस प्रकार सात स्वरों के अन्तर्गत 22 श्रुतियाँ इस सारणा-प्रयोग से सिद्ध की जाती हैं । दूसरे इस प्रयोग से प्रत्येक स्वर की निर्धारित श्रुतियों का अनुमान लग जाता है[1] ।

जिसे परवर्ती विद्वानों ने निम्न श्लोक में बाधा है -

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षडज - पंचम मध्यमा
द्वे द्वे गान्धारनिषादौ तिस्त्री रिषभ धैवतौ

अर्थात् **षडज - मध्यम - पंचम स्वरों की 4+4+4 = 12 श्रुतियां**
रिषभ धैवत स्वरों की 3+3 = 6 श्रुतियाँ
गन्धार निषाद स्वरों की 2+2 = 4

कुल श्रुतियों की संख्या ---------------
22

भरतोक्त इन श्रुति-परिमाणों को आचार्य वृहस्पति ने क्रमशः प्रमाणश्रुति - श्रुति-उपमहतीश्रुति - महतीश्रुति का नाम दिया है । इस प्रकार भरतोक्त श्रुति निदर्शन से प्रत्येक स्वर के लिए निर्धारित श्रुतियों का वैज्ञानिक माप प्राप्त होता[2] । इस

---

1. ना0शा0 पृ0 - 22 तत्र प्रथमा (सारणा) साधुकरं ध्रुवकवीणा साधयति। द्वितीया श्रुतेरियत्ता, तृतीया श्रुतिचतुष्कं वोधयति, चतुर्थी श्रुतिष्टक पन्चमी द्वादशकीमति सारणा पन्चकमिति तात्पर्यम् ।
2. ना0शा0 पृ0 - तच्छुतयः प्रत्यक्षीभूता भवत्ति ।

सम्बन्ध में आचार्य वृहस्पति ने लिखा है - यदि स के पश्चात् स तक की दूरी को 301 समान घटकों में बाँट दिया जाए तो महती श्रुति का परिमाण 23 घटक, उपमहती का परिमाण 18 घटक और प्रमाणश्रुति का परिमाण 5 घटक है[1] ।

अभिप्राय यह है कि भरत के श्रुतिनिदर्शन से स्वर और श्रुतियाँ प्रथकतः अनुभूत की जा सकती हैं ।

3. श्रुति निदर्शन से यह भी ज्ञात होता है कि मूल रूप से श्रुतियों के अनुरूप स्वर तीन प्रकार के हैं चतुश्रुतिक, त्रिश्रुतिक और द्विश्रुतिक[2] । परिमाण की दृष्टि से स्वरों के ये तीनों प्रकार वैदिक उतात्त अनुदात्त और स्वरित के ही प्रकार हैं । चतुश्रुतिक षडज - मध्यम पंचम ये तीन स्वर उदात्त त्रिश्रुतिक रिषभ - धैवत स्वरित स्वर, तथा द्विश्रुतिक ग-नी अनुदात्त स्वर हैं । जैसा आचार्य अभिनव गुप्त का कथन है परिमाण में ऊँचे या विस्तृत होने के कारण चतुः श्रुति स्वर उदात्त कहलाते हैं परिमाण में नीचे और कम से कम चौड़े होने के कारण द्विश्रुति को अनुदात्त कहा जाता है और द्विश्रुति स्वरों की अपेक्षा अधिक तथा चतुश्रुति स्वरों की अपेक्षा कम विस्तृत था कम चौड़े होने के कारण जिनमें उदात्ता और अनुदात्तता का समाहार हो जाता है । वे त्रिश्रुति स्वर स्वरित कहलाते हैं[3] । इस प्रकार वैदिक स्वरों का समाहार भरत-निर्दिष्ट स्वरों में होता है -

---

1. संगीत चिन्तामणि पृ0 - 105

2. ना0शा0 पृ0 - 23 एवं ध्रुववीणा श्रुते रियत्ता (स्फुटीकृता) भवति द्विश्रुति-भिरिस्त्रश्रुति चतुश्रुतिस्वरूपं च ।

3. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका पृ0 - 14 तेन परमार्थतः त्रय एव स्वराः सारिगाः षधनयः । ..... चतुःश्रुतिरूदात्तः उच्चत्वात् द्विश्रुतिरनुदात्त नीचेस्त्वात् । त्रिश्रुतिः स्वरित मध्यवर्तितया समाहारत्वात् ।

इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि वैदिक उदात्त, अनुदात्त और स्वरित इन तीन स्वरों से सात स्वरों का क्रमशः इसी प्रकार विकास हुआ ।

4. श्रुति-निदर्शन से एक तथ्य यह भी सामने आता है कि त्रिश्रुतिक रिषभ द्विश्रुतिक गान्धार चतुश्रुतिक मध्यम चतुश्रुतिक पंचम त्रिश्रुतिक धैवत - द्विश्रुतिक निषाद और चतुश्रुतिक षडज से बना "षडजग्राम" शुद्ध स्वर वाला "सनातन ग्राम है" कालान्तर में किंचित परिवर्तन करने पर यही ग्राम आधुनिक संगीत के विलावल थाट और पाश्चात्य संगीत के Mayor Scale में प्रचलित हुआ ।

लेकिन मध्यमग्राम को विकृत स्वरों वाला ग्राम इसलिए कहा जा सकता है क्यों कि इस ग्राम में षडजग्राम की अपेक्षा पंचम स्वर एक श्रुति अपकर्ष में है और धैवत स्वर में एक श्रुति का उत्कर्ष है । किन्तु यह निश्चित है कि भरत-संगीत में इन दोनों ग्रामों का साथ-साथ प्रचलन था । आज यद्यपि मध्यमग्राम का प्रचलन नहीं है फिर भी उच्चकोटि के गायक वादकों में अभी भी मध्यमग्राम के स्वरों का गायन-वादन करने की क्षमता है ।

इस प्रकार महर्षि भरत ने स्थूल से सूक्ष्म ज्ञानोपलब्धि का मार्ग बताया है, जिसमें स्वर, सम्वाद, ग्राम आदि के पश्चात् श्रुतियों का निदर्शन व्यवहारिक तौर पर करने का प्रयास किया गया है । यही कारण है कि भरत-निर्दिष्ट स्वर और श्रुतियाँ तथा उससे बने ग्राम न केवल सांगीतिक दृष्टि से अपितु ध्वनि - विज्ञान की दृष्टि से भी वैज्ञानिक है ।

मूर्च्छना-

महर्षि भरत ने दोनों ग्राम और उनमें व्यवस्थित 22 श्रुतियों के विवेचन के पश्चात् मूर्च्छना की चर्चा की । भरत के मतानुसार "क्रम युक्त सप्त स्वर" मूर्च्छना है[1] । आचार्य अभिनव गुप्त ने मूर्च्छना का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है क्रमानुसार सात स्वरों का आरोह - अवरोह करने की क्रिया मूर्च्छना है[2] । अर्थात् ग्राम के प्रत्येक स्वर को आरम्भिक स्वर मानते हुए सात स्वरों का आरोह - अवरोह मूर्च्छना कहलाता है । जेसे षडज ग्राम की उत्तर मन्द्रा मूर्च्छना - "स रे ग म प ध नी" इस प्रकार "क्रमयुक्त स्वरा मूर्च्छना" थी मूर्च्छना में तीन बातें आवश्यक थी - सात स्वरों का होना - स्वरों का क्रमानुसार होना ग्राम के प्रत्येक स्वर का आधार लेकर आरोह - अवरोह करना । इसलिए मूर्च्छना के साथ दोनों ग्राम भी आवश्यक है[3] इस प्रकार सात स्वरों की क्रमानुसार आरोह - अवरोह की व्यवस्था "मूर्च्छना" है[4]। डॉ0 मुकुन्द लाट

---

1. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका 22/32 क्रमयुक्ताः स्वयंः सप्त मूच्छेल्य-भिसंज्ञिता"
2. ना0शा0 पृ0 - 25 क्रमयुक्ता इति क्रमेणारोहणा तथैव स्वराणामवरोहणेन च पुनरप्याहरणमिति"
3. ना0शा0 अभिनव गुप्त यत पृ0 24 एवं ग्राम द्वयं तदुपयोगि च श्रुति सम्दवि स्वरूणां श्रुतिनियमप्रामाण्यमभिधाय क्रमप्राप्तां मूर्च्छना ।
4. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट - 85 Each of the gramas could result in seven murchanas which were the seven notes of the octave in a serialy aseending order. Each new murchana beginning on a new and successiuely lower note.

के मतानुसार - ग्राम के प्रत्येक स्वर को आरम्भिक स्वर मानते हुए सात स्वरों का आरोह मूर्च्छना कहलाता है । मतंग ने मूर्च्छना शब्द की व्युत्पत्ति "मूर्च्छ" धातु से बताई है जिसके दो अर्थ निकलते हैं । प्रथम के अनुसार मूर्च्छित होना तथा दूसरे के अनुसार समुच्छाय अर्थात् कुछ बनाना। अतएव मतंग के अनुसार आरोह - अवरोह रूप क्रिया के परिणाम स्वरूप प्राप्त क्रमबद्ध सात स्वर मूर्च्छना कहलाते हैं जो राग आदि की उत्पत्ति का कारण है[1] । इस क्रम में मतंग के उपरोक्त कथन का स्पष्टीकरण डॉ0 मुकुन्द लाट ने किया है । मूर्च्छना का वास्तविक अभिप्राय है सात स्वरों का क्रमबद्ध आरोह - अवरोह जिससे रागों का निर्माण किया जाता है[2] । अभिप्राय है कि सात स्वरों का क्रमानुसार आरोह-अवरोह, मूर्च्छना का स्वरूप है ।

प्रचलित राग-पद्धति में जिस प्रकार रागोत्पत्ति के लिए थाट या ठाठ को कारण माना जाता है तथा क्रमानुसार सात स्वरों की उसमें व्यवस्था रहती है, ठीक उसी प्रकार मूर्च्छना, प्राचीन संगीत में जातिगायन का आधार समझी जाती थी । डॉ0 मुकुन्द लाट ने कोहल के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि मूर्च्छना जाति, राग, भाषा आदि के निर्माण का आधार थी[3] । अतएव मूर्च्छना प्राचीन भरत संगीत का स्केल

---

1. वृहद्देशी - मतंग - मूर्च्छनाव्युत्पत्तिः मूर्च्छा मोहसमुछाययोः । मूर्च्छः(य) ते येन रागो हि मूर्च्छनेत्यभिसंज्ञिता । आरोहणावरोहक्रमेण स्वरसप्तकम् 94-95

2. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 87 and samucchraya (समुच्छाय) which means to build or erect something--- Mantang indefining the nature of murchana, states that murchana is the basis on which raga is build or erected. He further says that murchana consists of seven notes in the order of ascent and discent. Kohal as quoted by write on Br 118 similarly defines murchan as the basis for erected yatier Rags.

3. दत्तिलम् - 88

या "ठाठ" था। It is generally believed that murchana was ancient scale (that).

महर्षि भरत ने षडज तथा मध्यम इन दो ग्रामों की चर्चा की है इन दोनों ग्रामों के स्वरों की स्थापना तत्कालीन वीणा-वाद्यों पर की जाती थी । सारणा द्वारा किंचित परिवर्तन से षडज ग्रामिक स्वर मध्यमग्रामिक स्वरों में परिवर्तन किये जा सकते थे । गायन-वादन, इन ग्रामों की स्वरावलियों में होता था । ये स्वरावलियों संगीत की आवश्यकताओं के लिए अपर्याप्त होने के कारण षडज और मध्यम ग्रामों के विभिन्न स्वरों को आरम्भिक स्वर मानकर नई-नई स्वरावलियों का निर्माण किया जाता था । परिणामतः गान्धर्व का क्षेत्र विस्तृत हुआ । अतएव ग्रामों के प्रत्येक स्वर को आरम्भिक स्वर मानकर क्रमबद्ध सात स्वरों के जो आरोह - अवरोह रूप प्राप्त हुए वे भरत निर्दिष्ट मूर्च्छना थीं । इन मूर्च्छनाओं की विधि की एक विशिष्टता थी । जिसमें वीणा पर किंचित परिवर्तन से षडजग्रामिक स्वरों से मध्यमग्रामिक स्वर स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं । अर्थात् षडजग्रामिक स्वरों की रचना में वैचित्र्य और खूबसूरती भरने के लिए मध्यमग्रामिक स्वरों का प्रयोग भी उसी समय कर लिया जाता था यह भरत संगीत की विशिष्टता थी । जैसा डॉ0 लाट ने इस संदर्भ में दत्तिलाचार्य को उद्धृत करते हुए लिखा है "कि दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाएँ किंचित परिवर्तन से प्राप्त हो सकती थी"[1] । इस प्रकार द्वै ग्रामिक स्वर-समूहों से मूर्च्छना का स्वरूप अपने आप में पर्याप्त विकसित था ।

किन्तु मूर्च्छना के "सप्तस्वरक्रमता" को देखकर परवर्ती विद्वानों ने मूर्च्छनाओं को आधुनिक संगीत थाट या ठाठ को समकक्ष माना है जिस प्रकार जातिगायन का मूल

---

1. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 88 Dattila here puts forward a process where by murchanas of the two gramas could be obtained on the vina by tunning it to saday gram and then making slight variations to obtain the madhyam grama.

मूर्च्छनाओं में उसी प्रकार आधुनिक ठाठ का स्वरूप भी मूर्च्छना की भाँति है जो रागों के उत्पत्ति का कारण है ।

आधुनिक थाटों के स्वरूप को देखते हुए यदि उनका साम्य भरतनिर्दिष्ट मूर्च्छनाओं से करते हुए एक निष्कर्ष यह निकलता है यद्यपि "सप्तस्वरक्रमता" मूर्च्छना और थाट दोनों का ही लक्षण है फिर भी अपनी निजी विशेषताओं के कारण भरतोक्त मूर्च्छनाओं का स्वरूप प्रचलित थाटों से कहीं अधिक विस्तृत था । जिसका मुख्य कारण प्राचीन मूर्च्छनाएं द्वै ग्रामिक थीं दोनों ग्रामों के प्रत्येक स्वर को आरम्भिक स्वर मानते हुए मूर्च्छना में प्रत्येक स्वर का महत्व था अर्थात् ग्राम का प्रत्येक आधार स्वर हो सकता था, किसी स्वर विशेष को अचलत्व प्रदान नहीं किया गया था ।

जिस प्रकार आधुनिक थाट-राग पद्धति में षडज स्वर को अचल स्वर मानने पर प्रत्येक थाट का आधार स्वर "षडर्ज स्वर" को माना जाता है जिसके परिणाम स्वरूप शुद्ध और विकृत स्वर वाले दस थाटों की प्रथा प्रचलित है -

जब कि दोनों ग्रामों के प्रत्येक स्वर को आधार मानते हुए नई-नई स्वरावलियों का निर्माण करना प्राचीन मूर्च्छना-पद्धति थी किन्तु प्राप्त होने वाले स्वरों के परिणाम या अनुपातों में अन्तर नहीं रहता था । अर्थात् मूर्च्छना-पद्धति में प्रत्येक स्वर आधार स्वर था और इस आधार स्वर से बने हुए सप्तस्वर समूह में स्वतः विकृत स्वर उत्पन्न हो जाते थे । इसीकारण आधुनिक संगीत की तरह शुद्ध और विकृत स्वर समूहों की पृथक्-पृथक् आवश्यकता नहीं प्रतीत होती थी । ग्राम का प्रत्येक स्वर "आधार स्वर" यानी आज का "षडज स्वर" था अर्थात् प्रत्येक स्वर समयानुसार अचलत्व ग्रहण कर सकता था[1] ।

---

1. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 79 None of the notes appears to have been constant adhar (आधार) sruti like mordern sa.

प्रत्येक स्वर के "आधार स्वर" होने के कारण भरत-संगीत में अलग से विकृत स्वरों की आवश्यकता नहीं थी । लेकिन यह भी सत्य है कि द्वैग्रामिक मूर्च्छना के इस प्रयोग के लिए कलाकार को उच्चकोटि का स्वर और श्रुति ज्ञान आवश्यक है । क्योंकि आज भी सुयोग्य गायक - वादक की गायकी में मूर्च्छना-निर्माण की यह प्रक्रिया अनुभूत की जा सकती है । जिसमें गायक गाते हुए वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए राग - विशेष के किसी दूसरे स्वर को आधार स्वर मानकर बीच में ही नई स्वरावलियों का प्रयोग कर लेता है ।

इस प्रकार मूर्च्छना में मूलभूत स्वर के परिवर्तन से नई-नई स्वरावलियों का निर्माण । जिसे दक्षिणात्य संगीत में "षडज-चालन" और पाश्चात्य संगीत में (Shift of key note) कहा जा कसता है । मूर्च्छना के सम्बन्ध में एक तथ्य यह भी है कि जिस स्वर से मूर्च्छना आरम्भ की जाती है । उस स्वर विशेष से पूर्व स्वर पर समाप्त हो जाती है जैसा आचार्य अभिनव गुप्त ने लिखा है "स" से आरम्भ होने वाली मूर्च्छना निषाद पर समाप्त होती है और इसी क्रम से धैवत से पंचम पर पंचम से मध्यम पर मध्यम से गन्धार पर और गान्धार से रिषभ स्वर पर मूर्च्छना समाप्त होती है"[1] ।

उदाहरण के लिए पंचम स्वर की मूर्च्छना का स्वरूप निम्न होगा "प-ध-नी-स-रे-ग-म" अर्थात् प से म स्वर पंचम स्वर की मूर्च्छना है ।

जबकि आधुनिक प्रत्येक थाट का आरम्भ षडज स्वर से होता है जैसे- "स - रे - ग - म - प - ध - नी" इसका परिणाम यह होता है कि शुद्ध स्वरों के अलावा विकृत स्वरों के लिए अलग से विकृत स्वर वाले थाटों की आवश्यकता पड़ती है -

---

1. ना0शा0 पृ0 - 24 तथाहि षडजादारोहरणं निषादान्तं धैवतात्पश्चमान्तं पन्चमान्यमध्यभान्त मध्यमाग्दाधारान्तं गान्धारहृषमान्तमृषभात् षडजान्तं षडजश्च द्वितीयसप्तकान्तर तारस्पृष्टो भंवति ।

भरत–संगीत में विकृत स्वरों की अलग से आवश्यकता नहीं महसूस हुई क्योंकि स्वर - परिवर्तन से विकृत स्वर स्वयमेव प्राप्त हो जाते हैं - इस दृष्टि से भरत–निर्दिष्ट "गान्धर्व" अपने स्वरूप और व्यवहार से आधुनिक "थाट-राग" पद्धति से अधिक वैज्ञानिक और विस्तृत था ।

सप्तस्वरों का क्रमानुसार प्रयोग मूर्च्छना और आधुनिक थाटों की विशेषता है इस दृष्टि से मूर्च्छना का साम्य थाटों से किया जा सकता है जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट ने लिखा है[1] । किन्तु जहाँ तक मूर्च्छना के व्यवहारिक और सांगीतिक (Musical) स्वरूप पर दृष्टिपात किया जाए तो ग्राममूर्च्छना का प्रायोगिक स्वरूप आधुनिक थाट-रागपद्धति से कहीं अधिक विस्तृत और महीन है क्योंकि सप्तक या ग्राम के प्रत्येक स्वर को आधार मानकर उसका गायन-वादन करना संगीत की अत्युच्चता को दर्शाता है । इस दृष्टि से आधुनिक थाट-राग-पद्धति सीमित है ।

भरत निर्दिष्ट षडज और मध्यम दो ग्राम थे । अतएव दोनों ग्रामों के स्वरानुसार मूर्च्छनाएं 14 थी[2] । षडज ग्रामी सात और मध्यमग्रामी सात मूर्च्छनाएं "सप्त षडज ग्राम और मध्यमग्रामे सप्तं"[3] ।

---

1. दत्तिलम् - डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 88 It is truth, of all the concepts in ancient text the one that (थाट) bears the strongest resemblance to the notion of scale or (that) seven arising from each gram with a different initial note. Indeep in the ancient musical system with its rigidly scheme of determind sruti-intervals between svars. There could be no other way of different scales.
2. ना0शा0 अभिनव भारती पृ0 - 20 अथ मूर्च्छनाः द्वैग्रामिक्यश्चतुर्दश
3. ना0शा0 अभिनव भारती 28/28 "षडजग्रामाश्रिता ह्येता विज्ञेया सप्तमूर्च्छना" 28/33 मध्यमग्रामजा इयेता विज्ञेया सप्तमूर्च्छनाः ।

षडजग्राम की मूर्च्छनाएं-

षडज ग्राम के षडज, निषाद, धैवत पंचम, मध्यम, गान्धार और रिषभ स्वर को मूलभूत स्वर मानते हुए षडजग्रामी सात मूर्च्छनाएं जिनके नाम निम्नलिखित है[1] -

भरत निर्दिष्ट श्लोक के अनुसार षडजग्रामिक मूर्च्छनाओं के स्वर-

1. उत्तरमन्द्रा (षडज चोत्तरमन्द्रा, षडज से आरम्भ)
   स रे ग म प ध नी

2. अभिरूद्गता (ऋषभे चाभिरूद्गता, रिषभ से आरम्भ)
   रे ग म प ध नी सं

3. अश्वाक्रान्ता (अश्वक्रान्ता तु गान्धारे, गान्धार से आरम्भ)
   ग म प ध नी स रें

4. मम्सरीकृता (मध्यमे मत्सरीकृता, मध्यम से आरम्भ)
   म प ध नी स रे गं

5. शुद्धषडजा (पन्चमे शुद्ध षडजा, पंचम स्वर से आरम्भ)
   प ध नी सां रे गं मं

6. उत्तरायता (धैवते उत्तरया यता, धैवत से आरम्भ)
   ध नी सं रे गं मं पं

---

1. ना0शा0 28/27 आदावुत्तरमन्द्रा स्याद्रजनी चोत्तरायता
   चतुर्थी शुद्धषडजा तु पन्चमी भत्सरीकृता
   अश्वकना तथा षष्ठी सप्तमी चाभिरूद्गता

7. रजनी (निषादे रजनी निषाद स्वर से आरम्भ)

नी स रे गं मं पं धं

इस प्रकार षडज ग्राम के प्रत्येक स्वर को आरम्भिक स्वर मानकर सात स्वरों की सात क्रमानुसार मूर्च्छनाएं है । इसी प्रकार मध्यमग्राम के प्रत्येक स्वर को आधार मानकर सात मूर्च्छनाएं और हैं[1] ।

"अथ मध्यमग्रामे"

1. सौवीरी - (मध्यमेन सौवीरी मध्यम स्वर से आरम्भ)

म प ध नी स रे ग

2. हरिणाश्वा (गान्धारेण हरिणाश्वा गान्धार स्वर से)

ग म प ध नी सं रें

3. कलोपनता (आर्षभेण कलोपनता, रिषभ से)

रे ग म प ध नी सं

4. शुद्धमध्या (षडजेन शुद्धमध्या, षडज से)

स रे ग म प ध नी

5. मार्गी (निषादेन मार्गी निषाद से मार्गी)

नी स रे ग म प ध

6. पौरवी (धैवतेन पौरवी धैवत स्वर से आरम्भ)

ध नी स रे ग म प

---

1. ना0शा0 28/31 सौवीरी हरिणाश्चा च स्यात्कलोपनता तथा
शुद्धमध्या तथा मार्गी पौरवी हृष्यका तथा
मध्यमग्रामजा ह्येताविज्ञेया: सप्तमूर्च्छना

7. श्ष्यका (पन्चमेन हृष्यकेति, पंचम से आरम्भ)

प ध नी सा रे ग म

इस प्रकार षडज तथा मध्यम ग्राम से क्रमशः 7+7 = 14 मूर्च्छनाओं का विधान भरत-संगीत में था ।

एक तथ्य ध्यान देने योग्य है कि भरत-काल में मूर्च्छनाओं के स्वरों का क्रम अवरोही या जिससे अनुमान लगाया जा सकता है कि भरत-पद्धति पर वैदिक संगीत का प्रभाव था । जो इस पद्धति की प्राचीनता की ओर संकेत देता है । जैसा डॉ0 ललित किशोर सिंह ने भी उल्लेख किया है[1] ।

मूर्च्छना की सिद्धि-

"द्विविधैवमूर्च्छना सिद्धिः"[2] भरत के इस सूत्र के अनुसार दो प्रकार से मूर्च्छना सिद्ध होती थीं । इसका अभिप्राय यह है, क्यों कि भरत-संगीत में मूर्च्छना की सिद्धि वीणाओं पर की जाती थी अतएव वीणा पर एक गान से दूसरे गान को बनाने की विधि मूर्च्छना-सिद्धि कहलाई । अर्थात् षडज ग्रामिक स्वरों में मिली हुई वीणा पर मध्यमग्रामिक स्वरों का वादन और गायन, देखा जाए तो मूर्च्छना की सिद्धि वीणा-वादकों के लिए थी[3] । इसीलिए भरत ने गान्धर्व के 'स्वरप्रसंग में ग्राम, स्वर, मूर्च्छना आदि के

---

1. ध्वनि और संगीत - प्रो0 ललित किशोर सिंह पृ0 - 150 ये मूर्च्छनाएं अवरोही क्रम से बनाई जाती थी । भरत काल में वैदिक पद्धति का अवरोही क्रम ही प्रचलित था । प्राचीन यूनानी ग्राम भी अवरोही क्रम में पाये जाते हैं इसीलिए ग्राम-मूर्च्छना का यह क्रम प्राचीनता का द्योतक है ।

2. ना0शा0 पृ0 - 26

3. संगीत चिन्तामणि - आचार्य वृहस्पति पृ0 - 218 वास्तव में मूर्च्छना विधि वादकों की सुविधा के लिए थी गायक के लिए नहीं क्यों कि गले में पर्दे नहीं होते ।

लिए "शारीरी वीणा" यानी मानवीय कंठ के स्थान पर दारवी अर्थात् दारू लकड़ी से निर्मित वीणा को आधार माना है यथा स्वरा ग्रामों मूर्च्छनाश्च ---- दाख्यां समवायस्तु वीणायां समुदाहृदः[1] इसी कारण महर्षि भरत ने श्रुति, ग्राम और मूर्च्छना आदि का स्पष्टीकरण करने के लिए वीणा पर प्रयोग किये हैं । भरत-सूत्र से षडज ग्रामिक स्वरों में यदि गान्धार स्वर को दो श्रुति चढ़ाकर उसे धैवत मान लिया जाए तो उस स्वरावली में मध्यमग्राम की सभी मूर्च्छनाएं प्राप्त की जा सकती है[2] । इसी प्रकार मध्यमग्रामिक स्वरों में मिली हुई वीणा पर षडजग्रामिक सभी मूर्च्छनाएं प्राप्त की जा सकती है यदि मध्यमग्रामिक धैवत को दो श्रुति उतार कर उसे गान्धार मानकर आरोह-अवरोह किया जाए[3] । अर्थात् षडजग्रामीय गान्धार को इतना चढ़ा दिया जाए कि इस गान्धार का सम्बन्ध मध्यमग्रामी धैवत से हो जाए अर्थात् ग-ध अन्तर स-म के अन्तर के बराबर हो जाए । यानी षडज ग्रामिक दो श्रुति चढ़े हुए गान्धार को धैवत स्वर मानकर आरोह-अवरोह करने पर मध्यमग्रामी मूर्च्छना के स्वर प्राप्त होंगे । इसी प्रकार मध्यमग्रामी दो श्रुति उत्तरे हुए धैवत को गान्धार मानकर आरोह-अवरोह करने पर षडज की मूर्च्छना के स्वर प्राप्त होंगे । अर्थात् किंचित परिवर्तन से षडज से मध्यम, और मध्यम ग्राम से षडज ग्रामिक स्वर प्राप्त हो सकते हैं । जैसा डॉ० मुकुन्द लाट ने लिखा है[4] ।

इसके अतिरिक्त ग्राम के जिस स्वर से उत्कर्ष या अपकर्ष किया जाता है वह स्वर दूसरे ग्राम के जिस स्वर का स्थान ग्रहण करता है उसके साथ उस स्वर

---

1. ना०शा पृ० 28/13 = 14
2. ना०शा० अभिनव भारती पृ० - 26 भरतसूत्र तत्र षडजग्रामे द्विश्रुत्युपकर्षाद्दैवतीकृते गान्धारे मूर्च्छना ग्ररमयोरन्यत्वम् ।
3. ना०शा० अभिनव भारती पृ० - तद्वन्मध्यमग्रामे धैवतमार्दवात् दैविध्ये तुल्यश्रुत्यन्तरत्वाच्च संज्ञान्यत्वम्" .
4. दत्तिलम् - 88 One grama could be transposed upon the other with case.

का सम्वाद हो जाता है तथा बदली हुई संज्ञा वाले स्वर में प्रायः उतनी श्रुतियाँ रहती हैं जितनी पूर्व संज्ञा वाले स्वर में रहती है[1] ।

उदाहरणार्थ षडजग्रामीय गान्धार दो श्रुति चढ़ने पर चतुःश्रुति गान्धार हो जाता है जिसे "अन्तरगान्धार" कहा जाता है यह "गान्धार" ही मध्यम ग्राम का चतुश्रुतिक धैवत की संज्ञा प्राप्त कर लेता है ।

षडजग्रामिक स्वर व श्रुतियों से मध्यम ग्रामिक स्वर व श्रुतियाँ-

स्वर-

स - रे अन्तरगान्धार - म - प - ध - नी

4 - 3 - 4 - 2 - 4 - 3 - 2

मध्यमग्रामी स्वर-

म - प - ध - नी - स - रे - ग

4 - 3 - 4 - 2 - 4 - 3 - 2

उपरोक्त चार्ट से स्पष्ट प्रतीत होता है कि केवल गान्धार स्वर को दो श्रुति चढ़ाने पर मध्यम ग्रामिक स्वर प्राप्त हो गये । अर्थात् एक ही समय में दो ग्रामों के स्वरों की प्राप्ति इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि भरत—काल का संगीत उत्तम कोटि का था जहाँ एक - एक स्वर के उत्कर्ष व अपकर्ष से विभिन्न स्वरावलियाँ प्राप्त की जाती थीं तथा एक ही समय में एक गान से दूसरे गान की सिद्धि ।

मूर्च्छना—सिद्धि का एक प्रयोजन, स्थान की प्राप्ति[2] । अर्थात् मूर्च्छना का प्रयोजन मन्द्र - मध्य और तार इन तीन सप्तकों की प्राप्ति था इस प्रसंग में

---

1. ना०शा० अभिनव भारती पृ० - तुल्यश्रुत्यन्तरत्वाच्च संज्ञान्यत्वम्"
2. ना०शा० पृ० - 27 मूर्च्छना तान प्रयोजनमपि स्थान प्राप्यर्थम्"

आचार्य वृहस्पति का कथन है कि मूर्च्छना तीनों सप्तक में थाट देती है इक्कीस तारों वाली "मत्तकोकिला" वीणा के आठवें तार की ध्वनि से मूर्च्छना के अनुसार स्वर प्राप्त किये जा सकते हैं[1] ।

भरत- संगीत में स्थान से अभिप्राय "शारीरीवीणा" मानवीय शरीर के हृदय, कंठ और मूर्धा अंगों से था । इस प्रकार हृदय कंठ और मूर्धा को क्रमशः स्वरों की उत्पत्ति का मन्द्र, मध्य और तार "स्थान माना गया है" । जिन स्वरों की अभिव्यक्ति से हृदय पर जोर पड़ता है वे स्वर मन्द्रस्थानीय, जिनके उच्चारण से कंठ पर जोर पड़ता है वे स्वर मध्यस्थानीय, और जिन स्वरों के उच्चारण से मूर्धा या मस्तिष्क पर जोर पड़ता है वे स्वर तार स्थानीय कहलाता है । वीणा (दाखी) चूँकि कंठ का अनुकरण मात्र है अतएव वीणाओं में भरत ने 21 तारों वाली मत्तकोकिला पर षडजजादि सप्तस्वर मूर्च्छना के तीनों स्थानों का विवरण दिया है । इसी कारण मत्तकोकिला वीणा पर मूर्च्छना के त्रिस्थानीय स्वरों के स्वरूप की प्राप्ति की जाती है । महर्षि भरत ने इन स्थानों के संबंध में 17 वें अध्याय में "काकूविधान" में पर्याप्त चर्चा की है[2] ।

स्थान के संबंध में डॉ0 मुकुन्द लाट ने दत्तिल के मत का स्पष्टीकरण किया है स्थान से अभिप्राय शरीरस्थ तीनों हृदय, कंठ और मूर्धा अंगों से है । स्थान

---

1. संगीतचिन्तामणि आचार्य वृहस्पति पृ0 - 214 भरत ने मूर्च्छना का प्रयोजन स्थान की प्राप्ति बताया अर्थात् मूर्च्छना तीनां सप्तक में ठाठ देती है, राग नहीं । मत्तकोकिला के आठवें तार की ध्वनि को ही मूर्च्छना के अनुसार षडज, ऋषभ इत्यादि मानकर अगले पिछले तारों को अभीष्ट स्वरों की प्राप्ति के लिए चढ़ा उतारकर किसी भी मूर्च्छना का त्रिस्थानीय ।

2. ना0शा0 पृ0 - 27 अभिनव गुप्त "ननु त्रिषु स्थानेषु सप्तस्वरा इत्युक्तं काकुविधाने" ।

का तात्पर्य मन्द्र मध्यतार सप्तकों से लिया जा सकता है[1] । अभिप्राय यह है, कि भरतनिर्दिष्ट "मूर्च्छना" में मन्द्र, मध्य और तार इन तीन स्थानों के स्वर प्राप्त हो जाते हैं । परिणामस्वरूप जाति का सर्वांग स्वरूप इनमें उतर आता है । मूर्च्छना के इस त्रिस्थानीय स्वरूप की उपयोगिता के आधार पर ही मतंग ने सप्तस्वरमूर्च्छना के साथ द्वादशस्वरमूर्च्छना का भी उल्लेख किया क्यों कि जाति का रागों के स्वरूप के प्रत्यक्षीकरण के लिए मध्य स्थान से कुछ स्वर मन्द्र और कुछ तारस्वर को लेकर द्वादशस्वरमूर्च्छना आवश्यक थी । अर्थात् मतंग ने भरत की सप्तस्वर मूर्च्छना के आधार पर ही द्वादशस्वर मूर्च्छना" का विवेचन किया । आचार्य वृहस्पति ने इसी मत का उल्लेख किया है[2] ।

इस प्रकार एक गान से दूसरा गान बनाने की विधि तथा तीन सप्तक के स्वरों की प्राप्ति करना मूर्च्छना का प्रयोजन है ।

---

1. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 95 The term sthana basically denoted the anatomic seat (sthana) of a particularly octave by association. It also came to mean musical octame itself. Each sthana and octave which resided in it contained 22 sruties. Dattala evidently takes madhy octave as the basic one second ex below and above this octave. He says resulted in the mandra and tara.

2. संगीतचिन्तामणि आचार्य वृहस्पति पृ0 - 215 मतंग का कथन है कि किसी भी राग का रूप स्पष्ट होने के लिए बारह स्वर अर्थात् मध्यसप्तक के सात स्वर तथा मन्द्र और तार के कुछ स्वर आवश्यक है ।

मूर्च्छना के भेद-

दोनो ग्रामों में प्रयोज्य स्वरों के आधार पर मूर्च्छनाओं के चार भेदों का उल्लेख - "नाट्यशास्त्र" में मिलता है । इस सम्बन्ध में विद्वानों के दो मत प्रचलित है ।

एकमत महर्षि भरत का है जिसमें "क्रमयुक्त सात स्वर मूर्च्छना" है जिसमें शुद्धा, काकली, अन्तरसंहिता और साधारणीकृता[1] । इस मत को भरत के अतिरिक्त पंडित शारंगदेव, मतंग आदि ने भी स्वीकार किया है[2] ।

दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार-मूर्च्छना के पूर्णा, षाडवित - ओडवित और साधरणीकृता ये चार भेद हैं । इस मत की चर्चा मतंग ने भी की है इसके अतिरिक्त दत्तिल और सिंह भूपाल ने मूर्च्छना के इन भेदों को स्वीकार किया है । सात स्वरों में गाई जाने वाली मूर्च्छना पूर्णा है - छः स्वरों में गाई जाने वाली षाडवा पाँच स्वरों में गाई जाने वाली औडविता और काकली निषाद तथा अन्तरगान्धार युक्त स्वरों में गाई जाने वाली साधारणी मूर्च्छना कहलाती है[3] । विद्वानों के दूसरे मत के अनुसार षाडवित और ओडवित मूर्च्छना के स्वरूप नहीं है बल्कि वे तान है । जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट (Datila) He posits that a murchana was a series of notes in the as cending order (आरोहात्मक), whereas tana was conceived in a descending order (अवरोहात्मक) अर्थात् मूर्च्छना सात स्वरों का एक आरोहात्मक क्रम है सात स्वर मूर्च्छना का प्रधान लक्षण है जबकि तान का स्वरूप अवरोहात्मक होता है साथ ही षाडवित और औडवित स्वरों की तान होती है । जिसे Haxatonic और Pentatonic कहा जाता यह तान का स्वरूप है ।

---

1. ना0शा0 अभिनव भारती 28/33 साधरणकृताश्चैव काकलीसमलंकृता/ अन्तरस्वरसंयुक्ता मूर्च्छना ग्रामयोर्द्धयोः"
2. संगीतचिन्तामणी आचार्य वृहस्पति पृ0-213 शुद्धा काकली संहिता, सान्तरा और साधारणकृता-मूर्च्छना के ये चार प्रकार भरत मतंग शारंगदेव सबको मान्य है ।
3. सं0सं0अ0सं0 स्वराध्याय पृ0-144 तत्र सप्तस्वरामूर्च्छना चतुर्विधा पूर्णा षाडवौडविता साधरणी चेति, तत्र सप्तभिः स्वरैः सा गीयते सा पूर्णा, षडभिः स्वरैया गीयते सा षाडवा, पंचभिः स्वरैः या गीयते सौडुविला काकल्यन्तरे स्वरैः या गेयते सा साधारणी

ने दत्तिल के मत को उल्लेख किया है[1] । स्वयं भरत ने भी षाडवित और औडवित को तान कहा है । जो छः स्वर और पाँच स्वरों से उत्पन्न होती है[2] ।

अतएव भरतनिर्दिष्ट शुद्धा, काकती संहिता, सान्तरा और साधरणकृता ये चार भेद मूर्च्छना के है । क्योंकि मूर्च्छना का प्रधान लक्षण क्रमानुसार सप्तस्वरता भरतमत से शुद्ध मूर्च्छना है अर्थात् जिसमें सात स्वरों का होना आवश्यक है । शुद्धा मूर्च्छना ही पूर्णा या सम्पूर्णा कहलाती है ।

काकली निषाद युक्त दूसरी मूर्च्छना - अन्तर गान्धार युक्त तीसरी, काकली अन्तरगान्धार युक्ते चौथी मूर्च्छना, ये चार मूर्च्छना के प्रकार हैं । मूर्च्छनाओं से ही तानों की निर्मिति की जाती हैं जिनका विवेचन आगे किया जायेगा -

1. शुद्धामूर्च्छना - षडजादि पूर्णाः सप्तस्वराः जिसमें सप्तशुद्ध स्वरों का प्रयोग किया जाए वह पूर्णा है ।

2. अन्तरसंहिता - जिस मूर्च्छना में अन्तर गान्धार का प्रयोग किया जाता है वह अन्तर संहिता ।

3. काकली संहिता जिस मूर्च्छना में काकली निषाद का प्रयोग किया जाता है वह काकली संहिता ।

4. साधरणीकृता - जिस मूर्च्छना में अन्तरगान्धार और काकली निषाद दोनों स्वरों का प्रयोग किया जाता हो[3] ।

---

1. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्दलाट पृ0 - 91 Murehana Dattila had said could be rendered as hexatonic or pentatonic such murchana were tana.
2. ना0शा0 28/32 षट्पन्चस्वरकास्तानाः षाडवौडिवताश्रया ।
3. ना0शा0 28/33 साधारणकृताश्चैव काकलीसमलङकृताः अन्तरस्वर संयुक्त। मूर्च्छना ग्रामद्धयो ।

इस प्रकार भरत-निर्दिष्ट गान्धर्व के स्वर पक्ष की जितनी भी कलात्मक क्रियाएं हैं वे सभी ग्राम-मूर्च्छना के प्रकारों में सम्पादित की जाती थी । प्रो० ललित किशोर सिंह के शब्दों में प्राचीन यूनानी पद्धति में भी इसी तरह मूर्च्छनाओं का प्रयोग होता था । जिन्हें "मोड" कहते थे (Mode), इन "मोडो" से अनेक प्रकार के "स्वर-संक्रम" तैयार होते थे । जब पाश्चात्य देशों में "संहति" का प्रचार हुआ तो इन सारे "मोडों" का लोप हो गया और गुरू ग्राम और लघु ग्राम ये दो मोड रह गये - क्योंकि संहिता के लिए ये ही उपयुक्त समझे गये[1] । इसी प्रकार हमारे यहाँ भी भरतोक्त ग्राम-मूर्च्छना पद्धति का शनैः-शनैः लोप होता गया और सुविधा के लिए थाट-राग पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ और संगीत से सम्बन्धित सभी क्रियाएं थाट - राग पद्धति में समाविष्ट हो गई ।

मूर्च्छना से तान-

आधुनिक संगीत की भाषा में स्वरों की द्रुतगति से कहने की क्रिया तान कहलाती है । "तान" शब्द तन् धातु से बना है जिसका अभिप्राय स्वरों को द्रुतगति से तानना या विस्तार करना है । भरत-निर्दिष्ट गान्धर्व में भी "तानों" का प्रयोग किया जाता था मूर्च्छना से ही "तान" बनती थी[2] । "तत्र मूर्च्छनाश्रिताना" अर्थात् ताने मूर्च्छनाओं के आश्रित थीं ।

भरत-मत से मूर्च्छना के पंचस्वर और षटस्वरों से तानों का स्वरूप दिखाई देता है । छः स्वरों वाली उनचास ताने और पाँच स्वरों वाली पैतीस तानें । इस प्रकार तानों की कुल संख्या 49 + 35 = 84 थी[3] ।

---

1. ध्वनि और संगीत प्रो० ललित किशोर सिंह पृ० - 15
2. ना०शा० 27 - तत्र मूर्च्छनाश्रितास्ताना ।
3. ना०शा० 27 तत्र एकान्नपन्चाशत् षटस्वरः पन्चत्रिशत् पन्चस्वराः ।

इससे सिद्ध होता है, कि भरत ने दोनों ग्रामों के पाँच स्वर और छः स्वरों की मूर्च्छना को तान कहा है और जिनकी संख्या चौरासी है । इस प्रकार षडवित और औडवित मूर्च्छना के प्रकार या भेद नहीं है बल्कि ये मूर्च्छना से उत्पन्न एक स्वरूप है जिन्हें भरत ने "तान्" कहा है । आचार्य वृहस्पति ने भी मूर्च्छना के षडवित और औडवित प्रकार को तान तथा "सम्पूर्ण" प्रकार को मूर्च्छना कहा है[1] ।

इस संदर्भ में डॉ0 मुकुन्द लाट ने आचार्य दत्तिल के मतानुसार पाँच और छः स्वरों की मूर्च्छना को "तान" कहा है[2] । महर्षि भरत ने स्वयं "षट्स्वर और पाँच स्वरों" को तान कहा है[3] ।

भरत के परवर्ती विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार "तान" का स्वरूप बताया है जिसका संदर्भ डॉ0 मुकुन्द लाट ने दिया है मूर्च्छना स्वरों के चढ़ते हुए क्रम को कहते हैं अर्थात् मूर्च्छना आरोहात्मक है, तान स्वरों के उतरते हुए क्रम है अर्थात् तान का स्वरूप अवरोहात्मक है[4] ।

जब कि भरत ने स्वयं तान के स्वरूप के लिए सूत्रों का निर्देश दिया है तान औडवित और षाडवित होती है जिसका नियम है षडजग्राम से उत्पन्न षटस्वर

---

1. भरत का संगीत सिद्धान्त पृ0 - 38 औडवित और षाडवित अवस्था की महर्षि भरत ने तान और सम्पूर्ण अवस्था की मूर्च्छना कहा है ।
2. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 91 Murchana Dattila said, could be rendered as hexatonic or pentatonic, such murchanas were tana.
3. ना0शा0 28/32 षट पन्चस्वरकास्तानाः षाडबौड्डुविताश्रयाः
4. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 91 Murchana was a series of notes in the ascending order (आरोहात्मकम्) whereas tana was concieved in a descending order (अवरोहात्मक)

तानों के लिए क्रमशः षडज - रिषभ - निषाद - पंचम ये चार स्वरों के वर्जित करने पर तथा मध्यम ग्राम में षडज रिषभ - गन्धार इन तीन स्वरों से षट्स्वर वाली तानें बनती हैं जिनकी संख्या भरत ने "उनचास" मानी है । "एवमेते षटस्वरा" सर्वासु मूर्च्छनासु क्रियमाणा भवन्ति एकान्नपल्चाशत्ताना:"

इसी प्रकार मध्यम तथा षडज ग्राम की पंचस्वरा मूर्च्छना ताने हैं जिनका लक्षण भरत ने इस प्रकार बताया है - षडज ग्राम में षडज - पंचम, रिषभ पंचम, निषाद - गान्धार स्वरों की इन तीन जोडियों से और मध्यम ग्राम में गन्धार-निषाद रिषभ-धैवत स्वरों की इन दो जोड़ियों को निकाल देने पर पंचस्वरा तानें बनती हैं जिनकी संख्या क्रमशः 35 है एवमेते पन्चस्वराः सर्वासु मूर्च्छनासु क्रियमाणास्ताना:- पन्चत्रिंशद्भवन्ति"[1] भरत के परवर्ती विद्वानों ने यद्यपि अपने-अपने मतानुसार तान और मूर्च्छनाओं के स्वरूप का विवरण दिया है किन्तु महर्षि भरत के नाट्य शास्त्र में मूर्च्छना और तानों के स्वरूप का स्पष्टतया विवरण है । महर्षि भरत ने तानों के प्रयोग के लिए यह भी निर्देश दिया है कि तान दो प्रकार से कार्यान्वित होनी चाहिये "द्विविधा च तान क्रिया तन्त्रया प्रवेशान्निग्रहाच्च"[2] अर्थात् तान का प्रयोग तन्त्रीवीणा पर प्रवेशात् और निग्रह के द्वारा क्रियान्वित होनी चाहिये ।

यहाँ एक तथ्य महत्वपूर्ण है कि भरत-निर्दिष्ट जातियाँ और मूर्च्छना आदि के स्वरों का स्पष्टीकरण करने के लिए तन्त्रीवीणा का आश्रय लिया जाता था ।

---

1. ना0शा0 पृ0 - 27 लक्षण तु षटस्वराणां सप्तविध षडजर्षभनिषाद पन्चमहीनाश्चत्वारः षडजग्रामे । मध्यमग्रामे तु षडजर्षभगन्धारहीनास्त्रय एवमेते षटस्वराः सर्वासु मूर्च्छनासु क्रियमाणा भवन्त्येकान्पन्चशत्ताना: । ------ एवमेते पन्चस्वराः सर्वासु मूर्च्छनासु क्रियमाणास्तानां पन्चविंशतवन्ति ।

2. ना0शा0 पृ0 - 27 द्विविधा च तान क्रिया तन्त्रया प्रवेशान्निग्रहाच्च ।

कंठतन्त्री के साथ वीणा का उपयोग भी आवश्यक था बल्कि भरत ने स्वर-श्रुति-तान आदि के स्वरूप की व्याख्या "वीणा" के द्वारा दर्शाई है ।

इसी कारण मूर्च्छनाओं के स्वरों से "तान निर्माण" की प्रक्रिया में भरत ने तान के दो प्रकार से प्रयोग बताए हैं । वीणा के स्वरों पर प्रवेश के द्वारा और निग्रह के द्वारा "तान" प्रक्रिया की जाती है । स्वर से भरत का अभिप्राय अधर स्वर के प्रकर्ष और उत्तर स्वर के मार्दव से "प्रवेशन" क्रिया होती हैं[1] ।

अधर और उत्तर स्वरों का अर्थ है किसी स्वर के "अधर" यानी नीचे स्वर को खींचना "उत्तर" स्वर से अर्थ है किसी ऊपर के स्वर को ढीला करना यथा "अधर स्वरप्रकर्षात्" "उत्तरस्वर मार्दवात्" इस दृष्टि से नीचे के स्वर को खींचने और ऊपर के स्वर को ढीला करने से जो क्रियाएं तन्त्री पर की गई उसे "प्रवेशन" समझना चाहिये । इस प्रकार प्रवेशन की क्रिया दो प्रकार से सम्पन्न की गई ।

भरत - निर्दिष्ट तान की इस प्रवेशन क्रिया का स्पष्टीकरण आचार्य ब्रहस्पति ने मतंग के इन पदों से किया है । "यदि किसी तान में षडज स्वर का लोप विहित है तो षडज के बोधक तार को चढ़ाकर उस पर ऋषभ की स्थापना करना प्रकर्ष है । ऋषभ की अपेक्षा षडज "अधर" या नीचा "स्वर" है षडज स्वर के तार को चढ़ाकर (खींचकर) उसे ऋषभ स्वर करना "अधर" स्वर का प्रकर्ष है यह "प्रेवश" का एक प्रकार है ।

उसी प्रकार लोपनीय तार को ढीला करके उसे "निषाद" में परिवर्तित कर देना "उत्तर" स्वर का मार्दव है । इस उत्तर स्वर का "मार्दव" यानी तार ढीला करके एक स्वर नीचा कर देना उत्तर स्वर का मार्दव है । यही प्रकर्ष का दूसरा प्रकार

---

1. ना0शा0 पृ0 - 27 तत्र प्रवेशानं मधुर स्वर विप्रकर्षादुत्तरमदिवाद्वा ।

है[1] । अभिप्राय यह है भरत ने तान की इस क्रिया "प्रवेशान" को स्पष्ट करने के लिए वीणा की तन्त्री को "ढीला" और चढ़ाकर करके प्रदर्शित किया है ।

"अधर स्वर प्रकर्षात् और उत्तर स्वर मार्दवात्" तानों की क्रिया का डॉ0 मुकुन्द लाट ने भी स्पष्टीकरण दिया है । किसी स्वर को शिथिल करने और खींचने के लिए वीणा के तार को तदनुसार कसना और ढीला करना प्रवेशान है[2] । अर्थात् स्वरों को प्रकर्ष यानी चढ़ाने में और मार्दव यानी उतारने में "तान क्रिया" को करना भरत-मत से प्रवेशन था । तानों को बनाने का दूसरा प्रकार "निग्रह" था "प्रवेशान्निग्रहाच्चं" "निग्रह" के लिए भरत ने असस्पर्श शब्द का भी प्रयोग किया है जिसका भाव है स्वर को जैसा का तैसा रहने देना अर्थात् बिना अन्तर के । अभिप्राय यह है कि किसी विशेष मूर्च्छना पर आश्रित तान की स्थापना में प्रवेश एवं निग्रह क्रिया का आधार लेकर तानों की स्थापना की जाती थी ।

---

1. संगीत चिन्तामणी, "वृहद्दृशी का कथन" पृ0 - 72 आचार्य ब्रहस्पति द्विविधस्तानप्रयोग: प्रवेशेन निग्रहेण च । प्रवेशो ऋषभापेक्षया षडजस्या-धारीभूतस्य लोपनीयस्य विप्रकर्षपीडनम् । ऋषभापादानम् इति यावत् इति विप्रकर्षेण प्रवेशेन । मार्दवेन यथा तस्यैव षडजस्य निषादापेक्षया उत्तरीभूतस्य मार्दव । शिथलीकरणम् निषादपादानं प्रवेश इति द्विविधं प्रवेशनम् ।

2. दत्तिलम् पृ0 - 92 So that in order to drop a note it was necessary to tighten (pidana). The string tuned to that note and tune it to the next higher note or cenuersely loosen (sithilikeran) the string and tune it to the next lower note.

इस प्रकार मूर्च्छनाओं से तानों का निर्माण किया जाता था तथा षडज और मध्यम ग्राम से क्रमशः 84 तानों बनाई जा सकती थी ।

आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में भरतनिर्दिष्ट मूर्च्छना-

भरत की "ग्राम मूर्च्छना" पद्धति तत्कालीन गान्धर्व की वे विधियाँ थी जिनमें "जाति" या रागों के स्वरूप का सर्वांग विस्तार करने के विधान थे । ग्राम के आरम्भिक स्वर को आधार मानकर विविध स्वरावलियों का निर्माण, मूर्च्छना के विविध प्रकारों में स्वरों के विभिन्न प्रयोग, षडजग्रामिक स्वरों से मध्यमग्रामिक स्वर प्राप्त करना अर्थात् एक ही समय में एक गान से दूसरे गान द्वारा संगीत में वैचित्र्य उत्पन्न करना, मूर्च्छना के स्वरों से "तान" आदि की कलात्मक क्रियाएं सम्पादित करना तथा सप्तक के मन्द्र मध्य और तारस्थानीय स्वरों की प्राप्ति आदि के विधान भरत की ग्राम-मूर्च्छना-पद्धति में था ।

आधुनिक संगीत के संदर्भ में जब हम भरत-निर्दिष्ट मूर्च्छना आदि का अवलोकन करते हैं तो "क्रमानुसारसप्तस्वरता" के प्रयोग के कारण मूर्च्छनाओं को आधुनिक थाटों का स्वरूप कहा जा सकता है - क्योंकि "सप्तस्वरता" मूर्च्छना का प्रधान लक्षण है यही नहीं स्वरों का क्रमानुसार प्रयोग भी आवश्यक है । थाट का भी प्रधान लक्षण क्रमानुसार सात स्वरों का प्रयोग है ।

जिस प्रकार थाटों से रागों के विभिन्न स्वरूप प्राप्त होते हैं । उसी प्रकार मूर्च्छना के स्वरों से जातियों का विस्तारपरवर्ती विद्वानों ने स्वीकार किया । जाति में अंश स्वरों की बहुलता के कारण मूर्च्छना को जाति का कारण माना गया है[1] । हालांकि मूर्च्छना और जाति के प्रसंग में महर्षि ने किसी जाति विशेष के लिए मूर्च्छना

---

1. कश्यप सं0र0अ0सं0 रागा0 कल्लि पृ0 - 32 ज्ञात्वा जात्यंशवाहुल्यं निर्देश्या मूर्च्छना बुधैः ।

के आधार का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु भरत के जातिगत लक्षणों के आधार पर परवर्ती विद्वानों ने जातियों के लिए मूर्च्छना का निर्देश अवश्य किया है[1] ।

ग्राम के प्रत्येक स्वर का आधार लेकर आरोह-अवरोह करने की क्रिया मूर्च्छना है । मूर्च्छना के इसी चक्र में भरत-निर्दिष्ट जातियों का स्वरूप निहित था। अतएव जातियाँ आधुनिक रागों का पूर्व रूप कही जा सकती है । तथा मूर्च्छनाओं को ठाठों का पूर्व रूप कह सकते हैं । जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट ने उल्लेख किया है[2]। मूर्च्छना एक प्रकार से प्राचीन संगीत में स्केल या ठाठ थी जिनसे जातियों का विस्तार किया जाता होगा । अतएव परवर्ती विद्वानों के मत से ग्राम-मूर्च्छना-पद्धति में हम आधुनिक थाट-राग-पद्धति के कुछ स्वरूप की मान्यता दे सकते हैं । किन्तु यदि स्पष्टतया विवेचन किया जाए तो भरत-निर्दिष्ट ग्राम - मूर्च्छना पद्धति आधुनिक शुद्ध विकृत 12 स्वरों पर स्थित थाट राग पद्धति से पर्याप्त मात्रा में भिन्न है । क्योंकि -

ग्राम मूर्च्छना पद्धति आधुनिक थाट-राग पद्धति की अपेक्षा स्वतन्त्र और समृद्ध थी इसमें एक-एक स्वर को आरम्भिक स्वर मानते हुए अनेक स्वर-संचारों का निर्माण करने का विधान था । अर्थात् विभिन्न मूर्च्छनाएं विभिन्न स्वर-सप्तक होती है । जैसा आचार्य वृहस्पति का कथन है[3] ।

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 87 डॉ0 मुकुन्द लाट (मतंग का कथन)
   The nature of murchana, states, that a murchana is the basis on which raga is built or erected.
2. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 88 It is generally believed that murchana was the ancient scale.
3. संगीत चिन्तामणि आचार्य वृहस्पति पृ0 - 214 मूर्च्छना तीनों सप्तकों में ठाठ देती है गंभ नहीं ।

शुद्ध विकृत 12 स्वरों की प्रचलित थाट - राग-पद्धति में आज का संगीत सिमिट गया परिणामतः ग्राम - मूर्च्छना के तत्वों का अभाव हो गया है यही कारण है कि शुद्ध और विकृत स्वरों के थाटों से रागों का विस्तार किया जाता है थाट-राग की पद्धति अपने में सीमित होने के कारण ही कुछ प्रचलित राग ऐसे हैं जिनका स्वरूप इन थाटों में नहीं मिलता है ऐसे राग विवादास्पद हैं जैसे ललित, मधुवन्ती हंस किंकणी आदि । जैसा आचार्य वृहस्पति ने लिखा है[1] । अर्थात् आधुनिक थाट - राग - पद्धति पर विदेशी प्रभाव दिखाई देता है । यही कारण है कि प्रचलित थाटों में कुछ राग आज भी शामिल नहीं किये जाते हैं -

जबकि भरत की ग्राम - मूर्च्छना पद्धति से यदि प्रत्येक स्वर का आधार लेकर स्वर वलियाँ बनाई जाए तो हमें आधुनिक सभी थाट प्राप्त हो सकते हैं उदाहरणार्थ यदि शुद्ध स्वर वाले थाट विलावल के स्वरों स-रे-ग-म-प-ध-नी, मे-से-रे को सा मानकर उन्हीं स्वरों में आरोह-अवरोह किया जाए तो हमें काफी थाट की प्राप्ति हो जाती है । इसी कारण अन्य स्वरों का आरम्भिक स्वर मानकर आरोह-अवरोह करने पर और अन्य थाटों की प्राप्ति हो सकती है ।

यही कारण था कि भरत-संगीत में विकृत स्वरों का अधिक विधान नहीं है । विकृत स्वरों के अभाव में भरत-संगीत दो ग्रामों तक सीमित हो जाता, इसी कारण इस अभाव को दूर करने के लिए ही भरत ने मूर्च्छनाओं की व्यवस्था की, जिसमें स्वरों के श्रुत्यन्तर मूलभूत ग्राम के अनुसार होने पर भी आरम्भिक स्वर बदलते ही आगामी स्वरों की आपसी स्थिति अपने आप बदल जाती थी और स्वरों के स्वरूप बदल जाते थे और इस प्रकार विकृत स्वरों की प्राप्ति अनायास हो जाती थी । यही नहीं

1; संगीत चिन्तामणि आचार्य वृहस्पति पृ0 - 198 एक स्थान के अन्तर्गत स-रे-रे-म-ग-म-प-ध-ध-नी-नी नामक बारह स्वरों की कल्पना का मूल भरत शारंगदेव की ग्राम मूर्च्छना पद्धति में न होकर ईरानी मुकाम पद्धति है ।

मूर्च्छना-विधान में भरत-वीणा "भंत्तकोकिला" या आधुनिक वाद्य स्वरमण्डल में मन्द्र, मध्य और तार स्थान के इक्कीसों स्वर अर्थात् तीन सप्तकों के स्वर स्पष्ट हो जाते हैं ।

जब कि शुद्ध विकृत 12 स्वरों में से सात स्वर का सप्तक हमें केवल मध्यस्थानीय स्वर देता है । यही नहीं थाट - व्यवस्था में हम विकृत स्वरों के अलग-अलग थाटों की योजना बनानी पड़ती है उसमें भी कुछ राग ऐसे है, जो थाट-व्यवस्था में खरे नहीं उतरते । मूर्च्छना - विधान में हमें तानों के विभिन्न प्रकार मिलते हैं । डॉ0 लाट लिखते हैं तान आदि भी मूर्च्छना पर निर्भर करती हैं " Bharat on the other hand says that tans depend upon Murchana"[1]

अभिनव गुप्त ने भी उल्लेख किया है "प्रयोगकर्त्ता व श्रोतागण" के आनन्द की वृद्धि हेतु मूर्च्छना-तान का उपयोग होता था[2] ।

पाश्चात्यसंगीत में आज भी मूर्च्छना प्रक्रिया का उपयोग किया जाता है जिसे वे Shift of Key के नाम से पुकारते हैं । यही कारण है कि किसी भी रचना को प्रस्तुत करने से पूर्व पाश्चात्य वाद्य यन्त्रों को विशिष्ट स्वरों (Key Notes) में मिला लिया जाता है जिसके किसी भी स्वर को मूलभूत स्वर मानते हुए आरोह-अवरोह करने पर नवीन स्वरावलियाँ मिल सकें, जो वाद्यवृन्द में सहायक होती है । आज भी सुयोग्य गायक-वादकों की गायकी में मूर्च्छना के प्रक्रिया कभी-कभी दृष्टिगत होती है । तीन स्थानों मन्द्र-मध्य-तार स्वरावलियों, की प्राप्ति भरत ने मूर्च्छना का उद्देश्य माना, शरीरस्थ इन तीनों स्थानों का प्रकरण भरत ने शारीरीवीणा अर्थात् कंठ से लिया, अन्य तन्त्रवाद्य इसी कंठ की अनुकृति मात्र हैं, अतएव

---

1. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 91
2. ना0शा0 अभिनव गुप्त. पृ0 - 30 "प्रयोक्तुः श्रोतृसुखार्थं च मूर्च्छना ताननानात्वमिति"

गायम या वादन दोनों में जातियों के मन्द्र, मध्य और उच्चस्थानीय स्वर विस्तार के लिए भरत-निर्दिष्ट मूर्च्छनाएं पर्याप्त थीं । इसी कारण मतंग ने मूर्च्छना की "सप्तस्वरता" के साथ ग्यारह स्वर की मूर्च्छनाओं का उल्लेख किया, जिसमें मध्यम स्थान के आगे पीछे के कुछ स्वर जोड़कर जाति के सम्पूर्ण स्वरूप को दृष्टिगत किया जा सके जैसा आचार्य वृहस्पति ने लिखा है[1] ।

जब कि आज की थाट - राग प्रणाली हमें केवल मध्य-स्थानीय स्वर देती है अतएव इस सीमित स्वर योजना में हमें राग विशेष में प्रयुक्त किये जाने वाले स्वरों का तो अन्दाज होता है किन्तु रागों के स्पष्ट स्वरूप नहीं प्राप्त होते हैं । यही नहीं षडज स्वर के स्थिर हो जाने के कारण भी रागों का स्वरूप नहीं प्राप्त होता । जैसे कल्याण थाट के कल्याण राग का स्वरूप "सरेगमंपधनी" इस स्वरों के स्थान पर "नीरेगमेपधनी" में अधिक मिल सकता है यही नहीं ग्राम - मूर्च्छना पद्धति में स्वरों की सम्वादात्मकता का विशेष ध्यान रक्खा गया है - जबकि थाट - राग व्यवस्था में स्वरों के इस सम्वाद का कहीं-कहीं अभाव भी देखा गया है ।

किन्तु फिर भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आधुनिक "सप्तक-थाट-राग" व्यवस्था का मूल रूप ग्राम-मूर्च्छना-पद्धति में अवश्य था[2] । जिसका स्पष्टीकरण मुकुन्द लाट ने किया है[3] कि ग्राम - मूर्च्छना में ही आधुनिक स्वरसप्तक का स्वरूप विद्यमान है ।

---

1. संगीत चिन्तामणि आचार्य वृहस्पति पृ0 215 मतंग का कथन है कि किसी भी राग का रूप स्पष्ट होने के लिए बारह स्वर अर्थात् मध्य सप्तक के साथ स्वर तथा मन्द्र और तार सप्तक के कुछ स्वर आवश्यक है ।
2. ना0शा0 - 66 मूर्च्छनानिदेशीपदिष्टमध्य सप्तक"
3. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 88 This indicates that the extent and position of the middle octave the pivotal octave is ancient as well current Indian music - was determined by murchana.

भरत के विकृत स्वर-

यद्यपि भरत निर्दिष्ट ग्राम-मूर्च्छना - पद्धति में स्वरों की विकृतियों का उल्लेख नहीं मिलता है फिर भी "नाट्यशास्त्र" से स्पष्टतया प्रतीत होता है, कि भरत-संगीत में ऐसे स्वरों का प्रयोग किया जाता था जो अपनी मूल श्रुतियों पर न रह कर इधर-उधर रहते थे । इन स्वरों को आज की सांगीतिक भाषा में विकृत स्वर की संज्ञा दी जा सकती है ।

ऐसे स्वरों के लिए भरत ने "साधारण" या मध्यवर्ती शब्दों का प्रयोग किया है "साधारणमिदानीं"[1] ये वे स्वर हैं जो न तो अपनी शुद्धावस्था में रहते हैं और न किसी दूसरे स्वर की अवस्था ग्रहण करते हैं अर्थात् "मध्यवर्ती" स्वर जो एक या दो या तीन श्रुति चढ़ते व उतरते हैं । अपनी निश्चित श्रुति पर स्थिति पर न रह कर, ऊँचे या नीचे रहने के कारण "मध्यवर्ती स्वर कहलाये भरत ने इन्हें" साधारण" संज्ञा दी है[2] । आचार्य अभिनव गुप्त ने "साधारण स्वरों की व्याख्या की है "अन्तरेभवः आन्तरः" अर्थात् साधारण स्वर अपने मूल स्थान से हटकर अन्य स्वर के स्थान में चला गया । आचार्य अभिनव गुप्त ने इन स्वरों को विशिष्ट रंजकता पूर्ण माना है तथा ये स्वर विस्वर नहीं होते अर्थात् विसम्वादी नहीं होते इनका भाव रंजकता के लिए होता है इसी कारण ये "स्वर" साधारण माने जाते हैं । और इसी कारण "साधारण" स्वर अपने स्थान से च्युत रहते हैं[3] । इनका अभिप्राय है कि "साधारण स्वर" वे हैं जिन्होंने पूर्व स्थिति का अन्त न किया हो और अगली स्थिति प्राप्त न

---

1. ना0शा0 पृ0 - साधरणीमदानीं व्याख्यास्यामः ।
2. ना0शा0 पृ0 - तत्र साधारण नामान्तरस्वरता ।
3. दत्तिलम् पृ0 - 99 डॉ0 मुकुन्द लाट We have noted that two auxilliary notes, antra gandhar and Kakli Ni were called by the generic name 'sadharan suar'

की हो, ऐसे बीच में "स्वर" साधारण है ये स्वर प्रयोग किये जाने पर रंजक भी होते हैं । जैसे आज कोमल और तीव्र स्वरों का प्रयोग रंजकता लिए हुए होता है। डॉ0 मुकुन्द लाट ने ऐसे स्वरों को "' Auxilliary Notes " कहा है ये स्वर अन्तर गान्धार और काकली निषाद है[1] ।

साधारण स्वरों को स्पष्ट करने के लिए भरत ने इनकी तुलना "ऋतु-परिवर्तन" से की है । ऋतु-परिवर्तन में वह समय जब छाया में जाने पर शीत का अनुभव और धूप में जाने पर पसीने का अनुभव होता हो ऐसा बीच का मौसम उसी प्रकार "साधारण स्वर" बीच के स्वर होते हैं । उदाहरणार्थ "कोमल गान्धार" भरत निर्दिष्ट "साधारण" स्वर कहा जा सकता है, क्योंकि कोमल गान्धार अपनी मूल श्रुति से उतरा होने के कारण न तो इसे शुद्ध गान्धार की संज्ञा दी जा सकती है और न इसे ऋषभ स्वर कहा जा सकता है । अतएव ऐसे स्वर आज की भाषा में विकृत स्वर कहलाये जायेंगे जो अपनी निश्चित श्रुतियों से ऊपर या नीचे होते हैं ।

डॉ0 मुकुन्द लाट ने इन स्वरों को कोमन् स्वर (Common Svara) भी कहा है क्योंकि ये स्वर अपने मूल स्वरूप और अगले या पिछले स्वरों के बीच में होने के कारण कोमन् है । "A note which fell between two notes it was common to both"[1]

इस प्रकार ये मध्यवर्ती स्वर भरत निर्दिष्ट "साधारण" स्वर हैं । आज भी संगीत में प्रयुक्त किये जाने वाले "विकृत स्वर" साधारण ही कहे जायेंगे । क्योंकि ये स्वर न तो अपनी मूल स्थिति को पूर्णतया छोड़ पाते हैं और न अन्य स्वर के प्रभाव से ही पूर्णतया आक्रान्त रहते हैं । इन स्वरों के प्रयोग भी रंजक होते हैं । अतएव आधुनिक

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 99 डॉ0 मुकुन्द लाट The notion of Sadharan according Bharat expressed something, which was intermidiary. Which fell between two major entities and was thus common.

संगीत में प्रयोज्यविकृत स्वर भरत निर्दिष्ट "साधारण" है । भरत ने "साधारण" दो प्रकार से माने हैं ।

1. स्वर साधारण
2. जाति साधारण[1]

" स्वर साधारण "

इस प्रकार भरत - संगीत में "साधारण" स्वर विशेष है । जिसके अन्तर्गत गान्धार और निषाद की विकृतियाँ आती हैं । यथा काकली नी और अन्तर गान्धार[2] स्वर साधारण है । भरत पद्धति में "साधारण" अर्थात् स्वरों की विकृतियाँ क्रमशः तीव्रता यानी स्वरों के ऊपर चढ़े हुए रहने में समझी जाती थी । शुद्ध गान्धार और शुद्ध निषाद द्विश्रुतिक कहे गये हैं । जब ये दोनों स्वर दो श्रुति अधिक हो जाते हैं । तब उन्हें क्रमशः काकली नी व अन्तर गान्धार कहा जाता है[3] । इस प्रकार ये निषाद और गन्धार की विकृतियाँ अपने मूल स्थान से चढ़ने पर होती है । "नाट्य शास्त्र" में काकली और अन्तर स्वरों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है जिस प्रकार कड़वा मीठा, चरपटा, नमकीन आदि स्वादों में नमकीन स्वाद सर्वाधिक रूप से तेज होता है ।

उसी प्रकार तीव्रता के कारण निषाद काकली और गन्धार अन्तर स्वर की संज्ञा प्राप्त कर लेते हैं[4] । आचार्य अभिनव गुप्त ने भी स्पष्ट किया है दोनों

---

1. ना0शा0 पृ0 - 31 तत्र द्वे साधारण जाति साधारण स्वर साधारण ।
2. ना0शा0 पृ0 - 32 स्वर साधारण काकल्यन्तरस्वरौ ।
3. ना0शा0 पृ0 32 तत्र द्विश्रुत्युत्कृष्टो निषादः काकली संज्ञों भवति । तद्वन्दान्धारोऽन्तरस्वरसंज्ञो भवति ।
4. ना0शा0 पृ0 - 32 कलत्वाच्च काकली संज्ञो भवति ---- यथाहि षण्णां रसानामन्यतमः क्षारसंज्ञितस्तथा निषादः काकली संज्ञो गन्धारश्चान्तरसंज्ञो भवति ।

स्वर तीव्रतर होने के कारण यानी श्रुतियों के चढ़ने से काकलीत्व कहलाते हैं[1] ।

इससे सिद्ध होता है कि भरत–संगीत में निषाद और गान्धार की विकृतियाँ क्रमशः तीव्रता की ओर रहती थीं । जब कि आधुनिक हिन्दुस्तानी संगीत में स्वरों की विकृतियाँ चढ़ने व उतरने दोनों में होती है जिन्हें क्रमशः कोमल व तीव्र कहा जाता है ।

निषाद और गान्धार की इन्हीं विकृतियों के कारण कुछ पाश्चात्य विद्वान इन दोनों स्वरों को "प्रवेशक स्वर" की संज्ञा देते हैं ।

प्रो० ललित किशोर सिंह ने भी निषाद और गान्धार की इस तीव्रता के कारण इन दोनों स्वरों को प्रवेशक स्वर कहा है[2] । प्रो० सिंह ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है कि यदि प स्वर से सं स्वर पर जाना हो तो नी स्वर को कण रूप से लेकर प नी सं कहकर सं पर पहुँचना आसान हो जाता है । अतएव भरत निर्दिष्ट काकली नी का प्रयोग एक प्रकार से "सं" स्वर का प्रवेशक स्वर या लीडिंग नोट है[3] । अतएव निषाद (काकली) गान्धार अन्तर ये दोनों स्वर षडज तथा मध्यम स्वरों की श्रुतियों को लेने के कारण तीव्रतर या "साधारण" स्वर कहलाते हैं । ये स्वर विशेष हैं ।

---

1. ना०शा० पृ० - द्वयोरपि तीव्रतरत्वात्काकलीत्वम् ।
2. ध्वनि और संगीत प्रो० ललित किशोर सिंह 147 इन विकृत स्वरों का भरत की पद्धति में केवल प्रवेशक "स्वर" के रूप में उपयोग होता है ।
3. ध्वनि और संगीत पृ० - 148 तान जब नीचे के स्वरों को छोड़कर किसी ठहराव के स्वर पर जाता है तो इस स्वर से दो श्रुति नीचे का स्वर छूकर जाता है । जैसे सीधे "प-स" नी लेकर "प-नी-स" लिया जाता है । जहाँ बड़े अन्तराल का लंघन होता है वहाँ यह क्रिया स्वाभाविक है । यहाँ नी का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । यह प से स में प्रवेश करने का एक द्वार मात्र है इसीलिए ऐसे स्वरों को प्रवेशक स्वर कहते हैं ।

उल्लेखनीय है, कि आज भी व्यवहारिक रूप में "काकली नी" अर्थात् तीव्रतर नी का प्रयोग रागों में किया जाता है । खमाज काफी आदि थाटों के रागों में नियमतः कोमल नी और कोमल ग का प्रयोग होना चाहिए किन्तु आरोह में शुद्ध ग और शुद्ध नी के प्रयोग की प्रथा है । यही नहीं कुछ रागों के आरोह में नी स्वर वर्जित होने पर भी तीव्र नी का प्रयोग कण रूप में करना अधिक सहज प्रतीत होता है । अतएव तीव्रतर निषाद को यदि कुछ विद्वान "प्रवेशक" स्वर के रूप में मान्यता देते हैं, तो संगीत के व्यवहारिक पक्ष को देखते हुए यह उचित जान पड़ता है । भरत-संगीत में काकली निषाद और अन्तरगान्धार का प्रभाव क्रमशः मध्यम और षडज स्वर पर भी पड़ता जिससे षडज और मध्यम भी "साधारण" हो जाते हैं । क्योंकि शुद्ध निषाद षडज स्वर की दो श्रुतियों ग्रहण करने पर काकली निषाद में परिणित हो जाता है, उसी प्रकार गान्धार स्वर मध्यम की दो श्रुतियाँ ग्रहण करने पर अन्तर गान्धार में परिणित हो जाता है जिससे चतुश्श्रुतिक षडज एवं मध्यम अब द्विश्रुतिक होने के कारण, ये स्वर क्रमशः "षडज साधारण और" मध्यम साधारण हो जाते हैं । अर्थात् स्वस्थान रूप से षडज और मध्यम स्वर चतुश्श्रुतिक है इन दोनों स्वरों की दो-दो श्रुतियाँ ग्रहण करने पर गान्धार और निषाद स्वर क्रमशः काकली और अन्तर स्वरत्व को प्राप्त होते हैं ।

आचार्य अभिनव गुप्त ने इस सम्बन्ध में अपना तर्क दिया है कि जब निषाद और गान्धार क्रमशः षडज और मध्यम की दो-दो श्रुतियाँ ग्रहण कर लेते हैं तो षडज और मध्यम स्वर भी द्विश्रुतिक होने के कारण विकृत स्वर हो जाते हैं[1] । इस प्रकार भरत-संगीत में काकली और अन्तरगान्धार की विकृतियों के अतिरिक्त षडज और मध्यम स्वर भी द्विश्रुतिक होने के कारण विकृत स्वर कहलाये । इसी कारण इन्हें षडज-साधारण और मध्यम-साधारण की संज्ञा प्राप्त हुई ।

---

1. ना0शा0 33 तत्र गान्धारनिषादयोर्विवगंदत्वात्तदुपक्रमे च विकृतिरूक्ता च तद्विकृत्या षडजमध्यमावपि विकृतौ ।

इसके अतिरिक्त नाट्यशास्त्र में षडज–साधारण और मध्यम–साधारण का एक और विशिष्ट प्रयोग है जो निषाद और गान्धार की दूसरी विकृतियों के फलस्वरूप किया जाता है - जब शुद्ध निषाद अपनी मूल अवस्था छोड़कर षडज की एक श्रुति ग्रहण कर लेता है और रिषभ स्वर भी षडज की एक यानी अन्तिम श्रुति ग्रहण कर लेता है तब षडज द्विश्रुतिक निषाद त्रिश्रुतिक और रिषभ चतुश्रुतिक हो जाता है अर्थात् यहाँ निषाद और रिषभ स्वरों के एक-एक श्रुति ग्रहण करने से षडज इन दोनों स्वरों से उपजीवित होने के कारण षडज–साधारण कहलाता है इस प्रकार निषाद और रिषभ स्वरों के द्वारा षडज के साधारण होने से रिषभ स्वर भी अपनी मूल अवस्था से एक श्रुति अधिक होने के कारण विकृति को प्राप्त हो जाता है । जैसा आचार्य अभिनव गुप्त का भी मत है[1] । यहाँ पर निषाद का एक श्रुति उत्कर्ष का अभिप्राय "कौशिक" "निषाद" अर्थात् निषाद स्वर का सूक्ष्म प्रयोग । निषाद और रिषभ स्वरों के क्षेत्र में षडज स्वर की एक-एक श्रुति चली जाती है तो निषाद, "कौशिक निषाद" त्रिश्रुतिक रिभष "चतुश्रुतिक रिषभ और षडज स्वर, "द्विश्रुतिक" होने के कारण "साधारण" होगा ।

इसी प्रकार शुद्ध गान्धार की भी दो विकृतियों के कारण मध्यम स्वर साधारणत्व को प्राप्त होता है । एक में गान्धार मध्यम की दो श्रुतियाँ ग्रहण करने के कारण अन्तर गान्धार तथा दूसरी विकृति में एक श्रुति ग्रहण करने के कारण गान्धार त्रिश्रुतिक अतएव साधारण गान्धार पंचम त्रिश्रुतिक तथा मध्यम की एक-एक श्रुति गान्धार तथा पंचम स्वर के क्षेत्र में चली जाने के कारण मध्यम साधारण हो जाता है[1] ।

---

1. ना0शा0 33, 34 यदा निषादः श्रुतिमेकामुत्कृष्यते ऋषभश्च, तदा निषादस्त्रिश्रुतिः, षडजो द्विश्रुतिः, क्षषभस्तु चतुश्रुतिरिति, तदा षडजसाधारणो द्वाभ्यां निषादर्षाभाभ्यामुपजीवितोयतः सम्पन्नः ततः षडजसाधारणम् ।

2. ना0शा0 पृ0 - 34 गान्धारो यदैकां श्रुतिमुत्कृष्यते पन्चमश्च मध्यमग्रामिको मध्यमश्रुतिकेमां गृहणाति धैवतस्तु चतुश्रुश्रुतिक एव मध्यमग्रामतायां हानि तदा मध्यमस्योपजीष्यत्वान्मध्यम साधारणम् ।

षडज–साधारण का प्रयोग षडज ग्राम में और मध्यम–साधारण का प्रयोग मध्यम ग्राम में होने के कारण धैवत स्वर भी चतुश्रुतिक होने के कारण धैवत भी विकृत स्वर है ।

अतएव भरत–संगीत में गान्धार तथा निषाद के अतिरिक्त षडज, मध्यम, पंचम रिषभ और धैवत ये सभी स्वर अपने शुद्ध रूप के साथ-साथ विकृत रूप में भी प्रयुक्त किये जाते थे तब इन्हें "साधारण" की संज्ञा दी जाती थी । क्योंकि साधारण स्वर भरत के विशिष्ट स्वर कहे गये हैं । इस संदर्भ में आचार्य अभिनव गुप्त का कथन है कि गान्धार और निषाद की विकृति अन्तरगान्धार और काकली निषाद के रूप में, गान्धार और निषाद की विकृति से मध्यम और षडज भी विकृत हो गये । (मध्यम ग्रामिक) पंचम त्रिश्रुतिक उसी प्रकार धैवत और रिषभ की विकृतियाँ भी बतानी चाहिये । स्वर साधारण दो प्रकार का तथा दो ग्राम से सम्बद्ध है अतएव रिषभ और धैवत की भी विकृतियाँ दिखाई है[1] ।

इस प्रकार "गान्धर्व" में सातों स्वरों का उच्चत्व नीचत्व अथवा शुद्ध विकृत प्रयोग वैचित्र्यता के लिए करने की प्रथा थी[2] । आज भी दक्षिण भारतीय संगीत के सप्तक में भरत–निर्दिष्ट काकली अन्तर आदि स्वरों की संज्ञा प्रचलित है, किन्तु आज की तरह संगीत में स्वरों को अचलत्व प्रदान करने की प्रथा नहीं थी । "प्रयोगस्य सौक्ष्म्यादि" सूत्र से सभी स्वर अपने शुद्ध व विकृत रूप में प्रयोग किये जाते थे ।

---

1. ना0शा0 पृ0 - 33 षडजश्चतुश्रुतिक इत्यादौ यावन्निषादों द्विश्रुतिरिति ...... तत्र गान्धार निषादयोर्विवादित्वात्रदुपक्रमे च विकृतिरूक्ता तद्विकृत्या च षडज मध्यावपि विकृतौ पन्चमस्य त्रिश्रुतिकाभिधाने दर्शितेव-विकृतिः। तद्द्वारेणैव धैवतस्यापि ऋषभस्य तु विकृतिर्वक्तव्या ।
2. ना0शा0 पृ0 - 34 अनेन चैतत्सूचयति सर्वेषां स्वराणामुच्चनीचत्ववौचित्र्यकृतोक्तिविशेषात्केवलं गान्धर्वे नियम (अ) दृष्टसिद्धयै एक श्रुतित्वं स्वराणां दर्शितम् ।

नाट्य शास्त्र में अन्तर और काकली स्वरों के प्रयोग का भी नियम था। जिसमें इन स्वरों का प्रयोग अल्प मात्रा में आरोह में करना चाहिये । अवरोह में नहीं[1] । आचार्य अभिनव गुप्त ने इस संदर्भ में "वृहद--काश्यप" के मत का उल्लेख करते हुए स्पष्ट किया है । कि एक दो या तीन श्रुति चढ़े हुए स्वरों का प्रयोग काकली और अन्तर स्वरों के योग से रागभाषा में किया जाना चाहिए अर्थात् अल्प प्रयोग[2] ।

कौशिक निषाद या केशाग्रअन्तर "स्वरों" का प्रयोग विलक्षणता की दृष्टि से भरत-संगीत में सूक्ष्म माना गया है । प्रयोगगत सूक्ष्मता के कारण भरत ने इस स्वर के लिए कौशिकी शब्द का प्रयोग किया है जिसका स्पष्टीकरण आचार्य अभिनव गुप्त ने किया है पातकी अग्रता की सूक्ष्मता के कारण अर्थात् ध्वनि में केशाग्र जैसा सूक्ष्म अन्तर के कारण कौशिकी शब्द लिया गया[3] इन स्वरों के प्रयोग सूक्ष्म और सकुमार होते हैं ।

आज भी भरत-संगीत के ये प्रयोग अनुभूत किये जाते हैं । उदाहारणार्थ राग "अडाने" के आरोह में प्रयुक्त किये जाने वाला निषाद भरत-निर्दिष्ट कौशिक निषाद का प्रयोग है । क्योंकि प्रत्यक्षतः सुनने में यह निषाद अपने मूल रूप से एक श्रुति चढ़ा हुआ प्रतीत होता है । अडाने के इस आरोही निषाद और शुद्ध निषाद में

---

1. ना0शा0 28 अध्याय पृ0 - 32 अनुतर स्वरसंयागो नित्यासेहिसंश्रयः कार्यो ह्यल्पो विशेषेण नावरोही कदाचन ।
2. ना0शा0 वृहद्कश्यप पृ0 - 34 काकल्यन्तरयोगेन चुतुरिस्त्रद्वयेकत श्रुतीन् स्वरान्सर्वानप्रयुलीत रागभाषासु सर्वथा ।
3. ना0शा0 पृ0-34 करोर्वा कौशिकी । पाताग्रसौक्ष्न्याद्विति पृथक्प्रयासोत्यं

सूक्ष्म अन्तर है । निषाद स्वर का यही सूक्ष्म अन्तर भरतनिर्दिष्ट कौशिकी निषाद है, जिसका अनुभव प्रयोग किये जाने पर कानों को स्पष्टतया होता है । स्वरों का यह अन्तर प्रयोग की सूक्ष्मता का ही परिणाम है जिसका प्रयोग "रागत्व" का विशेष लक्षण रहा है । इसी कारण आज भी उच्चकोटि के गायन-वादन में स्वरों के इन सूक्ष्म अन्तरों का प्रयोग किया जाता है ।

इस प्रकार भरत - संगीत में सातों स्वर अपने शुद्ध वा विकृत स्वरूप में प्रयुक्त किये जाते थे किन्तु मूल विकृतियों गान्धार और निषाद की ही हैं । इन दोनों स्वरों की विकृतियों के प्रभाव के कारण अन्य स्वर भी अपने मूल श्रुतियों पर स्थित न रहने के कारण साधारणत्वं को प्राप्त हो जाते हैं और साधारण भरत ने विकृत स्वरों के लिए प्रयुक्त किया है ।

"साधारण" शब्द का प्रयोग भरत ने मूलतः षडज तथा मध्यम स्वरों के लिए किया है[1] । लेकिन षडज और मध्यम स्वर दो प्रकार से साधारणत्व को प्राप्त होता है एक स्थिति में गान्धार तथा निषाद के दो श्रुति चढ़ने के कारण मध्यम तथा षडज स्वर द्विश्रुतिक होने के कारण साधारण है - दूसरी स्थिति में निषाद तथा रिषभ के द्वारा उपजीवित होने के कारण षडज और गान्धार तथा पंचम स्वर के द्वारा उपजीवित होने के कारण मध्यम साधारण स्वर है । मध्यमग्रामिक पंचम के कारण धैवत स्वर भी अपनी मूल श्रुतियों से एक श्रुति अधिक चढ़ जाने से विकृत समझा जायेगा ।

क्योंकि शुद्ध स्वर वे हैं जो अपनी मूल श्रुतियों पर स्थित रहे, और विकृत स्वर वे हैं जो अपनी मूल श्रुतियों से एक दो या तीन श्रुतियाँ उतरते चढ़ते हैं। भरत-संगीत में स्वरों की विकृति क्यों कि चढ़ने में है । अतएव इस दृष्टि से भरत

---

1. ना0शा0 पृ0 - 34 अस्यैव षडजमध्यम साधारणेत्यर्थ ।

ग्राम के सातों स्वरों की विकृतियाँ दृष्टिगत होती हैं । जिन्हें हम भरत-संगीत में प्रयोज्य शुद्ध और विकृत स्वरों के तुलनात्मक रूप से समझ सकते हैं । यथा -

	शुद्ध स्वर	विकृत स्वर
1.	निषाद - द्विश्रुतिक	काकली निषाद चतुश्रुतिक
2.	षडज - चतुश्रुतिक	षडज साधारण - द्विश्रुतिक
3.	गान्धार - द्विश्रुतिक	अन्तरगान्धार - चतुश्रुतिक
4.	मध्यम - चतुश्रुतिक	मध्यम साधारण द्विश्रुतिक
5.	पंचम चतुश्रुतिक	मध्यम ग्रामी पंचम - त्रिश्रुतिक
	गान्धार द्विश्रुतिक	साधारण गान्धार त्रिषुतिक
6.	रिषभ, त्रिश्रुतिक	रिषभ चतुश्रुतिक
	षडज चतुश्रुतिक	षडज साधारण
	निषाद द्विश्रुतिक	कौशिक निषाद - त्रिश्रुतिक
7.	धैवत त्रिश्रुतिक	मध्यम ग्रामी धैवत चतुश्रुतिक

इस प्रकार षडज और मध्यम ग्रामी सभी स्वर अपने शुद्ध और विकृत रूप में प्रयोज्य थे ।

दक्षिण भारत के संगीत में आज भी भरत-निर्दिष्ट अन्तर काकली और कौशिक शब्दों का प्रयोग स्वरों के लिए किया जाता है किन्तु स-प का अचलत्व दक्षिणी और उत्तरी दोनों संगीत में किया जाता है जब कि भरत ग्राम में किसी स्वर

का अचलत्व स्वीकार नहीं किया गया[1] । भरत का प्रत्येक स्वर विलक्षण प्रयोग के कारण विकृत हो सकता था ।

भरत के "साधारण" स्वरों के आधार पर पंडित शारंगदेव ने अपने विकृत स्वरों का उल्लेख किया है । भरत ने स्वरों की चार विकृतियाँ मानी है, अन्तर - साधारण, काकली साधारण षडज साधारण, एवं मध्यम साधारण । अन्तर साधारण से अभिप्राय है अन्तरगान्धार और साधारण गान्धार, काकली-साधारण से अभिप्राय काकलीनिषादव कौशिकी निषाद, षडज साधारण से द्विश्रुतिक षडज और मध्यम साधारण से अभिप्रायद्विश्रुतिक मध्यम[2] ।

(1) भरत ने अपने विशेष स्वरों के लिए "साधारण" शब्द का प्रयोग किया है । जो अपने आप में सार्थक है । क्योंकि भरत के मतानुसार "साधारण" स्वर वे है जो अपनी मूल श्रुतियों पर न रहकर एक यादों श्रुति चढ़े हुए या उतरे हुए रहते हैं । उस अवस्था में स्वर-विशेष शुद्ध न रहकर "साधारण" हो जाता साधारण स्वर "मध्यवर्ती" भी कहे जाते हैं । स्वरों की यह अवस्था आज की संगीत भाषा में "विकृत स्वर" कहलाये जाते हैं ।

(2) भरत-संगीत में मूलतः गान्धार तथा निषाद की विकृतियाँ बताई गई हैं । इन दोनों स्वरों की विकृतियों का प्रभाव अन्य स्वरों पर भी पड़ने से अन्य स्वर भी "साधारणत्व" को प्राप्त होते हैं । यथा गान्धार तथा निषाद जब दो-दो श्रुतियाँ चढ़ते हैं तो क्रमशः काकली और अन्तर की संज्ञा प्राप्त करते हैं ।

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 76 डॉ0 मुकुन्द लाट None of the appears to have been a constant like modern sa.

2. स्वरसाधारण तत्र चतुर्धाप्रकरकीर्तिताकाकल्यन्तरषडजैश्च मध्यमेन विशेषणगत। संगीतरत्नाकर "स्वराध्याय" पृ0 - 147

इसी प्रकार निषाद स्वर के दो श्रुति चढ़ने पर षडज स्वर भी विकृत हो जाता है । इसी प्रकार गान्धार स्वर एक श्रुति चढ़ने पर साधारण गान्धार होता है और मध्यम स्वर की एक श्रुति पंचम लेता है । परिणामतः मध्यम पुनः साधारण हो जाता है । इसी कारण निषाद स्वर के एक श्रुति चढ़ने पर निषाद स्वर कौशिक निषाद, तथा षडज की एक श्रुति रिषभ लेता है अतएव त्रिश्रुतिक रिषभ चतुश्रुतिक होने के कारण विकृति को प्राप्त कर लेता है ।

इस दृष्टि से भरत - संगीत में सात शुद्ध स्वरों के साथ - साथ सातों स्वरों को विकृत रूप में भी प्रयोग किया जाता था । आधुनिक संगीत की भाँति किसी भी स्वर को अचलत्व प्रदान नहीं किया जाता था ।

(3) "साधारण" स्वरों का गायन - वादन प्रायोगिक सूक्ष्मता का परिणाम है । अर्थात् सूक्ष्म अन्तर वाले इन स्वरों का अनुभव सूक्ष्मता से प्रयोग किये जाने पर ही होता है । प्रयोगगत सूक्ष्मता के कारण भरत ने इन्हें कौशिक (केशाग्रन्तर) की संज्ञा दी है[1] । ये स्वर निपुणता से प्रयोग किये जाने पर विलक्षण प्रतीत होते हैं[2] ।

(4) इन उतरे हुए या चढ़े हुए स्वरों का प्रयोग अल्प मात्रा में किया जाना चाहिये वह भी आरोह में ।

(5) यह भी महत्वपूर्ण है कि भरत के "साधारण" अर्थात् स्वरों की विकृतियाँ अपनी मूल अवस्था से चढ़ने पर होती थी । आज की तरह उनके स्वरों की विकृतियाँ उतरने अर्थात् स्वरों के उतार में नहीं थी । फिर भी भरत-निर्दिष्ट "साधारण" स्वरों को आज के संगीत में प्रयुक्त होने वाले विकृत स्वरों में देखा जा सकता है ।

---

1. अस्य तु प्रयोगसौक्ष्म्यात् कौशिकमिति द्वितीय नाम निष्पद्यते ना0शा0 पृ0 - 32

2. सौक्ष्म्यवैचित्र्यनिपुणसाध्यता च पृ0 - 34 ना0शा0 ।

(6) "साधारण" शब्द का प्रयोग केवल स्वरों की विकृति के लिए नहीं किया गया अपितु जातियों के लिए भी "जाति साधारण" के रूप में प्रयुक्त किया गया । नियमतः जातियों का main factor अंश स्वर पर निर्भर होता है किन्तु यदि दो या दो से अधिक जातियों में एक ही अंश स्वर नियामक होता है तो उन जातियों को पृथक् करने के लिए "जाति साधारण" प्रयुक्त किया जाता है । जिस प्रकार आज की राग-पद्धति में एक ही थाट के अनेक रागों में स्वर, थाट आदि की समानता रहते हुए भी किन्हीं स्वर - समुदाय विशेष से समान रागों में पार्थक्यता रहती है उसी प्रकार भरत-पद्धति में जातियों के लिए "जाति साधारण" से समान जातियों को पृथक किया जाता था । इसी लिए भरत ने "साधारण" दो प्रकार का बताया है[1] ।

जाति साधारण-

भरत ने "स्वरसाधारण" के साथ "जाति साधारण" का भी उल्लेख किया है । "तंत्र द्वे साधारणे जाति साधारण स्वर साधारण च" "स्वरसाधारण" से अभिप्राय स्वरों की विकृतियों, जिनका उल्लेख किया जा चुका है ।

"जाति साधारण" भरत - निर्दिष्ट जातियों की विकृतियाँ रही हो जैसा भरत ने उल्लेख किया है दो या दो से अधिक जातियों का एक ही अंश हो[2] अर्थात् अंश स्वर जातियों का महत्वपूर्ण स्वर होता था अंश स्वर पर ही किसी भी जाति का स्वरूप निर्भर करता था । अतएव यदि कई जातियों में एक ही अंश स्वर की विद्यमानता रहती थी तो जातियों को अलग स्वरूप प्रदान करने के लिए "जाति साधारण" शब्द का प्रयोग किया जाता था । डॉ0 मुकुन्द लाट ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है

---

1. ना0शा0 31 तत्र द्वे साधारणे जाति साधारणं स्वर साधारणं च ।
2. ना0शा0 28 अध्याय पृ0 - 32 जाति साधारण में कांशानामविशेषाज्जतीनां समवायात्प्रत्यंश लक्षणसंज्ञानामिति ।

कि दो या दो से अधिक जातियों का मुख्य स्वर या अंश स्वर एक होता है उसे "जाति साधारण" कहते हैं[1] ।

"जाति साधारण" को यों समझा जा सकता है कि अंश स्वर जाति का प्रमुख लक्षण है यानी Chief Factor है प्रत्येक जाति का अंश स्वर एक होता है उसी अंश स्वर से जाति का स्वरूप जाना जाता है लेकिन कभी-कभी कई जातियों का अंश स्वर समान होता है अतएव ऐसी जातियों की पहचान अन्य जातियों से कराने के लिए भरत ने सम्भवतः "जाति साधारण" शब्द का प्रयोग किया है । जैसा डॉ0 लाट ने इस प्रसंग में दत्तिल का मत दिया है कि जब एक ही ग्राम की जातियों के स्वरूप में समानता होती है तब जाति साधारण होता है[2] । अर्थात् समान गुण - धर्म वाली जातियों में पाया जाने वाला साधारण सम्बन्ध "जाति साधारण" कहा जा सकता है । आचार्य अभिनव गुप्त ने "जाति साधारण" के संदर्भ में व्याख्या दी है कि "साधारण" जातियाँ अपने न्यास और अन्तर भागों के द्वारा पहिचानी जाती है[3] । न्यास और "अन्तर न्यास" भरत-निर्दिष्ट जातियाँ के महत्वपूर्ण लक्षण होते थे इन लक्षणों के प्रयोग से जातियाँ के स्वरूप की सूक्ष्म भिन्नता प्रकट होती थी ।

---

1. दत्तिलम् - 99 Jati sadharan occured when two or more jaties happened to have the same amsa or predominent note in common.
2. दत्तिलम् - 99 Dattila does not mentioned the amsa in this connection but makes a general observation stating that when many common features are shared by jaties of the same grama, then occures jati sadharan the same ness of the grama appears to heve been an importent factor in Jati-sadharan. This meant that the jati had the sadharan relation had to share the same svara scheme.
3. ना0शा0 पृ0 - 33 यदाह न्यासान्तरभागौ तु विशेषकाविति ।

अतएव अभिनव गुप्त ने न्यास और अन्तर भाग या अन्तर न्यास के द्वारा "जाति साधारण" की पहचान बताई है[1] । जाति साधारण के सम्बन्ध में डॉ0 मुकुन्द लाट की व्याख्या इस प्रकार है कि जिस प्रकार एक ही थाट से उत्पन्न कई राग ऐसे होते हैं । जिनमें पर्याप्त मात्रा में समानता पाई जाती है किन्तु उन समप्राकृतिक रागों में कुछ-कुछ स्वर-समूह ऐसे प्रयुक्त किये जाते हैं जिनसे वे राग एक दूसरे से अलग हो जाते हैं सम्भवतः यही भरत का जाति साधारण है[2] ।

प्रचलित संगीत के संदर्भ में इसे यों समझा जा सकता है कि दस थाटों के आश्रय राग भैरव, पूर्वी कल्याण आदि अपने आप में स्वतन्त्र तथा विशुद्ध राग है किन्तु कल्याण थाट के हमीर, केदार, कामोद आदि रागों में पर्याप्त समानता होते हुए भी कुछ स्वर विशेष के कारण ये राग एक दूसरे से अलग हो जाते हैं । इसी प्रकार मारवा, पूरिया, सोहनी राग का पृथकत्व कुछ स्वर विशेषों के प्रयोग तथा लगाव से एक ही थाट के राग होने के कारण अलग-अलग हो जाते हैं । सम्भवतः यही

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 10 Its purport is that sadharan yaties could be distenguished through their nayas and their antarmarg. Nayas in jati was its final note and antarmarg was its characteristic melodic movement.

2. दत्तिलम् पृ0 - 100 In our present system may ragas belonging to the same that (थाट) or mela and sharing the same svars (with their sadhav-andav or sampuran) tend to resemble each other strongly but these are factors such as melodic movements stresses on particular notes and characteristic pharas which clearly reavel them to be different.

भरत - निर्दिष्ट "जाति साधारण" कहा जा सकता है । क्यों कि भरत के मतानुसार "साधारण" आज की भाषा में विकृति का द्योतक है । स्वर - साधारण में स्वरों की विकृतियाँ दिखाई देती हैं और जाति साधारण से अभिप्राय जातियों में पाई जाने वाली स्वरों की वे विकृतियाँ जिनसे समान स्वरों की जातियों में किसी स्वर विशेष द्वारा भिन्नता आना[1] ।

डॉ० मुकुन्द लाट पुनः इस संदर्भ में तर्क देते हैं कि काशी और एशियाटिक सोसाइटी के नाट्यशास्त्र के अनुसार दो या दो से अधिक जातियाँ जिनके अंश स्वर तथा अन्य विशेषताओं में समानता होने पर भी भिन्न - भिन्न ग्राम से उत्पन्न होने वाली ये जातियाँ "जाति साधारण" कही जा सकती है[2] । आचार्य अभिनव गुप्त का भी यही मत है[3] ।

अभिप्राय है कि नाट्यशास्त्र में जाति साधारण "स्वर विशेष" की विकृति के लिए नहीं प्रयुक्त होता बल्कि ऐसी जातियों की विशेषता के लिए प्रयुक्त किया

---

1. दत्तिलम् पृ० - 99 मुकुन्द लाट The sameness of gramma appears to have been an importent factor of jati sadharana.
2. दत्तिलम् पृ० - 99 The reading in Kasi and Asiatic society edition of the Natyashastra suggests that a resemblance between amsa and others features of two or more jaties belonging to difference grama could also form yati sadharana.
3. ना०शा० 28/35 जाति साधारण एक ग्रामाशानां जातीनां जात्योर्वा अन्यस्मिन् ग्रामे प्रत्यगदर्शनं स्वराणामवगमात् ।

जाता है जो जातियाँ स्वर आदि से समान होने पर भी कुछ विशेष स्वर लगाव के कारण भिन्नता धारण कर लेती है । जैसा डॉ0 लाट लिखते हैं -

Two or more jaties happened to be common, one could distinguish them through other features which were not common. In this way sadharan jaties could be made out as not identical.

अर्थात् "जाति साधारण" जातियों में प्रयुक्त होने वाले ऐसे "स्वर" विशेष हैं जो समान स्वरूप वाली जातियों में एक ऐसी भिन्नता उत्पन्न करते हैं जिनसे एक जाति दूसरी जाति से भिन्न हो जाती है । बल्कि इसे यों समझा जा सकता है कि "स्वर साधारण" स्वरों की स्पष्टतया विकृतियाँ हैं जैसे काकली निषाद अन्तर गान्धार आदि शुद्ध स्वरों की विकृतियाँ है जब कि "जाति साधारण" स्वरों के ऐसे प्रयोग हैं जिनसे समान स्वर और स्वरूप वाली जातियों में परस्पर किंचित अलग होने के कारण वे जातियाँ पृथक्तः पहचानी जा सकती है । जैसे प्रचलित संगीत में भी कुछ राग स्वरः स्वरूप आदि की दृष्टि से समान होने पर भी किंचित स्वरों के लगाव के कारण परस्पर भिन्नता प्राप्त कर लेते हैं यही भरत निर्दिष्ट "जाति साधारण" है । भरत की दृष्टि में "स्वर साधारण" और "जाति साधारण" जातियों में प्रयुक्त होने वाली विकृतियाँ थीं[1] ।

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 100 In this context of gandharva speak of only two sadharan, svara and Jati.

षष्ठ - अध्याय

भरतोका जातियाँ:

(क) जातियों का स्वरूप, षडज तथा मध्यग्रामी अठारह जातियाँ तथा लक्षण

(ख) शुद्ध, विकृत और संसर्गात जातियाँ ।

(ग) स्वरों की दृष्टि से जातियों के सप्त स्वर, षटस्वरा और पंचस्वरा स्वरूप तथा मध्यम स्वर की प्रधानता ।

(घ) जातियों के दश लक्षण ।

आधुनिक राग-संगीत के परिप्रेक्ष्य में जातिगत दस लक्षण :

भारत निर्दिष्ट - जातियों की व्याख्या आचार्य अभिनव गुप्त ने की है, जातियों के दस लक्षणों ग्रह: अंश न्यास, अपन्यास आदि से युक्त स्वर सन्निवेश जाति कहलाती है[1] । इसी प्रकार डॉ0 मुकुन्द लाट ने प्रचलित "राग" की भाँति जातियों को एक विशिष्ट "स्वर - समूह" कहा है जिसमें भरत निर्दिष्ट जातियों के दस लक्षण हैं[2] । अभिप्राय यह है कि रंजक और अदृष्ट अभ्युदय को उत्पन्न करने वाला विशिष्ट "स्वर" ही विशेष प्रकार के सन्निवेश से युक्त होने पर "जाति" कहलाती है यह विशेष स्वर-सन्निवेश दस लक्षणों से युक्त होने पर होता है ।

---

1. ना0शा0 पृ0 - 43 स्वरा एव विशिष्ट स निवेशभाजो रक्तिमदृष्टाभ्युदयं च जनयन्तो जातिरित्युक्ता । कोऽसौ सन्निवेश इति चेदाह । दशक जाति-लक्षणमिति । ग्रहांशाविति ।

2. दत्तिलम् पृ0 102 - like Ragas which have descended from them Jaties were formulated and described through a set of simple rules. The ten jaties lakasanas censtitued the mayor elements or characteristics which the rules defined.

"नाट्यशास्त्र" में जातियों के लक्षणों का विस्तार से विवरण दिया गया है । यह ग्रन्थ क्योंकि "सूत्र ग्रन्थ" है अतएव इन लक्षणों से अनुमान लगाया जाता है, कि "जातियाँ" "एक विशेष प्रकार की" "चलन" या "स्वर सन्निवेश" थीं ग्रह अंश न्यास आदि लक्षणों से जातियों के स्वरूप का विस्तार होता था आज भी "राग-पद्धति" में प्रयुक्त होने वाले सभी लक्षण "जातियों" के हैं ।

मुनि मतंग ने "जातियों" की व्याख्या में कहा है "जातियाँ" श्रुति, ग्रह स्वर, इत्यादि के समूह से जन्म लेती हैं । इसीलिए जातियाँ कहलाती हैं । जातियों से रस की प्रतीति उत्पन्न या आरम्भ होती है अथवा राग इत्यादि के जन्म का कारण होने से विशिष्ट स्वर-सन्निवेश "जाति की संज्ञा" ले लेता[1] है ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि आधुनिक संगीत में प्रचलित राग-गायन का मूल स्त्रोत भरतोक्त "जातिगायन" में था । क्यों कि राग का मूल उद्देश्य रंजकता या रसात्मकता है । अतएव स्वर - वर्णों से युक्त स्वर सन्निवेश राग कहलाता है, जो मन का रंजन करता है जैसा मतंग ने "राग" शब्द की व्याख्या में कहा है[2] । "योऽयं ध्वनि विशेषस्तु स्वर-वर्ण विभूषितः, रंजको जन-चित्तानां सराग कथितो बुद्धैं" इस प्रकार जातियाँ रसाश्रित है तथा विशिष्ट स्वर - सन्निवेश जातियों का स्वरूप ग्रहण करता है । इसी कारण महर्षि भरत ने ग्राम - रागों को जाति

---

1. मतंग म0 को0 पृ0 - 226 श्रुतिग्रहस्वरादिसमूहाज्जायन्त इजि जातयः अतो जातय इत्युच्यन्ते यस्माज्जायते रसप्रतीतिरारभ्यत इति जातयः अथवा सकलस्य रागादि जन्महेतुत्वा जातय इति"

2. मतंग म0को0 पृ0 - 921 योऽसौ ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविशेषितः रंजको जन चित्तानां स च राग उदाहृतः ।

से उत्पन्न माना है[1] । (कल्लिनाथ)

अतएव जातियाँ रागों की "जन्मदात्री" हैं । सम्भवतः जातियों में विकार होने से अनेक रोगों का जन्म हुआ । भरत-निर्दिष्ट जातियों का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था । जातिगत लक्षणों के कारण जातियों के अनेक अवान्तर भेद थे इसीलिये भरत ने कहा है कि "संसार में जो कुछ भी गाया जाता है वह सब जातियों में है"[2] । इसी प्रकार अभिनवगुप्ताचार्य टीका करते हैं, कि शुद्धा, भिन्ना, गौड, भाषा, विभाषा सप्तक आदि सभी की सिद्धि तथा उपरंजनता जहाँ भी हो सकती है वहाँ जातियाँ हैं । अर्थात् जातिगत स्वरूप सभी राग आदि में दृष्टिगत होते हैं[3] ।

अतएव "जाति" स्वरों का समूह[4] है आधुनिक संगीत में प्रचलित "राग" का अन्तरभाव भरतनिर्दिष्ट "जाति" में स्वतः हो जाता है क्योंकि "राग" शब्द की व्याख्या है "रंज्यते अनेन इति राग" रंजन् या रसात्मकता राग का प्रमुख गुण है, तथा विशिष्ट स्वर और वर्ण से जिसका स्वरूप बनता है । अतएव राग का मूल भरत की जातियाँ हैं । मतंग के समय जातियों के साथ-साथ "राग-गायन" भी प्रचार में आया । अतएव मतंग ने सर्व प्रथम राग का पारिभाषिक विवरण अपने ग्रन्थ "वृहद्देशी" में दिया "रन्जकोजनचित्तानां स च राग उदाहृतः" । जिसका अभिप्राय विशिष्ट ध्वनियों की रचना, जो मन का रंजन करें "राग" कहलाता है ।

---

1. कल्लिनाथ स0टी0अ0से0 राग 108 तथा चाह भरत मुनिः जातिसम्भूतत्वाद ग्रामरागाणां इति ।

2. ना0शा0 यत्किंचिद् गीयते लोके तत्सर्व जातिषु स्थितम् ।

3. ना0शा0 पृ0-36 जायते शुद्धीभन्नगौउरागसाधारणभाषाविभाषात्मकं रीतिसप्तकं दृष्टसिद्धिभविरसोपरन्जनं च यतः ततो जातयः ।

4. ना0शा0 पृ0 - 79 जातिर्नाम स्वरसमूहमात्रम्

यही कारण है कि राग में प्रयुक्त होने वाले नियम भरत के जातिगत लक्षणों के ही परिवर्तित रूप है । ऐसी बात नहीं कि भरत "राग" शब्द से परिचित न हो। "भरत कोष" में उल्लेख मिलता है कि जातियों के अलावा भरत ने सात ग्राम रागों का भी उल्लेख किया तथा उनके प्रयोग के अवसरों को भी निर्दिष्ट किया[1]। अभिप्राय यह है कि भरतनिर्दिष्ट जातियों का क्षेत्र अपने आप में इतना विशाल था जिसके अन्तर्गत जातियाँ, ग्राम राग और जाति, राग सभी का समावेश था । अतएव राग आदि का पृथकता से उल्लेख नहीं किया गया । पर आज राग-गायन की प्रथा है अतएव अनुमान लगाया जा सकता है कि आधुनिक "राग" भरत की जातियों और ग्राम राम के बीच की कड़ी है । जातियों का प्रयोग नाट्याश्रित था[2] अर्थात् नाट्य के विभिन्न प्रसंगों पर जातियों का प्रयोग किया जाता था जिन्हें भरत ने "ध्रुवगान" कहा है जैसा आचार्य अभिनव गुप्त का भी मत है[3] । चूँकि जातिराग, ग्रामराग और आधुनिक संगीत में प्रचलित "राग" के चलन, स्वरूप और लक्षणों का उद्गम भरत की जातियाँ है । अतएव भरत ने इसीलिए कहा है "यत्किचिंत गीयते लोके तत्सर्वं जातिषु" इसीलिए भरत ने जातियों का शास्त्रोक्त विवरण करके जातिराग, ग्रामराग आदि का अन्तरभाव तत्कालीन प्रचलित जातियों में माना है । ऐसा प्रतीत होता है ।

---

1. भरत भरतकोष पृ0 - 542
   मुखे तु मध्यमग्रामः षडज प्रति मुखे भवेत्
   गर्भे साधारितश्चैव अवमर्णे तु पन्चमः
   सहारे कौशिकः प्रोक्तः पूर्वरङगे तु षाडवः
   चित्रस्याष्टा दशांगस्य त्वन्ते कौशिकमध्यमः
   शुद्धानां विनियोयोऽयं ब्रह्मणा समुदाहृतः

2. ना0 शास्त्र 29 पृ0 - 72 एवमेता वुधैर्ज्ञेया जातयो नाट्यसंश्रयाः

3. ना0 शास्त्र 29 पृ0 - 72 इत्थमेता नाट्योपयोगिन्या ध्रुवागानोपयोगदिरोत्यर्थः

भरतोक्त अठारह जातियाँ:

नाट्यशास्त्र में षडज तथा मध्यमग्रामाश्रित अठारह जातियाँ का उल्लेख मिलता और ये जातियाँ भरत को परम्परा से प्राप्त हुई "जातयोऽष्टादशेत्येवं ब्रह्मणाभिहितं पुरा"[1] । षडज ग्राम से सात जातियाँ थीं षाडजी, आर्षभी, धैवती, नैषादी, षडजोदीच्यवती, षडजकौशिकी, तथा षडजन्मध्यमा[2] । इसी प्रकार मध्यम ग्राम से ग्यारह जातियों का उल्लेख मिलता है यथा गान्धारी, रक्त गान्धारी, गान्धारोदीच्यवा, मध्यमा, पञ्चमी, गान्धार-पंचमी, मध्यमोदीच्यवा, नन्दयन्ती, कर्मारवी, आन्ध्री और कौशिकी[3] । इस प्रकार षडज ग्राम की सात और मध्यम ग्राम की ग्यारह 7+11 = 18 कुल अठारह जातियों का उस समय प्रचलन था ।

इन अठारह जातियों में सात जातियाँ ऐसी थी जिनका नाम सात स्वरों पर आधारित था । भरत-मत से ये सात स्वर नामवाली जातियाँ शुद्ध जातियाँ थीं। षडज ग्राम की चार जातियों "स्वरनामाख्या" थीं यथा षडज स्वर से षाडजी, रिषभ स्वर से आर्षभी, धेवत स्वर से धैवती और निषाद स्वर से नैषादी या निषादवती । "तंत्र शुद्धा षाडजी, आर्षभी, धैवती, निषादिनी च षडज ग्रामे"[4] इसी प्रकार मध्यम ग्राम की तीन जातियाँ स्वर-नाम पर आधारित थीं यथा गन्धार स्वर से गान्धारी, मध्यम स्वर से मध्यमा और पंचम स्वर से पंचमी । "गान्धारी, मध्यमा पञ्चमीति मध्यम ग्रामे"[5] इस प्रकार 4+3 = 7 जातियाँ षडज और मध्यम ग्राम की "स्वरनामाख्या" जातियाँ थीं जो निम्न हैं ।

---

1. ना0 शास्त्र 28/39
2. ना0 शास्त्र 28/40
3. ना0 शास्त्र 28/41, 42 षाडजीचैवार्षभीचैव धैवत्यथ निषादिनी, षडजोदीच्यवती चैव तथा षडजकैशिकी षडजमध्या तथा चैव षडजग्रामसमाश्रयाः मध्यमग्रामसंश्रिताः गान्धारी मध्याचैव गान्धारोदीच्यवा तथा पंचमी रक्तगान्धारी, तथा गान्धार-पंचमी मध्यमोदीच्यवा चैव नन्दयन्ती तथैव च कर्मारवी च विज्ञेया तथान्ध्री कैशिकी मता"

1. षडज (सा) स्वर के नाम पर - षाडजी जाति
2. ऋषभ (रे) स्वर के नाम पर - आर्षभी जाति
3. गान्धार (ग) स्वर के नाम पर - गान्धारी
4. मध्यम (म) स्वर के नाम पर - मध्यमा
5. पंचम (प) स्वर के नाम पर - पन्चमी
6. धैवत (ध) स्वर के नाम पर - धैवती
7. निषाद (नी) स्वर के नाम पर - नैषादी

सात स्वरों के नाम पर इन सात जातियों का नामकरण हुआ यथा "रातासमष्टादशानां सप्त स्वराख्या" । आचार्य अभिनव गुप्त ने भी "सप्तस्वराख्या" जातियों के नामों का उल्लेख किया है "अथासां जातीनां विभागमाह स्वरजातय इति स्वरनाम्न्य इत्यर्थः"[1] अर्थात् स्वरों के नाम पर सात जातियों का नामकरण । सात स्वरों पर आधारित ये सात जातियाँ शुद्ध जातियाँ कहलाई ।

यद्यपि महर्षि भरत ने जातियों के दो प्रकारों का उल्लेख किया है शुद्ध जाति और विकृत जाति "शुद्धा विकृताश्चैव हि"[2] लेकिन नाट्यशास्त्र का अनुशीलन करने पर जातियों का एक और प्रकार सामने आता है जिसे संसर्गजात कहते हैं ।

शुद्ध जातियाँ:

शुद्ध जातियाँ वे जातियाँ जिनमें कोई भी स्वर कम नहीं होता था अर्थात् ये जातियाँ पूर्ण थीं जिनमें सातों स्वरों का प्रयोग किया जाता था "एताश्चान्यूनस्वराः"[3] अर्थात् "सप्तस्वरता" इन जातियों का लक्षण था ।

---

1. ना0 शास्त्र 28/पृ0 - 37
2. ना0 शास्त्र 28/46
3. ना0 शास्त्र 28/पृ0 37

शुद्ध जातियों का दूसरा लक्षण स्वर ही जिनका ग्रह अंश और न्यास स्वर होता था "स्वस्वरांशग्रहन्यासापन्यासाश्च"[1] अर्थात् जिस स्वर विशेष पर जाति का नाम करण होता था । जैसे जिस जाति में षडज स्वर न्यास और अंश स्वर हों, इस प्रकार की जाति का नाम षाडजी होगा । इसी प्रकार आर्षभी, गान्धारी, मध्यमा, पंचमी, धैवती और नैषादी या निषादवती, ये जातियाँ क्रमशः सात स्वरों षडज, रिषभ, गन्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद स्वरों को अंश तथा न्यास रूप में ग्रहण करने के कारण इन्हीं स्वरों के नाम पर इनका नामकरण हुआ । अतएव ये शुद्ध जातियों का दूसरा लक्षण हुआ । डॉ0 मुकुन्द लाट ने आचार्य दत्तिल के मत की व्याख्या दी है । Datilas says that Sudha Jahis were named after the seven svaras"[2] अर्थात् सात स्वरों के नाम के आधार पर सात शुद्ध जातियाँ थीं । इसी प्रकार शुद्ध जातियों के लिए अभिनव गुप्त पाद भी व्याख्या करते हैं "अन्यूनस्वरा पूर्णास्वरा यो नामकरी स्वरांशादिरूपों"[3] अर्थात् शुद्ध जातियाँ वे हैं जिनमें कोई भी स्वर कम न हो पूर्ण हों, जिनका नाम स्वरों पर आधारित हो तथा वे ही स्वर उनके अंश आदि रूप में गृहीत किये गये हों ।

शुद्ध जातियों का तीसरा लक्षण "न्यासविधावप्यां मन्द्रो नियमाद् भवति शुद्धासु" अर्थात् शुद्ध जातियों में मन्द्रस्वर नियमपूर्वक न्यासस्वर होता है[4] ।

---

1. ना0 शास्त्र 28/ पृ0 37
2. दत्तिलम पृ0 - 101
3. ना0शा0 पृ0 - 37 टिप्पणी
4. ना0शा0 पृ0 - 37 तासां जातीनां मध्येऽपि याः शुद्धास्तासु नामकरी यो न्यासः नियमेन मन्द्रो भवति ।

"तत्र शुद्धाः षडजग्रामे षाडजी आर्षभी, धैवती निषादवती च । गान्धारी मध्यमा पंचमी चेति मध्यमा ग्रामे"[1] अर्थात् षडज ग्राम में षाडजी, आर्षभी धैवती और निषादवती या नेषादी शुद्ध जातियाँ हैं तथा गन्धारी, मध्यमा तथा पंचमी मध्यम ग्राम की शुद्ध जातियाँ हैं । निष्कर्ष यह है कि षडज और मध्यम ग्रामों में से जिन जातियों के नाम सप्तस्वरों के नाम पर रक्खे गये हैं वे सातों जातियाँ भरत के मत से शुद्ध हैं ।

विकृत जातियाँ

नाट्यशास्त्र में जातियों के दो भेदों का उल्लेख मिलता है । "स्वरजातयः शुद्धा विकृताश्च"[2] संगीत के विस्तार के लिए सात शुद्ध जातियाँ अपर्याप्त थीं । अतएव इन्हीं शुद्ध जातियों में विकार उत्पन्न होने से विकृत जातियों की रचना हुई । अतएव शुद्ध जातियाँ ही विकृत जातियों का स्वरूप धारण करती है । इस प्रसंग में आचार्य अभिनव गुप्त ने व्याख्या दी है कि शुद्ध जातियों की विकृति ही विकृत जातियाँ हैं[3]।

डॉ0 मुकुन्द लाट ने भी इसका स्पष्टीकरण किया है कि विकृत जातियाँ शुद्ध जातियों का modifying रूप है । उन्होंने यह भी तर्क दिया है कि विकृत जातियाँ शुद्ध जातियों से अलग नहीं है । इसीलिए "नाट्यशास्त्र"

---

1. ना0शा0 28 पृ0 - 37 तत्र शुद्धा षाडजी, आर्षभी, धैवती, निषादिनी च षडजग्रामे । गान्धारी, मध्यमा, पन्चमीति मध्यमग्रामे ।

2. ना0शा0 28/पृ0 स्वरजातयः शुद्धाः विकृताश्च ।

3. ना0शा0 पृ0 - 37 एवकारेण शुद्धानामेव हि विकृत्वम् ।

में विकृत जातियों के अलग-अलग नामों का उल्लेख नहीं है[1] । अतएव शुद्ध जातियों के अलावा विकृत जातियाँ भी जातियों का स्वरूप हैं ।

जातियों का तीसरा स्वरूप संसर्गजात "का भी" नाट्यशास्त्र में उल्लेख है अर्थात् जातियों के मिश्रण से बनी जातियाँ, संसर्गजात - जातियाँ हैं । भरत ने स्पष्ट लिखा है कि शुद्ध और विकृत जातियों के मिश्रण से ग्यारह संसर्गजात जातियाँ[2] हैं ।

इस दृष्टि से भरत-संगीत में जातियों के तीन प्रकार प्रचलित थे ।

1. **शुद्धा जातियाँ:**

जो सातस्वरों के नाम पर आधारित थी यथा षाडजी - आर्षभी आदि named after seven svaras ये संख्या में सात हैं ।

2. **विकृत जातियाँ:**

शुद्ध जातियों में विकार होने के कारण विकृत जातियाँ बनी - डॉ0 मुकुन्द लाठ ने विकृत जातियों को शुद्ध जाति से अलग नहीं माना है -

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 101 Each suddha jati could result in a number of vikrits, but these vikrit jaties forms had no separate nomenelature apart from their parents sudha jatis, they were in fact not considered as separate jatis but modifying forms of suddha.

2. ना0शा0 28 पृ0 - 46 शुद्धा विकृताश्चैव हि समावायाज्जातयस्तु जायन्ते पुनरेवा शुद्धकृता भवन्त्यथैकादशान्यास्तु ।

They (Vikrit - Jaties) were infact, not considered as separate jaties but modifying form of Sudha - Jaties. सम्भवतः इसीलिए विकृत जातियों की संख्या का उल्लेख नहीं मिलता ।

3. **संसर्गजात जातियाँ:**

मिश्रित जातियाँ "संसर्गजात" जातियाँ कहलाई जिसका उल्लेख स्वयं भरत ने किया है[1] "शुद्धा विकृताश्च हिमवायाज्जातयस्तु जायन्ते" संसर्गात जातियाँ का उदाहरण षाडजी और मध्यमा के मिश्रण से "षडज मध्यमा" जाति बनाई गई । डॉ0 मुकुन्द लाट ने आचार्य दत्तिल के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि "संसर्गजात जातियाँ (Inter mixed) है जो सात शुद्ध या उनके विकृत स्वरूपों से बनती हैं[2] । आचार्य अभिनव गुप्त का कथन है कि विकृत जातियों के संसर्गात् जातियाँ हैं शुद्ध जातियों से नहीं[3] । इस प्रकार भरत ने शुद्ध और विकृत जातियों के मेल से संसर्गात जातियों को निर्मित माना है जब कि अभिनव गुप्त ने विकृत जातियों से संसर्गात् जातियों को माना है । डॉ0 मुकुन्द लाट ने अभिनव गुप्त के इस मत का स्पष्टीकरण किया है कि, Modifying जातियों से संसर्गात

---

1. ना0शास्त्र - 20।
2. दत्तिलम् पृ0 - 10। after classifying jaties, Dattila enumerates the sankar or the inter - mixed jaties, that arose out of various combination of seven pure or their vikrita jaties.
3. ना0शा0 पृ0 - 37 तासां संसर्गादित्याह विकृता इति न तु शुद्धाः इत्यर्थः ।

जातियाँ बनी[1] । प्रो0 ललित किशोर सिंह ने भी भरत निर्दिष्ट जातियों के तीन वर्ग किये हैं जिनमें शुद्ध और विकृत और संसर्गात जातियों को एक में रक्खा है[2] ।

जबकि उल्लेखनीय तथ्य यह है, कि भरत तथा दत्तिल आदि आचार्यों ने शुद्ध और विकृत जातियों का एक वर्ग माना है तथा संसर्गात् जातियों का वर्ग दूसरा माना है । जैसा डॉ0 मुकुन्दलाट ने दत्तिल के मत का उल्लेख करते हुए स्पष्टीकरण किया है - The suddha and their vikritas and (1) the sankaras(4) अर्थात् शुद्ध और उनके विकृत स्वरूप तथा संकरन (संसर्गात)[3] इससे यह स्पष्ट होता है मूलतः जातियाँ दो प्रकार की है । शुद्ध जातियाँ, जिनमें किसी भी प्रकार का विकार नहीं है । जैसे षाडजी, आर्षभी आदि विकृत जातियों का स्वरूप दो प्रकार से बनता है । एक विकृत जातियाँ वे होती हैं जिनमें स्वरों के बदलाव के कारण विकृति आती है जैसे न्यास स्वर को छोड़कर ग्रह, अंश आदि स्वरों के परिवर्तन होने के कारण जातियाँ विकृति को प्राप्त करती हैं । अथवा जातियों के षाडविता या औडविता के लक्षण हों । जैसे षाडवविकृता, गृहविकृता

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 101 The sankaras arose out of the inter mixture of the jaties belonging to the first class (the suddha and their vikratas)

2. ध्वनि और संगीत प्रो0 ललित किशोर सिंह पृ0 - 154
जातियों के कई भेद हैं जैसे (1) शुद्ध (2) विकृत और (3) संसर्गजात शुद्ध जातियाँ वे हैं जिनका न्यास, अंश, ग्रह एक ही स्वर होता है और जो सम्पूर्ण हो जब न्यास स्वर छोड़कर ग्रह अंश आदि बदल जाए या औडवता पाडवता आ जाये तो जातियाँ विकृत होती हैं जो जातियाँ दो या अधिक शुद्ध जातियों के मेल से बनती हैं वे संसर्गजात जातियाँ हैं । शुद्ध-जातियाँ सात हैं, संसर्गजात ग्यारह और विकृत अनेक ।

3. दत्तिलम् पृ0 - 101 The sankarna arose out of the inter mixture of the jaties belonging to the first class (The suddha and their vikrit).

आदि[1] ।

जातियों की दूसरी विकृति दो या दो से अधिक जातियों के संसर्ग से आती है जिसे भरत ने संसर्गात् जातियाँ कहा है जैसे षाडजी और मध्यमा के संसर्ग से षाडजमध्यमा जाति[2] । इस प्रकार भरत-संगीत में सात शुद्ध जातियाँ तथा ग्यारह संसर्गात जातियों के नामों का उल्लेख मिलता है । सम्भवतः विकृत जातियाँ अनेक रहीं हो । अतएव उनके नामोल्लेख नहीं प्राप्य थे ।

षडज तथा मध्यम ग्रामिक शुद्ध सात जातियों के नाम तथा लक्षणों की व्याख्या पूर्व में दी जा चुकी है । ग्यारह संसर्गात जातियों का उत्पत्तिक्रम नाट्यशास्त्र के अनुसार निम्नवत् दिया जाता है ।

ग्यारह संसर्गात् जातियाँ- (तत्रैकादशसंसर्गजा)

1. षाडजी + मध्यमा = षडज मध्यमा
2. षाडजी + गान्धारी = षडज कौशिकी
3. गान्धारी + षाडजी - धैवती = षडजोदीच्यवा
4. षाडजी + गान्धारी + मध्यमा + धैवती = गान्धारोदीच्यवा
5. धैवती + पन्चमी + मध्यमा + गान्धारी = मध्यमोदीच्यवा
6. गान्धारी + मध्यमा + पन्चमी + निषादवती = रक्तगान्धारी
7. गान्धारी + आर्षभी = आन्ध्री
8. पन्चमी + आर्षभी + गान्धारी = नन्दयन्ती
9. निषादवती + आर्षभी + पंचमी = कार्मारवी

---

1. विकृत संज्ञा इति विकोर सम्यक्ज्ञानं विशेषतो चासां, तेन षाडवविकृता, ग्रहविकृता, अंशविकृता, ग्रहांशोपन्यासविकृता इविविभाग, ना0शा0 पृ0-37
2. ना0शा0 - 37 षडजमध्यमयोश्च संसर्गजातिः षडजमध्यमेत्युक्तम् ।

10. पंचमी + गान्धारी = गान्धार पंचमी

11. धैवती + आर्षभी = कौशिकी[1]

1. इन विकृत और संसर्ग जातियों का प्रधान लक्षण तो यही है कि ये जातियाँ किसी न किसी विकार से बनती हैं । चाहे यह विकार स्वरों का हो अथवा दो या दो से अधिक जातियों के संसर्ग से हो[2] ।

2. जहाँ शुद्ध जातियों में मन्द्र स्वर नियमपूर्वक न्यास स्वर होता है वहीं विकृत जातियों में यह में यह नियम शिथिल हो जाता है[3] ।

3. शुद्ध और विकृत मिलाकर कुछ अठारह जातियाँ हैं । जिनमें सात जातियाँ षडजग्रामिक मूर्च्छना से उत्पन्न है तथा ग्यारह जातियाँ मध्यमग्रामिक मूर्च्छना से उत्पन्न हैं ।

4. शुद्ध और विकृत जातियों के प्रकारों से यह तथ्य सामने आता है कि भरत ने मूलतः सात शुद्ध स्वरों षडज, रिषभ आदि के नाम पर षाडजी, आर्षभी आदि सात शुद्ध जातियों को मूलाधार मानकर ग्यारह विकृत जातियों का निर्माण किया- क्यों कि शुद्ध जातियों के दो या दो से अधिक संसर्ग से ग्यारह संसर्गात

---

1. 28 पृ0 - 38 षाडजीमध्यमाभ्यां निवृत्ता ज्ञेयाषडजमध्यमा, षाडजी गान्धारीभ्यां षडजकौशिकी, गान्धारीषडजधैवतीभिः षडजोदीच्यवा, षडज-गान्धारीमध्यमाधैवतीभिगान्धारोदीच्यवा, धैवती पंचमी मध्यमा गान्धारी-भिर्मध्यमोदीच्यवा, गान्धारीमध्यमापंचमी निषादवतीभिः रक्तगान्धारी गान्धार्यार्षिभ्यामान्ध्री पंचम्यषिभीगान्धारीभिर्नन्द्रयन्ती, निषादवत्यार्षभी, पंचमीभिः कार्मारवी, पंचमीगान्धारीभ्यां गान्धारपंचमी, धैवत्यार्षभीवर्जाभि कौशिकी ।।

2. ना0शा0 पृ0 - 37 "विकृतसंज्ञा इति विकारे"

3. ना0शा0 पृ0 - 28 पृ0 - 37 न्यासीवधावप्यासां मन्द्रो नियमः विकृतासनियमः

जातियाँ बनी, तथा यही शुद्ध जातियाँ विकृता भी बन जाती हैं । इसके अतिरिक्त भरत ने जातियों में लगने वाले स्वरों के आधार पर जातियों के तीन भेद और किये हैं । यथा -

स्वरों की दृष्टि से अठारह जातियों के प्रकार:

शुद्ध, विकृत और संसर्ग जातियों के स्वरूप के अतिरिक्त भरत ने दोनों ग्रामों के स्वरूपाश्रित होने पर भी जातियों के अलग-अलग लक्षण होते हैं[1] अर्थात् जातियों में लगने वाले स्वरों के आधार पर भी अठारह जातियों के भेद होते हैं ।

अठारह जातियों में चार जातियाँ सप्तस्वरा हैं, चार षट्स्वरा है और 10 जातियाँ पंचस्वरा हैं[2] ।

अभिप्राय यह है कि जातियों में प्रयुक्त किये जाने वाले स्वरों के आधार पर भरत ने जातियों के सम्पूर्ण षाडव और औडव स्वरूपों का विस्तार से विवरण दिया है । जिस प्रकारप्रचलित राग-पद्धति में राग के आरोह-अवरोह में लगने वाले सात स्वरों से सम्पूर्ण, षटस्वरों से षाडव और पाँच स्वरों से औडव स्वरूप का बोध होता है और तद्नुसार राग के चलन का विस्तार किया जाता है, उसी प्रकार भरत-संगीत में आज की भाँति जातियों के सम्पूर्ण षाडव और औडव स्वरूप का प्रचलन था । जातियों के सप्तस्वरता, षटस्वरता और पंचस्वरता से यह अवश्य अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रचलित रागों की भाँति जातियों में भी कम से कम पाँच और अधिक से अधिक सात स्वरों का प्रयोग किया जाता था ।

---

1. ना0शा0 28 पृ0 - 48
परस्परविनिष्पन्ना ज्ञेया ह्येवं तु जातयः
पृथग्लक्षणसंयुक्ता द्वैग्रामिकाः स्वराश्रयाः

2. ना0शा0 28 पृ0 - 49
चतस्त्रो जातयो नित्यं ज्ञेया सप्तस्वरा बुधैः ।

भरत के मतानुसार सम्पूर्ण या सप्तस्वरता जातियाँ चार थीं । यथा-

1. मध्यमोदीच्यवा
2. षडज कौशिकी
3. कार्मारवी
4. गान्धारपंचमी[1]

इसी षाडव जातियाँ भी चार हैं जो षट्स्वरा हैं[2] ।

षट्स्वर जातियाँ:

1. षांडजी
2. आन्ध्री
3. नन्दयन्ती
4. गान्धारोदीच्यवा[3]

उपरोक्त जातियों में छः स्वरों का प्रयोग होता है । स्वरों की दृष्टि से जातियों का तीसरा प्रकार पन्चस्वरा बताया है । जिन जातियों में पाँच स्वरों का उपयोग हो वे पन्चस्वरा जातियाँ हैं । इन जातियों की संख्या भरत ने दस मानी है[4] । तथा इनकी संख्या व नाम निम्नवत् हैं -

---

1. ना0शा0 50 मध्यमोदीच्यवा चैव तथा वै षड्ज कौशिकी कार्मारवी च संपूर्णा तथा गान्धारपंचमी
2. ना0शा0 पृ0 - 39 "चतस्त्रः षट्स्वरा ज्ञेया"
3. ना0शा0 28/51 षाडज्यान्ध्री नन्दयन्ती च गान्धारोदीच्यवा तथा चतस्त्रः षट्स्वरा"
4. ना0शा0 28/51 "षडजस्वरा दश"

1. नैषादी
2. आर्षभी
3. धैवती
4. षडजमध्यमा
5. षडजोदीच्यवती
6. गान्धारी
7. रक्तगान्धारी
8. मध्यमा
9. पंचमी
10. कौशिकी

उपरोक्त पंचस्वरा जातियों में नैषादी, आर्षभी आदि पाँच जातियाँ षडज ग्रामाश्रित हैं और गान्धारी रक्त गान्धारी आदि शेष पाँच जातियाँ मध्यग्रामाश्रित हैं[1] ।

षटस्वरा और पंचस्वरा जातियों को भरत ने षाडवीभूता और औडविका भी कहा है । भरत - निर्दिष्ट जातियों के ये तीन स्वरूप ठीक वही है जो आज रागों के सम्पूर्ण षाडव और औडव प्रकारों के होते हैं । भरत ने इन जातियों के लिए एक सूत्र का प्रतिपादन किया है कि सप्तस्वरा जातियाँ षटस्वरा भी हो सकती हैं और पंचस्वरा भी हो सकती हैं । इसी प्रकार षटस्वरा जाति पंचस्वरा भी हो सकती हैं[2] । जिस प्रकार आधुनिक संगीत में एक ही थाट का राग सप्तस्वरों के

---

1. ना0शा0 28/52, 53 नैषादी चार्षभी चैव धैवती षडजमध्यमा,
षडजोदीच्यंवती चैव पन्च षडजाश्रिता स्मृताः
गान्धारी रक्तगान्धारी मध्यमा पन्चमी तथा
कौशिकी चैवपन्चैता मध्यमग्रामसंश्रयाः

2. ना0शा0 28/54 यास्ताः सप्तस्वरा ज्ञेया याश्चैताः षटस्वरा स्मृता
कदाचिद् षडवीभूता कदाचिच्चैडुवे यताः

कारण सम्पूर्ण, छः स्वरों के कारण षाडव और यदि दो स्वर वर्जित कर दिये जाएं तो राग औडव जाति का हो जाता है । इसी तरह भरत की जातियों में एक या दो स्वरों के लोप के कारण जातियों का स्वरूप षाडव भी हो सकता है और औडव भी हो सकता है ।

षट्स्वरा और पंचस्वरा जातियों का स्वरूप:

सप्तस्वर जातियाँ सम्पूर्ण या पूर्ण होती है क्योंकि इनमें किसी भी स्वर का लोप नहीं होता जैसा अभिनव गुप्त ने कहा है[1] । षट्स्वरा और पंचस्वरा जातियों में क्यों कि एक स्वर और दो स्वरों का लोप होता है अतएव भरत ने इन दोनों प्रकार की जातियाँ का विवरण विस्तार से दिया है ।

भरत-संगीत का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व स्वरों का परस्पर सम्वाद भाव है । सम्वादात्मकता की दृष्टि से भरत ने "अंशस्वर" को जातियों का "नियामक" माना है जातियों का दूसरा महत्वपूर्ण स्वर "न्यास" का स्वर है । इन दोनों स्वरों पर जाति का स्वरूप आधारित रहा करता था । अंश स्वर जातियों के औडव और षाडव स्वरूप को स्थिर करता है । उदाहरणार्थ यदि किसी जाति में गान्धार स्वर अंश है तो गान्धार स्वर से सम्वाद रखने वाला दूसरा स्वर निषाद है क्यों कि निषाद, गान्धार स्वर से तेरह श्रुत्यन्तर का होने के कारण सम्वादी स्वर है । अतएव गान्धार स्वर के अंश होने पर उसके सम्वादी स्वरों का लोप नहीं किया जा सकता है, परिणामतः उस जाति विशेष को षाडव अवस्था नहीं प्राप्त हो सकती । इसीलिए भरत ने अंश के लिए "अंशविकल्पन" शब्द का प्रयोग किया है[2] । जिसका अभिप्राय लगाया जा सकता है कि जातियों के "अंश स्वर" पर उस जाति का रस (Melody)

---

1. ना0शा0 पृ0 - 40 याः सप्तस्वरा मध्यमोदीच्यवाद्याश्चतस्त्रस्ताः ज्यास्तवैव नियमेनेति शेषः । तेन तासां न जातु हीनस्वरता ।

2. ना0शा0 28/58 अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि तासामंश विकल्पनम्

निर्भर करता है इसी कारण अंश स्वर के आधार पर जातियों में प्रयुक्त होने वाले स्वरों का षाडव या औडव स्वरूप निर्भर करता है ।

डॉ0 मुकुन्द लाट ने इसे और स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अंश स्वर जाति के औडव और षाडव स्वरूप को निर्मित करता है[1] । आचार्य अभिनव गुप्त ने भरत निर्दिष्ट "अंशविकल्पनम्" की व्याख्या की है "अंशस्वरा विकल्पयन्ते येन" । अर्थात् अंश स्वर जातियों के औडव और षाडव रूप का विचार करते हैं[2]।

अभिप्राय यह है कि भरत की जातियों में अंश स्वर " Importent Note" है जो जाति के सम्वादात्मक स्वरूप का निर्माण करता है । अर्थात् किसी जाति के दो सम्वादात्मक स्वरों में से किसी एक का अंशत्व ग्रहण करने पर उस जाति के सम्वादी स्वर का लोप नहीं हो सकता, अतएव उस अवस्था में वह जाति विशेष औडव तो हो सकती है षाडव नहीं ।

अंश की इसी प्रधानता के कारण आचार्य अभिनव गुप्त ने "अंशविकल्पनम्" शब्द का उल्लेख करते हुए अंश स्वर के द्वारा षाडव और औडव स्वरूप का विचार किया है[3] ।

---

1. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 122 it was (amsa) the note which determinded, the structure of a raga (also a jati implication) ----- many jaties had more than one amsa only when certain amsas were ruling could these jaties be rendered sadava and audivita.

2. ना0शा0 पृ0 - 41 अंशस्वराः विकल्प्यन्ते येन । अंस्यां जातावयम् अंशाः षाडवावरोहिता ।

3. ना0शा0 पृ0 - 41 अंगविकल्पनमिति पाठे अंगस्य षाडवौऽविक सस्य विकल्पनं कथनम् ।

इस संदर्भ में भरत ने कई जातियों का उदाहरण सविस्तार दिया है । षडज-मध्यमा जाति सम्वाद-भाव के कारण षटस्वरा नहीं हो सकती । क्योंकि "षडजमध्यमा" जाति में गन्धार तथा निषाद परस्पर सम्वादात्मक स्वर हैं[1] । किसी भी एक स्वर का अंशत्व होने पर दूसरे स्वर का लोप करने से स्वरों का सम्वाद-तत्व नष्ट होता है जो षडज-मध्यमा जाति के लिए इष्ट नहीं है । अतएव "षडजमध्यमा" जाति के गान्धार और निषाद दोनों स्वरों के लोप करने से "औडव" तो हो सकती है पर "षाडव" नहीं । आचार्य अभिनव गुप्त ने इसे और स्पष्ट किया है । गान्धार-निषाद में से किसी एक स्वर के अंशत्व ग्रहण करने पर जाति का षट्स्वरा यानी षाडव स्वरूप नहीं बन सकता अर्थात् किसी स्वर को अंश करने पर दूसरे सम्वादी स्वर का लोप विहित नहीं है क्योंकि गान्धार का निषाद सम्वादी स्वर है[2] ।

अभिप्राय है, कि वादी स्वर के साथ सम्वादी स्वर का जाति में होना आवश्यक है वादी स्वर के रहने पर सम्वादी स्वर का लोप नहीं होना चाहिए । जैसा कि आज की राग-पद्धति में रागों के वादी-सम्वादी दोनों रहते हैं ।

इसी प्रकार महर्षि भरत ने मध्यमग्राम से उद्भूत गान्धारी, रक्तगान्धारी और कौशिकी जातियों में रिषभ स्वर घर्जित करने से ये जातियाँ षाडव हो जाती है[3] ।

---

1. ना0श0 28/58 षट्स्वरा सप्तमे ह्यशो नेष्यते षडजमध्यमा संवाद्यलोपाग्दान्धारे तद्वदेव हि नेष्यते ।
2. ना0शा0 पृ0 - 41 निषादे गान्धारे चांशे त द्वति षटस्वरा नेष्यन्त इत्यर्थः अत्र हेतु संवादिनो लोपाभावान्निषादेन न स्यात् षाडवः । स च गान्धारस्य सम्वादी ।
3. ना0शा0 28/59 संवाद्यलोपाग्दान्धारे तद्वदेव हि नेष्यते ।
   गान्धारी रक्तगान्धारी कौशिकीनां पन्चमः

लेकिन ये जातियाँ क्योंकि मध्यमग्राम की है और मध्यमग्राम में रिषभ और पंचम का सम्वादी सम्बन्ध है अतएव इन जातियों में पंचम स्वर को अंशत्व नहीं प्राप्त हो सकता । क्योंकि यदिषाडव - अवस्था में इन जातियों में पंचम स्वर अंश होगा तो सम्वाद-तत्व की दृष्टि से रिषभ स्वर का लोप नहीं किया जा सकता क्यों कि रिषभ, पंचम स्वर का सम्वादी है अतएव इन जातियों की उस स्थिति में षाडव-अवस्था सम्भव नहीं है ।

इसी कारण इन जातियों का षाडव अवस्था में पंचम स्वर अंश कभी नहीं होता, क्यों कि पंचम के अंश होने पर रिषभ स्वर का सम्वादी होने के नाते लोप नहीं हो सकता ।

इसी प्रकार षडजमध्यमा जाति निषाद या गान्धार किसी एक के अंश स्वर होने पर षट्स्वरा अथवा षाडविता नहीं होती, मध्यमग्रामी गान्धारी, रक्तगान्धारी और कौशिकी जातियाँ पंचम और रिषभ के कारण षटस्वरा न होकर औडवी यापंचस्वर होती है । अन्यथा इन जातियों में संवाद तत्व नष्ट हो जाता है[1] । अतएव इस प्रकार की जातियों को सदा औडविता मानना चाहिए[2] । इस प्रकार सम्वाद तत्व को ध्यान में रखकर "अंश स्वर" के अनुरूप जातियों का षाडवत्व और औडवत्व निर्मित होता है । डॉ0 मुकुन्दलाट ने भी इस तथ्य का उल्लेख किया है[3] । वह पुनः लिखते हैं कि अंश स्वर के अनुसार कुछ स्वर वर्जित

---

1. ना0शा0 28/63 ऋषभश्चैव पन्चभ्यां कौशिक्यां चैव धैवतः एवं तु द्वादशैवेह वर्ज्याः पन्चस्वराः सदा ।
2. ना0शा0 28/64 तास्त्वनौडुविता नित्यं कर्तव्या स्वराश्रयाः
3. दत्तिलम् पृ0 - 122 Where as amsa was a larger concept. It was the note which determined the structure of a raga also (a jati by implication) and was more pervasive and there by had a greater predominance.

या लोप किये जाते हैं[1]।

जातियों के (Melodic) सम्वादित स्वरूप को देखते हुए जिन-जिन स्वरों से जातियों के औडव और षाडव स्वरूप बनते हैं उनका क्रम निम्न है यथा-

	अठारह जातियाँ	षाडवलोपी स्वर	औडवलोपी स्वर
1.	षाडजी	निषाद	-
2.	आर्षभी	षडज	षडज - पंचम
3.	गान्धारी	रिषभ	रिषभ - धैवत
4.	मध्यमा	गान्धार	गान्धार - निषाद
5.	पंचम	गान्धार	गान्धार-निषाद
6.	धैवती	पंचम	षडज-पंचम
7.	नैषादी	पंचम	मध्यम-पंचम
8.	षडज कौशिकी	-	-
9.	षडजोदीच्यवा	रिषभ	रिषभ - पंचम
10.	धडज-ध्यमा	निषाद	गान्धार - निषाद
11.	गान्धारोदीच्यवा	रिषभ	-
12.	रक्तगान्धारी	रिषभ	रिषभ - धैवत
13.	कैशिकी	रिषभ	रिषभ - धैवत
14.	मध्यमोदीच्यवा	-	-
15.	कर्मारवी	-	-

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 122 In Gandharva, we have seen, only certain notes could be dropped in rendering melodic structures sadava and avdanita.

	अठारह जातियाँ	षाडवलोपी स्वर	औडवलोपी स्वर
16.	गान्धार पंचमी	-	-
17.	आन्ध्री	षडज	-
18.	नन्दयन्ती	-	-

इस प्रकार भरत-निर्दिष्ट जातियों में सम्वाद तत्व को ध्यान में रखते हुए सभी स्वरों का यथा समय विलोप भी होता है और अविलोप भी । अतः प्रत्येक स्वर निश्चित नहीं है । क्योंकि जातियों का रस तत्व बिल्कुल भी नष्ट नहीं होना चाहिये । यह भरत का अकाट्य सूत्र है "स्वरा एव विशिष्ट संनिवेशभाजों रक्तिमष्टाभ्युदयं" अर्थात् स्वरों का ऐसा लगाव हो जिससे सम्वाद तत्व निरन्तर बना रहे । इसीकारण भरत ने प्रत्येक स्वर को यथावसर विलोप माना । हाँ भरत की जातियाँ मैं मध्यम स्वर ऐसा है जिसका कभी नाश नहीं होता अतएव मध्यम स्वर अविलोपी है "न मध्यमस्य नाशस्तु"।

जातियों में मध्यम स्वर की प्रधानताः

भरत की जातियों की यह विशिष्टता थी कि सप्तस्वरों में से मध्यम स्वर ऐसा था जिसे भरत ने अविलोपी स्वर कहा है अर्थात् जातियों में लगने वाले सभी स्वरों का यथा समय लोप किया जा सकता है किन्तु मध्यम स्वर का लोप विहित नहीं था । "न मध्यमस्य नाशः" "ह्यनाशी मध्यमः" अभिनव गुप्त लिखते "सर्वे स्वराः नाशिनः मध्यमस्य तु न क्वचिद्विनाशः" नाट्यशास्त्र के इन पदों से प्रतीत होती है कि मध्यम स्वर जातियों का श्रेष्ठ स्वर था । महर्षि भरत ने "सामगान" में भी मध्यमस्वर की प्रधानता का उल्लेख किया है[1] ।

---

1. ना0शा0 28/65 सर्व स्वाराणां प्रवरो ह्यनाशी मध्यमाः स्मृतः
   यः सामगाना प्रथमः सः विक्षेन्मध्यमस्वर

अभिनव गुप्त ने विशाखिल, श्रीमत उत्पलदेव के मतों का उल्लेख करते हुए मध्यम स्वर की अनाशित्व का विवरण दिया है डॉ0 मुकुन्द लाट ने कल्लिनाथ के मत का उल्लेख करते हुए कहा है कि विभिन्न शास्त्रज्ञों के मतानुसार मध्यम स्वर का अनाशित्व में दो मत हैं । प्रथम मत से भरत निर्दिष्ट मध्यम का अनाशित्व परम्परावादी दृष्टिकोण है ।[1]

दूसरे दृष्टिकोण से मध्यम स्वर सात स्वरों के बीच की कड़ी या केन्द्र बिन्दु होने के कारण अनाशी है[2] । इस सम्बन्ध में डॉ0 मुकुन्द लाट ने व्याख्या की है । यद्यपि महर्षि भरत तथा उनके अनुयायिओं ने मध्यम स्वर के अनाशित्व का विस्तार से विवरण दिया है किन्तु मध्यम स्वर इसलिए श्रेष्ठ तथा अविनाशी है क्योंकि यह स्वर सप्तक के तीन-तीन समान श्रुतियों वाले स्वरों के बीच का स्वर है[3] । अर्थात् एक सप्तक के स-रे-ग-ये "तीन स्वर क्रमशः चार, तीन और

---

1. ना0शा0 28 पृ0 42 विशाखिलाचार्यादिभिरूक्त नानुमन्यन्ते मुनेर्मध्यम एवाविनाशी मत इत्याहु ।
   श्रीमदुत्पलदेवास्त्वाहु - जगतिलक्षणे वक्ष्यमाणे मध्यमस्य लोपो न क्वचिद्वक्ष्यते ।
2. दत्तिलम् पृ0 84 - Kallinath has recarded two explanations held by different theories regarding the indispensability of madhyam. The first view was simply a reieration of tradition and its -- spokeman stated that madhyam was indispensability -- the other view had more ratienal appearance it held that madhyam is the central note dividing.
3. " " 85 It can be said that there are only three notes Sa (four sruties) Re (three sruties) Ga (two sruties) Pa (four sruties) Dha (Three sruties) and Ni (two sruties) are their complementaries with Madhayam, occupying central central position and remaining constant.

दो श्रुतियों के हैं । ठीक इन्हीं स्वरों का जवाब सप्तक के उतराग के प-ध-नी स्वर हैं जिनकी श्रुतियों की संख्या व अनुपात स - रे - ग स्वरों की भाँति है। अतएव सातस्वरों के इन तीन-तीन स्वर समूहों की जोड़ी के बीच मध्यम स्वर का स्थान होने के कारण मध्यम सभी स्वरों से श्रेष्ठ व अविनाशी समझा जाता है । सप्तक में मध्यम स्वर की स्थिति Central Position की है[1] ।

डॉ0 लाट ने आचार्य कुम्भ के मत का उल्लेख किया है । कुम्भ के इन तीन स्वर समूहों (सरेग-पधनी) को "त्रिक" की संज्ञा दी है । इन दो त्रिकों के बीच में रहने के कारण मध्यमस्वर अविलोपी है[2] । जैसे- "स - रे - ग - प - ध - नी" सप्तक के इन दो त्रिकों को परस्पर जोड़ने वाला एक मात्र स्वर "मध्यम" है अतएव सभी स्वरों से इस स्वर की प्रधानता होना स्वाभाविक है । ग्रीक संगीत में भी त्रिक स्वरों (स - रे - ग - प - ध - नी) का प्रयोग किया जाता है किनतु इन स्वर समूह में यथा समय परिवर्तन किया जा सकता था । इन त्रिकों का प्रयोग भरत के मतानुसार Fix नहीं था । ग्रीक संगीत में इन त्रिक स्वरों

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 84 Between the two divisions, Madhyam stands solitary as the central point and thus has no consonants left for it. If has not be dropped because of its solitary and focal position.

2. दत्तिलम् पृ0 - 85 The explanation offered by Kummbha ------ is more orless on the same lines he had used am interesting term 'Trka' (group of three) in the context and had pointed out that ma (   ) is the central Note between the lower and higher (tetrachords).

Tertra Chords (त्रिकस्वर) कहा जाता है[1]

आचार्य अभिनव गुप्त ने दत्तिलाचार्य के कथन का उल्लेख किया है। जिसमें उनका मत है कि मध्यम ग्राम में पंचम और षडज ग्राम में धैवत अनाशी है किन्तु मध्यम सर्वत्र अनाशी है[2] । इस प्रकार भरत के परवर्ती विद्वान मध्यम स्वर को सात स्वरों के बीच का स्वर मानते हुए इसे अनाशी कहते हैं । भरत ने स्पष्टतः मध्यम स्वर को अनाशी और अलोपी स्वर माना है । मूर्च्छना प्रकरण में भरत-वाक्य है मध्यम स्वर से वीणावादक मूर्च्छनाओं का आरम्भ करते हैं । मध्यम स्वरेषैवतु मूर्च्छना निर्देशः कार्यो भवति । मध्यम स्वर से मूर्च्छना निर्देश करने योग्य है[3] । आचार्य अभिनव गुप्त ने इसका अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है, "मध्यमस्वरेण त्विति जातावेकवचनम् मध्यैरैव स्वरैरित्यर्थः" अर्थात् मध्यम स्वर एक वचन जाति के अर्थ में है इसका अर्थ है "मध्यस्थानीयसात" स्वरों का सप्तक । मूर्च्छना का मूलभूत स्थापन मध्यस्थानीयसात स्वरों द्वारा प्रतिपादित किया जाता है अतएव

---

1. दत्तिलम् - 85 Greeck system the tones of the two tertra chords in an octave changed values and the intervals between Sa-Re-Ga and Pa-Dha-Ni was not rigidly to one single possibility as in gandhara.

2. ना0शा0 पृ0 - 29 पन्चमं मध्यमग्रामे षडजग्रामेतु धैवतम्
   अनाशिनं विजानीयात्सर्वत्रैव तु मध्यमस्

3. ना0शा0 28/पृ0 - 27 मध्यमस्वरेणैव तु मूर्च्छनानिर्देशः कार्यो भवति

मध्यमस्वर से भरत का अभिप्राय मध्यस्थानीय सात स्वर है जो मध्य-सप्तक का द्योतक है[1] ।

आचार्य वृहस्पति ने अभिनव गुप्त के इस मत का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि "मध्यमस्वरेण" पद का अर्थ मध्यम स्वर भी है और मध्यस्थानीय स्वर सप्तक भी है । जिसे अभिनव गुप्त ने जातिवाची एक वचन मानकर मध्य-सप्तक माना है । अतएव "मध्यमस्वरेण" पद मध्यमस्वर और मध्य स्थानीय सप्तक दोनों अर्थों में अनाशी यानी आवश्यक है[2] । अतएव आचार्य वृहस्पति के भी अनुसार "मध्यमस्वर" मूर्च्छनाओं का आरम्भक स्वर है । महर्षि भरत तो पूर्णतः मध्यमस्वर को अनाशी मानते हुए उसे "प्रवरस्वर" कहते हैं -

इस संदर्भ में प्रो0 ललित किशोर सिंह ने स्पष्टतः भरत मत को मान्यता देते हुए कहा है कि "मध्यम स्वर से मध्यसप्तक का अर्थ लिया जाना उचित नहीं है । वे कहते हैं कि भरत वाक्य का अर्थ है -" वीणावादक मूर्च्छना का निर्देश मध्यम स्वर से करते हैं, क्योंकि इसका नाश नहीं होता ---- मूर्च्छना का

---

1. ना0शा0 पृ0 - 27 मध्यमस्वरेण त्विति जातावेकवचनम् । मध्यैरेव स्वरैरित्यर्थः, वैव ग्रहण शरीरे ----- अन्तशितान्मध्यमगतिरिति स्वरसप्रकास्य विशेषः

2. संगीत चिन्तामणि पृ0 - 75
   हमने मध्यमस्वर शब्द को एक वचन मानकर उसका अर्थ वीणा के मध्य स्थान का आरम्भक स्वर किया है जिसकी ध्वनि यथास्वर अभीष्ट मूर्च्छना के आरम्भक स्वर का ।

प्रयोजन भी स्थान प्राप्ति है । स्थान तीन प्रकार हैं (मन्द्र मध्य और तार)[1]

उपरोक्त संदर्भों से स्पष्ट है कि भरत संगीत में मध्यम स्वर का अनाशित्व होना ठीक है क्योंकि-

1. "मध्यम स्वर" आज भी सात स्वरों के बीच का स्वर है जो श्रुति संख्या और अनुपातिक दृष्टि से स्पष्ट है ।

2. मध्यम स्वर अक्टेव या सप्तक के स्वर व श्रुतियों की दो जोड़ियों को अलग करता है यथा स - रे - ग, प - ध - नी, इन स्वर समूहों के बीच में रहने के कारण "मध्यम स्वर" Dividing Central Note है[2] ।

3. इस दृष्टि से "भरतवाक्य" मध्यमस्वेरण तु वैणेन मूर्च्छना निर्देशों कार्यों भवति[3] की पुष्टि हो जाती है । क्योंकि मध्यम स्वर से मूर्च्छना का निर्देश दिया जाता है और मूर्च्छना का प्रयोजन स्थान (मन्द्र मध्य और तार) की प्राप्ति कराती है । अतएव इसीलिए सभी स्वरों का लोप किया जा सकता है किन्तु मध्यम स्वर

---

1. ध्वनि और संगीत पृ0 - 152 ललित किशोर सिंह
   भरत की पद्धति में मध्यम स्वर को प्रधानता दी गई है, मूर्च्छना में भी मध्यम का महत्व पाया जाता है भरत ने कहा है "मध्यमस्वरेण तु वणैन मूर्च्छ निर्देशः भवति अनाशित्वात् ----- मूर्च्छनाप्रयोगमपि स्थान प्राप्त्यर्थः। स्थान तु त्रिविध । मुतग ने संभवतः इसी की व्याख्या करते हुए कहा है "मध्य सप्तकेन मूर्च्छना निर्देशः कार्यों मन्द्रतारसिद्धयर्थ "किन्तु मध्यमस्वर का अर्थ मध्यसप्तक उचित नहीं जान पड़ता ---- यहाँ मध्यम स्वर को अनाशी वतनि से स्पष्ट है कि इसका अर्थ स्वर है, सप्तक नहीं ।
2. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 84 It held that madhyam is the central note dividing the ocatve in to two parts. Sa-Re-Ga-----the lower part, Pa three being consonents to the upper three. Sa to Pa-Ri to Dha and Ga to Ni.
3. ना0शा0 28 पृ0 - 27 मध्यमस्वरेणैव तु मूर्च्छनानिर्देशः कार्यो भवति

को लोप कभी नहीं किया जा सकता । नै मध्यमस्य नाशस्तु कर्त्तव्यों कदाचन[1] ।

4. मध्यम स्वर से पूर्ववर्ती स्वर षडज ऋिषभ गान्धार हैं और मध्यम स्वर से उत्तर यानी पर - भाग में पंचम धैवत और निषाद स्वर है और ये स्वर परस्पर षडज - पंचम - भाव से स्थित है अर्थात स - प, रे - ध, गन्नी स्वर जोड़ियाँ परस्पर सम्वादित हैं और "मध्यमस्वर" मानों इन स्वर समूहों के बीच की कड़ी है इसीलिए श्रेष्ठ है । जैसा आचार्य वृहस्पति ने कहा है[2] ।

5. सामवेदियों का "मध्यम स्वर" प्रथम स्वर है और वीणावादकों को मूर्च्छना का निर्देश भी "मध्यम स्वर" से करते हैं । भरत के इस वाक्य से स्पष्टतः सिद्ध होता है कि स्वर और श्रुतियों की संख्या और अनुपात की दृष्टि से अतिप्राचीन काल से मध्यम स्वर को स्थायी स्वर यानि अलोपी स्वर का स्थान प्राप्त था क्योंकि एक तो मध्यम स्वर सप्तक के दोनों त्रिकों (सरेग - पधनी) के बीच का स्वर है, दूसरा दोनों त्रिकों के स्वर परस्पर षडज - पंचम भाव यानी तेरह श्रुत्यन्तर के स्वर हैं । तीसरी बात षडज ग्राम में मध्यम स्वर स्वरों के बीच का स्वर है और मध्यमग्राम का आरम्भक स्वर है ।

सम्भवतः इन्हीं तथ्यों के आधार पर सामगान में मध्यम स्वर को प्रथम स्वर यानी प्रधानता दी गई और इसी कारण भरत ने इस स्वर को अलोपी और प्रवर स्वर मानते हुए मूर्च्छनाओं का निर्देश करना इसी स्वर से बताया है । इस स्वर

---

1. ना0शा0 पृ0 - 43 न मध्यमस्य नाशस्तु कर्त्तव्यो कदाचन ।
2. संगीत चिन्तामणि पृ0 - 188 यदि मध्यम को तराजू की इण्डी का मध्य बिन्दु माना जाए तो ये दोनों त्रिक उस तराजू के ऐसे दो पलड़े हैं जो समान भार होने के कारण सन्तुलित हैं केन्द्र बिन्दु से थोड़ा सा इधर-उधर हटने पर पलड़ों में सन्तुलन नहीं रह सकता । इसीलिए प्राचीनों ने मध्यम स्वर को प्रवर या श्रेष्ठ कहा है ।

की ध्वनि अचल अविनाशी और स्थायी थी जिस प्रकार आधुनिक राग पद्धति में षडज स्वर की ध्वनि "अचल" मानी जाती है ठीक उसी प्रकार प्राचीन संगीत में मध्यम का अचलत्व सहैतुक था क्योंकि "मध्यमस्वर" की ध्वनि उस समय स्थायी मानी जाती थी अर्थात् निरन्तर गूँजने वाली ध्वनि थी इसका स्पष्टीकरण आचार्य वृहस्पति ने मुनि मतंग के इस पद से किया है । यथा - माना (मूर्च्छना) प्रयोजनमपि ...... कर्ण्ये स्वरे मूर्च्छना कर्च्यैति भव:"[1] अर्थात् मध्यमस्वर से मूर्च्छना निर्देश होता है तो वह कथन ठीक है, यहाँ एक वचन स्वर जाति के अर्थ में है तात्पर्य यह है कि स्थायी स्वर के रूप में पहले से निरन्तर कान में पड़ने वाली इस ध्वनि को ही स्थापनीय मूर्च्छना के आरम्भक स्वर की संज्ञा देकर उसी ध्वनि के आधार पर मूर्च्छना का स्थापन किया जाना चाहिए[2] ।" प्राचीन भरत-संगीत में "मध्यम" स्वर के संदर्भ में प्रो0 ललित किशोर सिंह जी लिखते "आधुनिक वाद्यों" में यही ।4 सुन्दरियों वाला प्रबन्ध प्रचलित है इनमें मध्यम का स्थान ठीक बीच में होता है । - - - - - - - - - - प्राचीन यूनानी स्वरसंस्थान में ऐसे चार चतु: संघातों का बना होता था और वाद्यों में इसी का व्यवहार किया जाता था वाद्य के बीच में तार को प्रधान माना जाता था जिसे "मेसा" कहते थे यह "मेसा" "मध्यम" का पर्याय है[3] ।"

आज भी यदि सितार आदि तन्त्रवाद्यों के "स्वर संस्थान" पर दृष्टि डाली जाए तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि वादक "मध्यमस्वर" को प्रधान स्वर मानते हुए उसे "वाज का तार" की संज्ञा देते हैं क्यों कि सितार का प्रथम तार मध्यम (मन्द्र) से मिलाने पर आज से तन्त्र वाद्यों का स्वर - संस्थान निम्न प्रकार का होता है ।

---

1. संगीत चिन्तामणि पृ0 - 74
2. संगीत चिन्तामणि (वृहद्देशी पृ0 - 29)
3. ध्वनि और संगीत प्रो0 ललित किशोर सिंह पृ0 - 152-153

आधुनिक तन्त्रवाद्यों का स्वरसंस्थान:

खुलातार मन्द्रमध्यम । पधनी । । सरेगमपधनी । । सरेंगं ।

इस स्वर प्रबन्ध में मन्द्र, मध्यम और तार सप्तक के तीनों अवधियों के स्वर आसानी से प्राप्त हो जाते हैं । इस स्वर प्रबन्ध में "मध्यम" स्वर का स्थान ठीक बीच में है । साथ ही साथ इसका सम्बन्ध मन्द्रसप्तक के मध्यम से है ।

इसमें मन्द्र मध्यम से प्रथम मूर्च्छना निषाद स्वर तक है जो मन्द्रव्यापी है । दूसरी मूर्च्छना षडज से निषाद तक मध्यव्यापी और षडज से तार गान्धार तक तारव्यापी मूर्च्छनाएं निकाली जा सकती हैं ।

इस प्रकार मध्यम स्वर Dominated Note यानी प्रधान स्वर हुआ जिससे मूर्च्छनाओं के स्वर मन्द्र, मध्य और तार अवधि तक मिलते हैं । अतएव मध्यम स्वर से स्थान की प्राप्ति होने के कारण ही मध्यम स्वर अविनाशी बताया गया है । आधुनिक तन्त्रवाद्यों में "मध्यम स्वर" से ही वाज का तार मिलाना तथा इसी स्वर का आधार लेकर मन्द्र, मध्य और तार सप्तक के स्वरों में संचार करना "मध्यम" की प्रधानता का द्योतक है । यही नहीं वायालन जैसे वाद्यों में भी पंचम स्वर की अपेक्षा मध्यम स्वर को आधार मानकर स्वर संचार करने में स्वरों की अवधि अधिक मिलती है ।

"मध्यम स्वर" की इसी प्रधानता को ध्यान में रखते हुए महर्षि भरत ने जातियों के सभी स्वरों में मध्यम स्वर का अविलोपी, आनाशी आदि की संज्ञा दी है जिसकी प्रथा आज भी प्रचलित है ।

लेकिन इस संदर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि आचार्य दत्तिल ने मध्यम

के अतिरिक्त पंचम और धैवत स्वर को भी प्रधान माना है[1] ।

सात स्वरों के बीच का स्वर मध्यम होने के कारण डॉ0 मुकुन्द लाट ने इस स्वर का अलोप केवल षडज ग्राम में माना है[2] ।

किन्तु मेरे मत से भरत - संगीत में मध्यम स्वर न केवल षडज ग्राम बल्कि मध्यम ग्राम का भी स्थायी स्वर था इसी कारण भरत ने इस स्वर को प्रवर या श्रेष्ठ मानते हुए इसके "नाश न हो" अर्थात् लोप न किया जाए इसके लिए "कदाचन" शब्द का प्रयोग किया है । जो स्थिति आज की राग-पद्धति में "षडज स्वर" की है वही स्थिति भरत संगीत में "मध्यम स्वर" की रही होगी ।

जातियों के दस लक्षण:

भरत ने जातियों के दस लक्षणों का विशद किन्तु सहैतुक विवरण दिया है इन्हीं दस लक्षणों के आधार पर जातियों का गायन किया जाता था - ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास, तार मन्द्र, अलपत्व, बहुत्व, षाडव और औडव[3] । प्रत्येक लक्षण का अपना प्रायोगिक महत्व था । आचार्य अभिनव गुप्त के मतानुसार

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 85 Dattila has also mentioned two other notes Pancham (पा) and Dhaivata (धा) as indispensable in Madhyam and Sadaj gramas respectively.
2. दत्तिलम् पृ0 - 85 We must also rember that the explanation of the centrality of Madhyam (मा) as given above apply only in Sadaj grama.
3. ना0शा0 28/66
   दशक जातिलक्षणम् ग्रहांशौ तारमन्द्रौ च न्यासोऽपन्यास एव च अलपत्वं च बहुत्वं च षाडवौडुविते तथा ।

जातियों का विशिष्ट "स्वर सन्निवेश" इन्हीं लक्षणों के प्रयोग पर निर्भर करता था[1] ।

भरत की दृष्टि में "जातियों ऋक्" यजु, और साम की भाँति वेद-सम्मत थी । भरत लिखते हैं जातियोऽष्टादशेत्येवं ब्रह्मणीभहितं पूरा[2] अर्थात् अठारह जातियाँ पूर्व ही ब्रह्मा द्वारा बताई गई है । अतएव ये अपने आप में प्राप्त थी[3] । इनके शास्त्रोक्त स्वरूप में मनमाना परिवर्तन अवांछनीय समझा जाता था इसलिए इन जातियों का गायन समस्त शास्त्रोक्त लक्षणों के साथ करने पर ही प्रभावोत्पादक रहता था । प्रत्येक लक्षण के स्वरूप तथा प्रयोग का विवरण भरत मतानुसार दिया जाता है ।

जातिगत लक्षण:

अंशस्वर - ग्रह-तार - मन्द्र न्यास - अपन्यास - अल्पत्व - बहुत्व षाडज-औडव ।

अंश स्वर:

अंश स्वर जातियों का वह स्वर है, जिस स्वर पर जाति का स्वरूप निर्भर करता है । अंश स्वर ग्रह स्वर भी कहलाता है, यह राग का स्थायी स्वर भी है । जिसमें राग का स्वरूप रहता है, जिससे राग का प्रारम्भ होता है और

---

1. ना0शा0 पृ0 - 43
   स्वरा एव विशिष्टसंनिवेशभाजो रक्तिमदृष्टाभ्युदयं च जनयन्तो जातिरत्युिक्ता।
2. ना0शा0 28/38
   जसतयोऽष्टादशेत्येवं ब्रह्मणाभिहितं पुरा ।
3. ना0शा0 पृ0 - 36
   ब्रह्मणेति आप्तागममस्यानन्यथाभावमाह ।

जो स्वर राग की मन्द्र और तारगति को निर्धारित करता है वह अंश स्वर है[1] । अर्थात् स्वरों के मन्द्रस्वरूप या अवधि का नियामक नेता या प्रदर्शक स्वर हो वह जातियों का अंश स्वर यानी Predominent Svara / भरत ने अंश स्वर को दस लक्षणों से युक्त मानकर उल्लेख किया है जिस स्वर का प्रयोग अधिक पाया जाता है, ग्रह अपन्यास, विन्यास, सन्यास एवं न्यास आदि के योग में जिसका पुनः-पुनः अनुवर्तन हो वह दस लक्षणों से युक्त अंश कहलाता है[2] । अभिनव गुप्त ने उल्लेख किया है जिस स्वर पर राग की रक्ति अर्थात् रंजकता निर्भर हो उसे अंश कहते हैं जिस प्रकार पुरूष शरीर में मस्तिष्क का स्थान प्रधान होता है उसी प्रकार जातियों के स्वरों में अंशस्वर प्रधान है[3] । डॉ0 मुकुन्द लाट ने भी अंश स्वर के दस लक्षणों का उल्लेख किया है[4] ।

जिस प्रकार आधुनिक राग-पद्धति में किसी भी राग का गायन करते हुए वादी स्वर को केन्द्र मानकर स्वरों का विस्तार किया जाता है तथा जिस स्वर पर राग का स्वरूप, समय और रंजकता निर्भर करती है उसे वादी स्वर कहा

---

1. ना0शा0 28/68
   तत्रांशो नाम-यस्मिन् भवति रागश्च सस्माच्चैव प्रवर्तते मन्द्रश्च मन्द्रश्च योऽत्यर्थं चोपलभ्यते ।

2. ना0शा0 पृ0 - 28/69
   अनेकस्वरसंयोगे योऽत्यर्थमुपलभ्यते
   अन्यश्च वलिनो यस्यसंवादी चानुवाद्यपि ।
   ग्रहापन्यासविन्याससंन्यास न्यासगोचरः
   अनुवृत्तश्च यस्येह सोऽशः स्याद्दशलक्षणः

3. ना0शा0 28 पृ0 - 44 यस्मिन् विद्यमाने रागो रक्तिर्जातिस्वरूपं च भवति शिरसीव पुरूषस्वरूपम् । एवं यमाश्रित्य स्थितः स्वरः प्रकर्षेण वर्तते।

4. ----- यश्च समस्त(4) द्ये स्वस्वरापेक्षया वाहुल्येन भात्ति ।

जाता है इसी कारण इस स्वर को राग का राजा कहा जाता है ठीक इसी अर्थ में भरतोक्त जातियों के अंश स्वर का प्रयोग विहित था । अंश स्वर के लिए डॉ0 मुकुन्द लाट ने आचार्य दत्तिल के मत का उल्लेख किया है[1] । इसी प्रकार आचार्य अभिनव गुप्त के शब्दों में जो स्वर बोलता हो, जिसका वादित्व यानी बहुलता के साथ उच्चारण होता हो जो स्वर जाति के तार, मन्द्र आदि की पूर्ण व्यवस्था करता हो वह अंश स्वर है[2] ।

ग्रह स्वर:

ग्रह स्वर से भरत का अभिप्राय उस स्वर से है जिससे जाति विशेष का आरम्भ किया जाए । आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं कि सब जातियों का सम्बन्धी ग्रह स्वर है[3] । अंश स्वर ही ग्रह स्वर भी हो सकता है । अंश स्वर चूँकि जातियों का महत्वपूर्ण स्वर होता है इसी कारण अंश स्वर ही समस्त जातियों का "ग्रह" स्वर भी माना गया है यथा - Amsa was the vadi, the predominent Note in a melodic structure.

---

1. दत्तिलम - पृ0 - 103 The amsa has 10 characteristics It is the svara on which raga (the Aesthetic Charma) depends and from which it is generated (1) it determinds the mandra (2) also the tara and mandra (3) it is the note most frequently heard: it deter minds (4) the graha (5) apanayas (6) vinayas (7) sannayas (8) Mayas (9) It is the note which the other follows. (10) Amsa was the vadi the predominent note.
2. ना0शा0 यत्र प्रयोगात्मनि काले वदते सएव स्फुत्वेन भासमान: शब्दायते वादित्वं बाहुल्येनोच्चारणमस्यास्तीति वदति च तारमन्द्र - व्यवस्थादीनि च लक्षणमत्रैव सूचितम् ।

अर्थात् समस्त जातियों का अंश स्वर ही "ग्रह" स्वर होते हैं गायन-वादन की प्रयोगावस्था में जो अंश स्वर है उसे ही "ग्रह" कहते हैं । गायन-वादन का ग्रहण यानी आरम्भ अंश स्वर से होने के कारण ही इसे ग्रह कहते हैं । इसी प्रकार ग्रह स्वर का अभिप्राय मतंग ने भी स्वीकार किया है "जात्यादि प्रयोगो गृह्यते येनासौ ग्रहः[1] । अर्थात् जातियों के गान-वादन या प्रयोग में जिसे आरम्भ में लिया जाय तो ऐसा (अंश) स्वर ग्रह होता है । इसी प्रकार "नाट्यशास्त्र" में ग्रहः स्वरः स इत्युक्तों यो गीतादौ समर्पितः" इस प्रकार अंश स्वर ही ग्रह स्वर कहलाता है । लेकिन भरतोक्त जातियों के स्वरूप को देखकर प्रतीत होता है कि अधिकांशतः शुद्ध जातियों में जो स्वर अंश है वहीं स्वर ग्रह कहलाता है । लेकिन विकृत जातियों में अनेक अंश स्वर होते हैं इसलिए इन स्वरों में किसी एक स्वर को ग्रह स्वर माना जाता है । डॉ0 मुकुन्द लाट लिखते हैं[2] ।

अभिप्राय यह है कि भरत की जातियों में अंश स्वर का स्थान सर्वाधिक विशिष्ट समझा गया है । इसी स्वर पर राग का स्वरूप निर्भर रहता है और

---

1. ना0शा0 28/67 अथ ग्रहाः ग्रहास्तु सर्वजातीनामंशक्त्परिकीर्तिताः यत्प्रवृत्तं भवेद्वयमंशो ग्रहविकल्पितः ।

2. दत्तिलम् - 104 The actual words of Bharat in this context are amsa and graha can act as alternative ---- this does not mean that the two terms synonymous for it is clear that as a function was graha was distinct from amsa through in practiage the same notes performed both the function.

   Bharat defines graha as the first note of a song a note with which any song begins.

यही स्वर किसी भी जाति का ग्रह स्वर भी होता है । आज भी भरत के जातिगत लक्षणों का प्रयोग राग-गायन में किया जाता है । अंश स्वर का वादी स्वर के रूप में और ग्रह स्वर राग के आरम्भक स्वर के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं । वैसे तो आधुनिक रागों का ग्रह स्वर या आरम्भक स्वर षडज है किन्तु कुछ राग ऐसे भी हैं जिनमें से (षडज) स्वर के अतिरिक्त अन्य स्वरों से राग का प्रारम्भ होता है जैसा राग यमन का आरम्भ मन्द्रनिषाद से होता है जैसे नी, रे, ग, इसी प्रकार मारवा राग का आरम्भ करते हुए निषाद का प्रयोग पहले किया जाता है । अर्थात् निषाद स्वर से आरम्भ करने पर मारवा राग का स्वरूप अधिक खिलता है अतएव मन्द्र निषाद राग मारवा का ग्रह स्वर है ।

तार गति और मन्द्र गति:

भरत की जातियों का गायन पूर्ण शास्त्रोक्त ढंग से किया जाता था । स्वरों का संचार करते समय तार स्थान (टीप) मन्द्र स्थान तक जाने की भी सीमा निर्धारित थी और यह सीमा "कंठातोद्य" की मर्यादा को देखते हुए रक्खी गई थी । डॉ0 मुकुन्द लाट लिखते हैं कि जातिगायन के माधुर्य को सुरक्षित रखते हुए तार सप्तक और मन्द्र सप्तकों में संचार करने का नियम था और यह नियम अंश स्वर (Pre dominent note) से निर्धारित किया जाता था[1] । इसी प्रकार मन्द्र सप्तक में स्वरों के संचार का शास्त्रोक्त नियम था । अतएव तार गति का अभिप्राय कंठ के अंश स्वर का तार स्थान तक जाना । इस विधान में अंश स्वर

---

1. दत्तिलम् पृ0 104 The general rule regarding the extent of the melodic movement in the tara octave was summed up in a formula are could move as high as the fifth from the amsa.

से चौथे, पाँचवे और सातवें स्वर तक स्वरों का संचार किया जा सकता है । इससे अधिक ऊँचा जाना जाति की melodic मर्यादा के विरूद्ध था[1] तार स्थान में अंश स्वर का सम्वादी ही तार सीमा थी । जैसे किसी जाति का अंश स्वर "गान्धार है तो इस" गान्धार से चौथा स्वर निषाद है और पाँचवा स्वर तार षडज तथा अंश स्वर गान्धार से सातवाँ स्वर तार गान्धार है । अतएव स्वर संचार करते समय मध्य सप्तक के गान्धार से तार सप्तक के गान्धार तक जाना अभीष्ट है । अतएव अंश स्वर को केन्द्र मानते हुए उसके सम्वादी स्वरों तक तार स्थान में जाना भरत निर्दिष्ट "तारयतिः" है जो हाति का लक्षण है ।

इसी प्रकार मन्द्र गति का भी लक्षण है । मन्द्र स्वरों में संचार करते समय मन्द्र स्वरों की गति तीन प्रकार से मानी गई है, यथा त्रिधा मन्द्रगतिः अंशपरा, न्यासपरा, अपन्यास परा चेति[2] ।

"मन्द्रस्त्वंशपरा नास्ति न्यासौ तु द्वौ व्यवस्थितौ गान्धारन्यासलिडगे तु दृष्टमार्षभसेवनम्[3]"

---

1. ना0शा0 28/70
   अंशात्तारगतिं विद्यादा चतुर्थस्वरादिह
   आ पन्चभात्पन्माद्वा नातः परमिहष्यते

2. ना0शा0 28/पृ0 - 46 त्रिधामन्द्रगतिः, अंशपरा, न्यासपरा, अपन्यास-परा चेति ।

3. ना0शा0 28/71 मन्द्रस्त्वंशपरो नास्ति न्यासौ तु द्वौ व्यवस्थितों गान्धारन्यासलिड तु दृष्टमार्षभसेवनम् ।

सात् स्वरों की मन्द्रगति "तीन स्वरों तक मानी गई है । अंश स्वर तक न्यास और अपन्यास तक । अर्थात् महर्षि भरत ने मन्द्र स्वरों का संचार करने का सूत्र बताया है कि मन्द्र सप्तक के स्वरों की बढ़त अंश स्वर तक न्यास स्वर तक और उससे आगे अपन्यास स्वरों तक की जानी चाहिये । क्योंकि भरत मन्द्र और तार व्यापी स्वरों की अवधि को समझते थे । स्वरों में विकर्षणा पैदा न हो इसीलिए उन्होंने मन्द्रगति के लिए अंशपरा - न्यासपरा और अपन्यासपरा[1] स्वरों का संकेत किया है । यदि कंठ का गुणधर्म इससे अधिक सीमा तक जा सकता है तो इसी क्रम से दूसरी बार भी अतीतार स्थान पर स्वरों का संचार करने की क्षमता होनी चाहिये अभिनव गुप्त ने स्पष्ट किया है कि जाति के रक्ति (रंजकता) को बनाते हुए स्वरों का संचार किया जाना चाहिये । अर्थात् कंठ को जितनी सीमा हो उसके अनुरूप तार और मन्द्र अवधि के स्वरों की बढ़त की जानी चाहिए[2] ।

न्यास स्वर:

अंश स्वर की भाँति न्यास स्वर जातियों का महत्वपूर्ण स्वर है । न्यास स्वर से जातियों का विकृत स्वरूप निर्मित होता है । अभिनव गुप्त के मतानुसार न्यास स्वर से जातियों का नामकरण किया जाता है[3] । यही नहीं न्यास स्वर से साधारण जाति पहचानी जाती है[4] ।

---

1. ना0शा0 पृ0 - 46 त्रिधा मन्द्रगतिः । अंशपरा, न्यासपरा, अपरन्यासपरा चेति ।
2. ना0शा0 पृ0-46 पूवोक्त में शलक्षण (च) न पर्यालोचितं (न) शिरस्य (ऋषभगान्धारयोः) धैवतनिषादावप्रयौज्यौ तयो रक्त्याभावे स्वरतानुपपक्तेः शक्त्यभावं त्वप्रयोत्तारि इत्यसदेतत् ।
3. दत्तिलम् - पृ0 - 105 The extent of movement in the lower octave also depended upon the Amsa.
4. ना0शा0 पृ0-37 तासां जातीनां मध्येऽपि याः शुद्धास्तासु नामकरी यो

अंग समाप्ति के लिए न्यास स्वर प्रयुक्त किया जाता है[1] । जिस प्रकार किसी राग को एक अंग की समाप्ति के लिए उस राग का स्वर विशेष होता है उसी प्रकार जाति के अंग समाप्ति के लिए न्यास स्वर का उपयोग किया जाता था अभिनव गुप्त के मत से न्यास का प्रयोग जाति रूपी शरीर की समाप्ति के लिए जिस स्वर का प्रयोग है वह न्यास स्वर है[2] । अर्थात् जातियों के विस्तार में कई अवान्तर भाग होते थे उन अवान्तर भाग की समाप्ति के लिए न्यास स्वर का प्रयोग था[3] । भरत ने न्यास स्वर के इक्कीसं भेदों का उल्लेख किया है[4] । एक ही स्वर कई जातियों में "न्यास हो सकता है और अवस्था भेद से एक जाति में कई न्यास स्वर भी हो सकते हैं । फलतः भरत मतानुसार न्यास स्वरों की संख्या जातियों के अनुसार निम्नवत् है -

	न्यास स्वर	जाति	संख्या
1.	षडज	षाडजी, षडजमध्यमा	2
2.	ऋषभ	आर्षभी	1
3.	गान्धार	गान्धारी रक्तगांधारी षडजकैशकी आन्ध्री कौशिकी नन्दयती	6

---

1. ना0शा0 पृ0 - 47
अंङगसमाप्तौ न्यासः
2. ना0शा0 पृ0 - 47 अस्यां जातिशरीरसमाप्तौ कर्तव्यतायां वा स्वराः सन्यासः तर्हि अस्यते प्रयोगे येनेति न्यासः ।
3. ना0शा0 पृ0 - 47 अगमध्यइति । अवान्तरसमाप्तावित्यर्थः ।
4. ना0शा0 अथ न्यास एकविंशतिसंख्याः ।

4.	मध्यम	मध्यमा, षडजमध्यमा षडजोदीच्यवती मध्यमोच्यदीनती गान्धारोदीच्यवती	5
5.	पंचम	पंचमी गान्धारेपंचमी कौशिकी कामरिवी	4
6.	धैवत	धैवती	1
7.	निषाद	कौशिकी निषाद	2

इस प्रकार सात शुद्ध और विकृत तथा संर्सगात् जाति के तीनों प्रकार में न्यास स्वर का प्रयोग किया जाता है । एक ही न्यास स्वर कई जातियों में हो सकता है जैसे पंचमी, गान्धार पंचमी कौशिकी और कार्मरिवी जातियों में एक ही स्वर पंचम न्यास का स्वर है । इससे अतिरिक्त षाडजी, आर्षभी आदि शुद्ध जातियों में अपने नाम के स्वर ही न्यास होते हैं जैसे नैषादी जाति का न्यास स्वर निषाद है ।

मुकुन्द लाट ने न्यास स्वर का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है न्यास स्वर पर जातियों की मधुरता निर्भर करती है[2] । अर्थात् जिस प्रकार आधुनिक राग-पद्धति में स्वरों की बढ़त करते समय वादी - सम्वादी के अतिरिक्त कुछ अन्य स्वर-विशेष पर न्यास करते हुए राग के स्वरूप को स्पष्ट किया जाता है जैसे राग जौनपुरी के वादी सम्वादी ध-ग हैं किन्तु इस राग के न्यास और अन्तरे की उठान के महत्वपूर्ण स्वर म तथा प भी है जिन्हें कोमा (,) के द्वारा लिखित रूप में

---

1. ना0शा0 पृ0 - 47 षट्यनाशत्संख्योऽपन्यासोऽड गमध्ये भवेत् ।
2. दत्तिलम् पृ0 - 107 Nayas was the note on which melody came to rest.

दर्शाया जाता है । उसी प्रकार भरत की जातियों में ग्रह अंश आदि स्वरों के अतिरिक्त न्यास स्वर भी जातियों के melodic structure के लिए उपयोगी स्वर था ।

अपन्यास स्वर:

ये वे स्वर थे जिनपर अंग की समाप्ति की जाती थी[1] । अर्थात् जाति के मुख्य अंगों की समाप्ति न्यास स्वर पर की जाती थी । अंगों के और अवान्तर भेद होते थे जिनकी समाप्ति पर अपन्यास स्वर प्रयुक्त किये जाते थे । जिनकी[2] संख्या भरत ने छप्पन बताई[3] है । अर्थात् जातियों के छोटे-छोटे और अंग होते थे उन पर अपन्यास स्वर समाप्ति का समझा जाता था । एक ही जाति में कई-कई स्वर अपन्यास के होने के कारण अपन्यास स्वरों की संख्या 56 थी । जैसे षाडजी जाति में ग-प स्वर अपन्यास के थे । डॉ0 मुकुन्द लाट ने अपन्यास के संबंध में लिखा है कि न्यास के साथ अपन्यास भी वह स्वर था जो जाति के छोटे-छोटे विदारी (खंडों) पर रूकने के लिए प्रयुक्त किया जाता था[4] ।

---

1. ना0शा0 पृ0-14 अक्षराणि सन्यास विन्यासावप्यङग मध्य एव
2. ना0शा0 पृ0 - 48 सन्यासः समीपभूतो न्यास इति ।
3. अंशस्य संवाद्यनुवारी वा कापि विदारीभावरूपस्य पदस्य पदान्ते विन्यस्यते तथा विन्यासः
4. दत्तिलम् पृ0 - 107 Nayas was the note on which a melody came to rest---Abhinava remarks Nayas as the svara on which the structure of yati finally comes to rest---Apanayas was a nayas vinthin a vidari. Vidaris were in short smallar units with in the musical whole in a melody.

इसे यो समझना चाहिये कि जातियों के शास्त्रोक्त स्वरूप की मधुरता बनाये रखने के लिए उनके अंग तथा अवान्तर अंगों की समाप्ति को दर्शन के लिए मुख्यतया न्याय स्वर था जिसका मूल अर्थ अंश समाप्ति का स्वर । न्यास की भाँति अपन्यास स्वर की समाप्ति का स्वर था किन्तु यह स्वर न्यास का ही एक दूसरा स्वरूप था जैसा भरत ने स्वयं कहा है तद्वदपन्यासो ह्यगंमध्ये अर्थात् मध्य अंग की समाप्ति पर जातियों में अपन्यास स्वर का प्रयोग किया जाता था । यही कारण है कि न्यास के स्वरों की संख्या भरत ने 21 तथा अपन्यास स्वरों की संख्या 56 बताई है इसके अतिरिक्त सन्यास और विन्यास स्वरों का प्रयोग भी भरत ने जातियों के मध्य अंगों की समाप्ति के लिए बताया है[1] । जिनकी संख्या भरत ने 14 बताई है । आचार्य अभिनव गुप्त ने न्यास से समीपभूत स्वर को सन्यास और पद के अन्त में प्रयुक्त होने वाले स्वर को विन्यास कहा है जिसे कुछ विद्वानों ने विदारी शब्द की संज्ञा दी है[2] ।

अभिप्राय यह है कि अपन्यास, सन्यास, विन्यास आदि स्वर न्यास के ही विविध प्रकार हैं जिनका प्रयोग जातियों के विविध स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए किया जाता था । भरत ने जितना न्यास स्वर और उसके अपन्यास स्वर का सूत्र रूप में निरूपण तथा संख्याओं का उल्लेख किया है उतना सन्यास और विन्यास स्वरों का नहीं । इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि भरत निर्दिष्ट एक-एक स्वर की प्रयोगत विशेषता थी, इसी कारण भरत ने जातियों के स्वरूप

---

1. ना0शा0 पृ0 - 47, 14 अक्षराणि सन्यासविन्यासावप्यङग ।

2. ना0शा0 47, अङगमध्य इति । अवान्तर समाप्तावित्यर्थ । .... ततस्तदा संन्यासः समीपभूतो न्यासः । अशंस्य संवाद्यनुवादी वाकापि विदारीभावरूपस्य पदस्य पदान्ते विन्यस्यते तदा विन्यासः ।

निरूपण में उनका नामोल्लेख किया है किन्तु न्यास स्वर के विविध अर्थ में अपन्यास, सन्यास और विन्यास स्वरों का अन्तर्भाव न्यास स्वर के अन्तर्गत किया है । किन्तु इन स्वरों का जातियों के विविध अंगों में महत्वपूर्ण योगदान था । डॉ0 मुकुन्द लाट ने इन स्वरों के लिए जातियों के " Smallar Unit के melodic notes " स्वर कहा[1] है ।

अलपत्व बहुत्वः

अलपत्व का अर्थ है, कमी के साथ बहुत्व का भाव है, अधिकता से। जिन स्वरों के प्रयोग राग में यथावसर कमी या अधिकता से किया जाय वे स्वर अलपत्व और बहुत्व के कहलाते हैं । डॉ0 लाट के अनुसार बहुत्व वे स्वर है जिनका पर्याप्त मात्रा में प्रयोग किया जाए, ऐसे स्वर वादी और सम्वादी[2] हैं । कल्लिनाथ ने बहुत्व के स्वरों को अंश का पर्याय कहा है[3] अर्थात् अंश स्वर क्यों कि राग या जाति का Importent स्वर होता है अतएव अंश स्वर भी बहुत्व का होता है । बहुत्व दो प्रकार का होता है । अभ्यास द्वारा - अलंघन द्वारा[4] ।

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 10
2. दत्तिलम् पृ0 - 106 The notes which obviously had an ample use in a yati, were its vadi and samvadi.
3. " " Thus Kallinath explains 'Paryay amsa' The ample of a note could be effected in two ways by alonghntna (अलंघन) by Abhyas (अभ्यास)
4. ना0शा0 58 पृ0 - 74 बहुत्वे वलवदवलता विनिश्चयादेव ।

अर्थात् जिस स्वर का वार-वार अभ्यास किया जाए । यानी स्वर विशेष का पूर्णतः स्पर्श करते हुए उसकी बार-बार आवृत्ति करना अभ्यास बहुत्व है (the frequent repetitions) राग या जाति में स्वर विशेष को बिना छोड़े हुए प्रयोग किया जाना अलंघन बहुत्व है । बहुत्व स्वर में अधिकांशतः राग या जाति के अंश न्यास, वादी, सम्वादी आदि स्वर होते हैं । इसके अतिरिक्त भी बहुत्व के स्वर राग में परिलक्षित होते हैं । जैसे राग जौनपुरी का वादी-सम्वादी ध और ग स्वर है किन्तु म और प स्वर राग के बहुत्व स्वर है ।

अलपत्व स्वर बहुत्व स्वरों के ठीक विपरीत होते हैं[1] । 'Alpatana' was just the reverse of 'bahutana' अर्थात् बहुत्व का विरोधी अलपत्व है जिन स्वरों का प्रयोग कमी के साथ किया जाए ये अलपत्व के स्वर होते हैं। अलपत्व भी दो प्रकार का होता है । लंघन अलपत्व और अनभ्यास अलपत्व[3] -

कुछ स्वर राग विशेष को छोड़कर कभी - कभी प्रयुक्त किये जाने के कारण लंधन अलपत्व स्वर कहलाते हैं जैसे राग भीमपलासी के आरोह में धैवत स्वर लंघन अलपत्व का उदाहरण है । इसी प्रकार जिस स्वर का अनावृत्ति प्रयोग किया जाए यानी स्वर का एक से अधिक बार प्रयोग न करना ही "अनभ्यास" अलपत्व है । अलपत्व स्वर राग के "लोप्यस्वर" है अधिकाशतः अलपत्व स्वर विवादी होते हैं । इन स्वरों से जाति के षाडवत्व और औडवत्व प्रकार बनते हैं[4]। आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं "लोप्यस्वरपूर्णावस्था" या यदा प्रयुज्यते तदा तस्य

---

1. ना0शा0 पृ0 - 49 अलपत्वं तद्वद्बहुत्वमिति ।
2. दत्तिलम् डॉ0 लाट पृ0 - 106
3. ना0शा0 28/48 द्विविधिमलपत्वं लधनादनभ्यासाच्च ।
4. ना0शा0 पृ0 - 48 तत्र षाडवौडितव काराणाभनशानां च ।

बाहुल्येन लघ्रनम् अर्थात् लोप्यस्वर या अलपत्व स्वर का जब बहुलता से लधन किया जाता है या स्वर को छोड़ दिया जाए तो वह लंघन अलपत्व कहलाता है इसीलिए लघन अलपत्व या लोप्य स्वर जातियों के षाडव और औडवित प्रकारों के कारण माने गये हैं ।

इस प्रकार अलपत्व और बहुत्व स्वरों के प्रयोग के कारण जातियों को एक स्वरूप मिलता है, स्वरों के वर्जित और अवर्जित स्वर ही पर्याप्त नहीं होते, भरत निर्दिष्ट अलपत्व और बहुत्व के लंघन और अभ्यास आदि जातियों के अत्यावश्यक लक्षण हैं ।

षाडव औडव:

षाडव और औडव से महर्षि का अभिप्राय जातियों में प्रयुक्त किये गये स्वरों की संख्या । हम इसे आधुनिक संगीत की भाषा में "राग की जाति" कह सकते हैं । "षट्स्वरं" षाडवितं है अर्थात् जातिगत नियम से छः स्वरों के प्रयुक्त किये जाने पर जाति "षटस्वरा" होती है और उसी प्रकार पंचस्वर होने पर जाति का स्वरूप औडव यानी पंचस्वरा होती है जैसा डॉ0 लाट ने स्पष्ट किया है । "Jaties were sung to hexatonic or pentatonic structure also.[1]

जातियों के पंचस्वर और षट्स्वर स्वरूप प्रदान करने के लिए महर्षि भरत के विशिष्ट नियम हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है । अर्थात् न्यास, अपन्यास, अंश इत्यादि स्वरों के वर्ज्य अवर्ज्य करने पर जातियों के षाडव और औडव स्वरूप बनते हैं । अंश स्वर के प्रभाव में जातियों के षाडव स्वरूप के लिए भरत ने लिखा है "षटस्वर" अर्थात् जातियों की षाडवित दशा चौदह प्रकार की है जिनके सैतालीस

---

1. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 105

भेदों का विधान है[1] । पंडित शारंगदेव ने जातियों के षाडवित स्वरूप को स्पष्ट किया है । षड का अर्थ है छः और अत् का अर्थ है रक्षण "अर्थात् षड् + अव= षाडव; जिसका भाव है, जाति या राग आदि के षष्ट्स्वरों में व्यक्त होने के कारण "षडस्वर गीत" षाडव कहलाते हैं[2] । जिस प्रकार प्रचलित संगीत में एक-एक स्वरवर्जित करने पर सम्पूर्ण यानी सप्त स्वर राग का षाडव स्वरूप बनता है ।

भरत ने षाडवित प्रकार सैतालीस बताए हैं "सप्तचत्वारिंशत" । चार जातियाँ नित्य सम्पूर्ण है "चत्स्त्रो नित्यपूर्णा इति"[3] भरत ने स्वयं चार जातियाँ नित्य सप्तस्वरा यानी सम्पूर्ण होती है[4] । इनके अतिरिक्त चौदह जातियों का षाडवीकरण होता है । आचार्य बृहस्पति के मत से इन चौदह जातियों के समस्त अंश स्वरों का योग 54 होता है । षाडद्वेषी स्वर सात हैं । यदि 54 स्वरों में से सात स्वरों को घटा दिया जाए तो षाडवित प्रकार सैतालिस होता है[5] । अभिप्राय यह है कि महर्षि भरत द्वारा निर्दिष्ट विशिष्ट स्वरों की "लोप विधि" से जातियों के षाडव और औडव प्रकारों का निर्माण होता है ।

---

1. ना0शा0 28/49 पृ0 षट्स्वरं षाडवितं (वं) चतुर्दशविध सप्तचत्वारिशत्प्रकारं पूर्वोक्तविधानं ।
2. संगीत रत्नाकर - पंडित शारगदेव अ0सं0 पृ0 - 101
   षडवन्ति प्रयोग यं स्वरास्तै षाडवामता
   षट्स्वरं तेषु जातत्वाद गीते षाडवमुच्यते ।
3. ना0शा0 अभिनव गुप्त पृ0 - 50 चतस्त्रो नित्यपूर्ण इति ।
4. ना0शा0 28/49 चतस्त्र ज्ञेया स्मृता स्वरा बुधै ।
5. भरत का संगीत सिद्धान्त - आचार्य बृहस्पति पृ0

औडव:

इसी प्रकार औडव या औडवित का अभिप्राय पंचस्वरा जातियों[1] । जिस प्रकार प्रचलित संगीत में दो स्वरों को वर्जित करने पर राग का स्वरूप औडव हो जाता है उसी प्रकार जाति के सम्वादात्मक स्वरूप को ध्यान में रखते हुए जाति के औडव स्वरूप बनाए जाते थे । पंडित शारंगदेव ने "पंचस्वरा" जातियों के स्वरूप के सम्बन्ध में लिखा है औडव - उड् का अभिप्राय नक्षत्र है और "वा" का अर्थ गमन करने वाला नक्षत्र जिसमें गमन करें व "उडव" कहलाता है। पंचतत्व पृथ्वी - जल वायु - तेज और आकाश । इसमें आकाश का स्थान पाँचवा है । अतएव पाँचवी संख्या औडवी कहलाती है[2] ।

सात स्वरों में नियमानुसारदो स्वरों का लोप होने पर अवशिष्ट पाँच स्वर औडव कहलाते हैं । सम्पूर्ण अवस्था को औडव अवस्था में परिणत करना औडवीकरण या औडवित है । आचार्य भरत ने औडवित दस प्रकार के माने हैं[3] । लेकिन औडव गीत तीस प्रकार की भी होती हैं । जिनके लक्षण महर्षि भरत ने जातियों के षाडवित औडवित प्रसंग में दिये हैं ।

भरत ने दस औडव जातियों में ही औडव तीस प्रकार होते हैं[4] । आचार्य अभिनव गुप्त ने भरतोक्त इस सूत्र का स्पष्टीकरण किया है - दस जातियों

---

1. ना0शा0 28/पृ0 - 50 पंचस्वरमौडुवितं विज्ञेयं ।
2. संगीत रत्नाकर पंडित शारंगदेव स्वराध्याय पृ0 - 192
   वान्ति यान्त्युऽवोऽत्रेति व्योमोवतमुडव बुधैः
   पद्यं तच्च भूतेषु पन्चसंख्यातदुद्भवा
   औडवी सडिस्त येषां च स्वरूस्ते त्वौडुवा मताः
   ते सन्जाता यत्र गाते बदंडुवितमुच्यते, तत्सम्बन्धादौडवं च पन्चस्वरामिदं
3. ना0शा0 28/76 पन्चस्वरमौडुवितं विज्ञेयं ।

में तीस प्रकार होते हैं .... औडवित जातियों के अंश स्वर 42 होते हैं इनमें 12 स्वरों को निकाल देने पर अंश स्वर तीस बचते हैं इन तीस स्वरों से निर्मित जातियों के तीस प्रकार होते हैं ।

इस संदर्भ को आचार्य ब्रह्मरचित ने स्पष्ट किया है, दस औडवित जातियों के अंश स्वरों का योग बयालीस होता है इनमें 12 औडद्वेषी स्वरों की संख्या घटा देने पर वे अंश स्वर तीस बचते हैं जिससे जातियों के औडवित तीस प्रकार बनते हैं[1] । डॉ0 मुकुन्द लाट इस संबंध में लिखते हैं यद्यपि भरत ने अंश स्वरों की संख्या का उल्लेख नहीं किया किन्तु संकेत दिया कि अंश स्वरों के प्रयोग से जाति के षाडव और औडव स्वरूप बनते हैं[2] ।

दूसरा तत्व यह था कि दस लक्षणों के प्रयोग से जातियों के अनेक प्रकारों का निर्माण किया जाता था । जैसा डॉ0 मुमुन्द लाट लिखते हैं " Endless such permulations and combinations were possible and these gave rise to a list of forms.[3]

भरत के परवर्ती विद्वान पंडित शारंगदेव ने भरत प्रोक्त जातियों के दस लक्षणों के अतिरिक्त अन्तमार्ग, सन्यास और विन्यास, इन तीन लक्षणों का भी उल्लेख किया है । यथा -

---

1. भरत का संगीत सिद्धान्त आचार्य व्रह्मस्वीत पृ0 - 86
2. दत्तिलम् पृ0 - 123 Bharat does not give aggregates of the number of amsa permitting sadana and andana though he gives indication.
3. दत्तिलम् पृ0 - 122

1. **अन्तर्मार्ग या अन्तर्मार्गी - 2:**

इनके अनुसार ये वे स्वर होते हैं जिनका प्रयोग न्यास, अपन्यास, विन्यास ग्रह और अंश स्वरों के साथ बीच-बीच में विचित्रता उत्पन्न करने के लिए किया जाता था[1] । ये स्वर अल्पमात्रा में कहीं अनभ्यास से और कहीं लंघन से जातियों में किया जाता था "अन्तरमार्ग" का प्रयोग अधिकतर विकृत जातियों में किया जाता था[2] ।

2. **सन्यास:**

सन्यास वे स्वर है । जिनका प्रयोग गीत के प्रथम विदारी या मात्रान की समाप्ति पर किया जाता था । अर्थात् गीत के प्रथम खण्ड को समाप्त करने वाला अंश का सम्वादी या अनुवादी स्वर सन्यास कहलाता है[3] ।

3. **विन्यास:**

जो स्वर गीत के खण्डरूप पदों अर्थात् शब्दों के अन्त में प्रयुक्त हो वह विन्यास स्वर है । पंडित शारंगदेव निर्दिष्ट अन्तरमार्ग, सन्यास, विन्यास आदि स्वर भरत निर्दिष्ट न्यास के विधि स्वरूप हैं जिनकी प्रायोगिक अपन्यास, सन्यास

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 109 Antar marg was the factor which manifested a yati. Antarmarg depended upon alptana and bhutana. It was rendered by emphasising the amsa the anuvadi and other streng notes and placing and arranging weak notes.

2. संगीत रत्नाकर "पंडित शारंगदेव स्वरा 199
कृता सान्तरमार्गः स्यात्प्रयोगेषु विकृताजातिषु"

3. संगीतरत्नाकर - 189 अंशाविवादी गीतस्याद्यविदारी समाप्तिकृत ।

और विन्यास की भाँति है । आचार्य दत्तिल के मत से ये विवादी नहीं है, अपितु ये स्वर अंश और न्यास को मदद करते हैं[1] ।

इस प्रकार भरत-काल में "जातिगायन" तत्कालीन शास्त्रीय संगीत की महत्वपूर्ण पद्धति थी । जिनमें ग्रह, अंश, न्यास आदि का शास्त्रोक्त प्रयोग था । अतएव इन जातियों में मनमाना परिवर्तन नहीं किया जा सकता था ।

पंडित शारगदेव ने जातियों के महत्व के सम्बन्ध में उल्लेख किया है कि जातियाँ ब्रह्हत्या के पाप से भी मुक्ति दिलाने वाली मानी गई हैं जिस प्रकार ऋक, यर्जु और साम में परिवर्तन नहीं किया जा सकता उसी प्रकार वेद सम्मत जातियों में भी मनमाना परिवर्तन असम्भव तथा अवांछनीय समझा जाता था[2] । भरत "रागों" से भी परिचित थे । नाट्यशास्त्र के विभिन्न संस्करणों में भरत निर्दिष्ट सात शुद्ध रागों का उल्लेख मिलता है । यथा मध्यमग्राम राग, षडजग्राम, साधीरत्न पंचम, कौशिक, षाडव और कौशिक मध्यम । इन सात रागों का प्रयोग नाट्य के मुख प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और संहार आदि में किया जाता था ।

अनुमान लगाया जा सकता है कि भरत काल में रागों का भी प्रचलन रहा होगा किन्तु इनके नियमों और सिद्धान्तों में शिथिलता रहने के कारण रागों

---

1. दत्तिलम् - 109 Dattila defines sanays as the note which was not a vivadi of the amsa and which served as the final note (nayas) in the vidari.

2. संगीत रत्नाकर स्वरा 263
अपि ब्रह्मणा पापज्जातयः प्रप्रन्त्यम
ऋचो यजूषि सामानि क्रियन्ते नान्यथा यथा
तथा सामसमुद्भूता जातयो वेदसंम्मिताः ।

का प्रयोग शास्त्रोक्त संगीत से अलग लोक संगीत में किया जाता होगा । यही कारण है कि भरत ने नाट्य के विभिन्न अवसरों के लिए सात शुद्ध रागों का उल्लेख किया है - किन्तु तत्कालीन शास्त्रोक्त संगीत के स्वरूप को व्यक्त करने वाली जातियों को मान्यता दी है । जिसका गायन करते समय जातिगत दस लक्षणों का प्रयोग करना आवश्यक है ।

यद्यपि शुद्ध राग और जातियों आदि का उद्गम स्थान वैदिक कालीन संगीत की लोक धुने थीं । अतएव गेयता की दृष्टि से कुछ लक्षणों में समानता थी। किन्तु आवश्यक संस्कार और परिष्कार के कारण जातियों को तत्कालीन शास्त्रीय संगीत में उच्च स्थान प्राप्त था बल्कि "जातिगायन" उस समय का pure classical था । भरत निर्दिष्ट शुद्ध राग ही मतंग के काल में ग्राम राग कहलाये जिनका उल्लेख आचार्य बृहस्पति ने "संगीत चिन्तामणि" में किया है[1] ।

मतंग काल में भरतोक्त जातियों की सीमा में संकोच होने लगा और ग्राम राग, जाति राग और आधुनिक राग - पद्धति का विकास हुआ शनैः शनैः जाति गायन और ग्राम राग भी समाप्त हो गये और राग - गायन की परम्परा विकसित हो गई । तद्वत् जातिगत लक्षणों मे भी शिथिलता आने लगी ।

किन्तु भरतोक्त जातिगायन की परम्परा **कुछ** सीमा **तक** राग-पद्धति में इस अर्थ मे सुरक्षित हुई, **क्यों** कि जातियों के लक्षणों की **संज्ञा** में किंचित **परिवर्तन** हुआ फिर भी अधिकांश जातिगत लक्षणों में परिवर्तन न तो भरत के परवर्ती मतंग या शारंगदेव के काल में हुआ और न मध्यकाल और न आधुनिक राग-पद्धति की परम्परा में ।

---

1. संगीत चिन्तामणि पृ0 - बृहद्देशी. में उन सातों शुद्ध ग्राम रागों के प्रस्तार भी में मिलते हैं । जिनकी चर्चा नाट्यशास्त्र में की गई है ।

इस प्रकार जातियाँ भरत संगीत की शास्त्रोक्तरीति से गाये जाने वाला संगीत था । "रस प्रतीति" इन जातियों की विशिष्टता थी अर्थात् जातिगत जितने भी लक्षणों का भरत ने उल्लेख किया है उन सभी का प्रयोग जातियों के melodic structure के निमित्त किया जाता था, यानी भरत - संगीत के स्वरों में सम्वादतत्व का सर्वाधिक महत्व था । भरत का यह अकाट्यसूत्र है "न हिरसाद्रृत कश्चिदर्थ प्रवत्तते" अर्थात् बिना रस-ज्ञान के कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । इसीलिए उन्होंने "सम्वादतत्व" या "रस प्रतीति" को महत्व दिया और तद्नुसार जातियों के गायन के लिए सिद्धान्तों का निर्माण किया । शास्त्रीय संगीत होने के नाते जातियों के नियमों में पूर्ण कठोरता और अनुशासन था तथा इन जातियों का प्रयोग नाट्य के विविध प्रसंगों में किया जाता था किन्तु जहाँ तक संगीत की शास्त्रीयता का सम्बन्ध है संगीत की समस्त सम्भावनाओं की आपूर्ति जातियाँ से की जा सकती है ।

अतएव "सप्त च स्वरा" द्वाविंशति श्रुतय और ग्राम, मूर्च्छना तथा जातिगत लक्षणों से युक्त भरत–निर्दिष्ट गान्धर्व समस्त संगीत की रागदारी का मूलभूत (fundamental rules) सिद्धान्त है जिनके प्रयोग का अभ्यास किया जाना नितान्त आवश्यक है । आज विद्यालय और विश्वविद्यालय में संगीत की सामूहिक शिक्षा का प्रचलन है जिसमें संगीत को एक विषय के रूप में मान्यता दी गई है अतएव संगीत के प्रचलित स्वरूप में भरतोक्त जातिगत दस लक्षणों की उतनी मान्यता नहीं देखी जाती, कारण यह है कि विषय के रूप में संगीत संकुचित हो जाता है । यही कारण है कि आज का प्रचलित संगीत वादी, सम्वादी, विवादी अलपत्व, बहुत्व तक ही सीमित रह गया है । और इसलिए भरतोक्त सूत्र आज के विद्यार्थियों के लिए अबोध है ।

आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में भरतोक्त जातिगत लक्षण:

आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में भरतोक्त जातिगत लक्षणों की विवेचना

करने से पूर्व प्रचलित संगीत के स्वरूप पर दृष्टिपात करना होगा क्यों कि आज संगीत का विकास दो प्रकार से दिखाई देता है -

1. विद्यालय और विश्वविद्यालय में संगीत का सामूहिक शिक्षण, जिसका मूल उद्देश्य संगीत को एक विषय (Subject) के रूप में मान्यता देना ।

2. दूसरा संगीत को एक कला के रूप में प्रतिष्ठित करके उसके रागदारी स्वरूप का स्वतन्त्र विकास ।

संगीत एक कला है, melodic structure ही इसका शाश्वत स्वरूप है अतएव चाहे भरतनिर्दिष्ट गान्धर्व हो और चाहे आज का राग - संगीत हो जब तक इसमें रूहानी जागृति नहीं है तब तक इसका प्रभावी रूप वन ही नहीं सकता है । इसी कारण भरत ने "सम्वाद तत्व" को ध्यान में रखते हुए "जाति" के दस लक्षणों का सविस्तार विवेचन किया है जिसमें एक - एक स्वर के लगाव और महत्व को दर्शाया गया है । (लेकिन आज संगीत को एक विषय) के रूप में लेकर चलने वाली विद्यालय और विश्वविद्यालयीन संगीत की सामूहिक शिक्षा में भरतोक्त जातिगत लक्षण केवल वादी-सम्वादी, अनुवादी, विवादी वहुत्व और अलपत्व के रूप में सिमिट जाते हैं :-

किन्तु यदि हम आज भी उच्च स्तरीय रागदारी के परिप्रेक्ष्य में भरतोक्त जातिगत लक्षणों की विवेचना करते हैं, तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि आज की राग-पद्धति का मूल स्त्रोत भरतोक्त जातियों में निहित है, जातिगत लक्षणों से ही आजतक "रागदारी" को शास्त्रोक्त "आकृति" मिली है । यही नहीं मतंग काल से लेकर आजतक सात स्वर वाले "राग" को "जन चित्त - रंजक ध्वनि" विशेष के रूप में जो शाश्वत प्राण-प्रतिष्ठा मिली उसके मूल तत्व भरत "निर्दिष्ट" जातियाँ ही थी। इसीलिए के. वासुदेव शास्त्री ने "रागों की जननी जातियों" को माना है[1] । आज भी

संगीत के ऐसे कलाकार हैं जिनकी गायकी में हमें सांगीतिक वही अभिव्यक्तियाँ अनुभूत होती है । जिनका विवरण "नाट्यशास्त्र" में किया गया है, हांलाकि आज इनकी संख्या कम है, फिर भी आज की राग-पद्धति में भरतोक्त जातिगत लक्षणों का प्रयोग है, कुछ लक्षणों की संज्ञाओं में परिवर्तन अवश्य हुआ है पर जहाँ तक संगीत में सम्वाद तत्व या melodic structure की बात आती है भरत के जातिगत लक्षणों से ही "रागदारी" का जन्म हुआ है । क्यों कि -

1. "जाति" की भाँति राग-गायन भी विशिष्ट ध्वनियों की एक रचना है जिसका स्वरूप भरत निर्दिष्ट स्वर-और वर्ण के सन्निवेश से बना है "राग" जिसकी आत्मा है तथा जिसका मूल उद्देश्य जातियों की भाँति रसाश्रित है ।[1]

2. भरतोक्त जातियों के जितने भी लक्षण या आवश्यक तत्व है "ग्रहांशो" तारमान्द्रो उन सभी का प्रयोग आधुनिक "राग-पद्धति" में निहित है । भरत के मतानुसार जाति के प्रत्येक लक्षण का अपना अलग-अलग अस्तित्व है जिस स्वर से "जाति" आरम्भ की जाती है वह ग्रह स्वर है, जो स्वर राग का नेता, नियामक वह अंश स्वर है । यहाँ पर भरत ने एक ही स्वर में दो लक्षणों का अन्तरभाव करके स्पष्ट किया है कि बहुत सी जातियाँ या राग ऐसे है जिनमें एक ही स्वर राग का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए "ग्रह और अंश" इन दोनों की हैसियत से प्रयुक्त किये जाते हैं । आज की राग-पद्धति में "षडज स्वर" मूल स्वर है जिसके वर्ज्य करने का आज विधान नहीं है फिर भी ऐसे रागों का प्रचलन है जिनमें "षडज" स्वर की उपेक्षा की जाती है । उदाहरणार्थ राग मारवा का स्वरूप ऋषभ स्वर पर आधारित है । इस राग में मन्द्र निषाद और ऋषभ स्वर ऐसे हैं जो ग्रह,

---

1. दत्तिलम् - पृ0 - 124 In these hybrid forms much intermingling occurs between a variety of ornamentation for the sake of creating pleasing effect.

अंश और न्यास आदि की भाँति प्रयुक्त किये जाते हैं । इस राग में षडज स्वर की अपेक्षा मन्द्र निषाद से "अलाप" आरम्भ किया जाता है, ऋषभ स्वर राग मारवा के स्वर विस्तार का केन्द्र बिन्दु है अर्थात् राग के पूर्वांग का स्वरूप ऋषभ स्वर पर आधारित है । इस स्वर के बहुत प्रयोग के कारण ऋषभ स्वर इस राग का अंश स्वर भी है और न्यास स्वर भी । "षडज स्वर" इस राग में neglected है । अतएव मारवा राग को सही रूप में मूर्त्तता प्रदान करने के लिए भरतोक्त जातिगत लक्षण स्पष्ट दिखाई देते हैं ।

3. कहा जाता है कि आज का संगीत शुद्ध और विकृत 12 स्वरों की इकाइयों पर खड़ा है जिसमें "षडज" स्वर को अचलत्व प्रदान करते हुए उसे प्रत्येक राग का अलोपी (प्रधान) स्वर माना जाता है । इसी कारण सभी रागों का ग्रह यानी आरम्भक स्वर षडज है । अन्य स्वरों की "तारता" भी इसी स्वर से निश्चित की जाती है । अतएव अधिकांश रागों का आरम्भ षडज स्वर से किया जाता है लेकिन आज भी अनेक राग ऐसे हैं जिनमें इस नियम की शिथिलता है और षडज स्वर से राग का आरम्भ न करके (अन्य स्वर) से किया जाता है जो भरतोक्त ग्रहस्वर का वोधक है । जैसे राग यमन, पूरिया, पूरियाधनाश्री, मारवा, पूरिया । इन आधुनिक कहे जाने वाले रागों में जब तक मन्द्र निषाद से स्वर विस्तार का आरम्भ न किया जाए तब तक रागों की आकृति स्पष्ट नहीं होती । कभी-कभी बिना "षडज" के स्वर विस्तार से राग प्रत्यक्ष हो जाता है जैसे राग कल्याण, नीरेग - रेमेग, परे, गरे, नीरेस । इस प्रकार "षडज स्वर" यद्यपि आज के संगीत स्वरों का मूल है फिर भी अनेक रागों में "षडजस्वर" की उपेक्षा इस तथ्य का प्रमाण है कि आज भी रागदारी में भरत निर्दिष्ट नियमों का पालन स्वयमेव हो जाता है जिसमें जातियों के melodic structure को देखते हुए सभी स्वरों का लोप हो सकता है । "सर्वस्वराणां नाशस्तु विहितस्त्वथ जातिषु"[1] इसी लक्षण के आधार पर पूरिया,

---

1. ना0शा0 पृ0 - 42 28/64, सर्वस्वाराणां नाशस्तु विहितस्त्वथ जातिषु।

मारवा आदि राग ऐसे हैं जिनमें "षडज स्वर का अचलत्व नहीं रह पाता । अतएव रागदारी का मूल स्त्रोत भरत-निर्दिष्ट जातियाँ ही हैं ।

4. अंश स्वर जातियों का प्राणंभूत स्वर है "यस्मिन्वसतिरागास्तु यस्माच्चैव प्रवर्त्तते"[1] जिस स्वर में राग का स्वरूप निहित हो जिससे राग प्रारम्भ किए जाएं "अंश स्वर" कहलाता है । यही स्वर राग का नेता और नियामक है तथा अन्य स्वरों द्वारा परिवेष्टित अंश स्वर के आश्रित सम्वादी अनुवादी स्वर भी हैं । वादी स्वर आज "अंशस्वर" की पूर्ति करता है "वदति इति वादी" अर्थात् जो स्वर राग के स्वरूप को बताये अर्थात् जिस पर राग का स्वरूप निर्भर हो वादी स्वर कहलाता है । वादी स्वर ही से दो समान स्वर वाले रागों को अलग करता है जैसे मारवा-पूरिया, देशकार - भूपाली, रागों की ये जोड़ियाँ ऐसी है जिनमें समान स्वरों का प्रयोग होता है किन्तु वादी स्वर के प्रयोग से इन रागों के स्वरूप, चलन और राग-गायन में पूर्णतः भिन्नता आ जाती है और प्रत्येक राग की अपनी अलग पहचान बन जाती है । वादी स्वर को केन्द्र मानकर रागों का विस्तार किया जाता है । अतएव आधुनिक वादी स्वर भरत–निर्दिष्ट अंश का पर्याय कहा जा सकता है बल्कि आधुनिक "वादी स्वर" में भरत के अंश और वादी दोनों स्वरों का अन्तरभाव हो जाता है ।

5. "न्यास, अपन्यास, सन्यास, विन्यास" आदि स्वरों के उल्लेख से भरत ने स्पष्ट किया है कि "जाति विशेष के वे कौन-कौन से स्थल हैं, जिन पर रूकने या विश्रान्ति करने से जाति का स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जाता है । आज भी इन स्वरों का प्रयोग राग-पद्धति में होता है, यद्यपि इनके अलग-अलग अर्थों का स्पष्टीकरण आज कोई भी नहीं कर पाता किन्तु जहाँ तक उच्च श्रेणी से अभिप्राय

---

1. ना0शा0 पृ0 - 44, 28/68 यस्मिन् भवति रागश्च यस्माच्चैव प्रवर्तते।

रूहात्मक गायकी (प्रभावोत्पादक गायकी) की रागदारी से है, उसमें भरतोक्त न्यास और उसके विविध प्रकारों का प्रयोग स्वयमेव हो जाता है । रागों को मूर्त्त करने, उनकी रंजकता बनाये रखने के लिए कुछ स्वरों पर ठहराव करना या एक-एक की बढ़त करना आवश्यक है । भरत ने स्वरों की इन्हीं प्रक्रियाओं को न्यास, अपन्यास आदि स्वर-संज्ञा देकर उनके महत्व को दर्शाया है । क्योंकि कुछ जातियों और रागों का अस्तित्व ही ठहराव के इस नियम पर टिका हुआ है, कितना ठहरना, कहाँ ठहरना आदि नियम ही किसी राग के विशेष स्वर होते हैं । "न्यास को आधुनिक संगीत की भाषा में विश्रान्ति या कोमा कहा जाता है जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट का भी कथन है[1] । जिसका मूल उद्देश्य राग की रंजकता (Melody) को व्यक्त करने वाले स्थलीय स्वर ।

आग समान स्वर वाले या बहुत से ऐसे मिश्रित राग है जिनकी पहचान विश्रान्ति के स्वरों द्वारा की जाती है । अतएव आज यद्यपि संगीत का विद्यार्थी न्यास, अपन्यास, सन्यास विन्यास आदि के सूक्ष्म अन्तर को न समझ पाता हो पर व्यवहारिक रूप से इन लक्षणों का प्रयोग "रागदारी" संगीत का प्राण है ।

6. भरत–निर्दिष्ट "तार-मन्द्र गति"[2] का प्रयोग राग–पद्धति के आलापों में किया जाता है । यह स्वाभाविक है कि त्रिस्थानीय स्वरों के प्रयोग का यह

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 100 Nayas in a yati was its final note and antarmarga was its characteristic melodic movement (What in Hindustani music is known as the calana of a raga.

2. ना0शा0 28/पृ0 - 45 तारसप्तकनिविष्टाः किं सर्वे स्वराः प्रयोज्याः। .... तत्र यदा षड्जोडशो भवति तदा तारसप्तक (कं) रिगम(प) इत्येतत्पर्यन्तं ग्राह्यं शक्तिरस्ति । न तु ततः परं शक्ति योगेऽपि ।

नियम मानवीय शरीरस्थ अंगों से सम्बन्ध रखता है । मध्य स्थानीय या मध्य सप्तक के स्वरों का गायन स्वाभाविक और सहज होता है किन्तु मन्द्र और तार स्थान व्यापी स्वरों का प्रभाव भी भिन्न-भिन्न होता है तद्नुसार रागों के चलन तथा स्वरूप और समय का भी स्पष्टीकरण होता है । इस संदर्भ में भी भरत ने "सम्वाद तत्व" का नियम लागू किया है, जिससे जातियों के स्वरों में विकर्षणा पैदा न हो । कंठ के गुण-धर्म के अनुसार स्वरों का प्रयोग तार तथा मन्द्र सप्तक में किया जाना चाहिये । आचार्य अभिनव गुप्त स्पष्ट करते हैं तार सप्तक के सां की सीमा तार सप्तक के रे, ग, म और प तक स्वरों का संचार किया जा सकता है इसके अतिरिक्त अपने कंठ की मर्यादानुसार स्वरों का प्रयोग विहित है[1] ।

यह स्वाभाविक है, कि मन्द्र स्थानीय स्वरों का विलम्बित लय, मध्य स्थानीय स्वरों का मध्य लय तथा तार स्थानीय स्वरों का द्रुतलय की ओर झुकाव होता है । तद्नुसार मन्द्र और तार गति वाले रागों की प्रकृति भी चंचल तथा गम्भीर होती है । इसी कारण भरत ने जातियों के व्यतित्व में तार और मन्द्र की मर्यादा के लिए कुछ स्वर विशेषों का उल्लेख किया है[2] । डॉ0 मुकुन्द लाट ने भी राग में प्रयोज्य ऊँचे तथा नीचे स्थान के स्वरों की व्याख्या की है ।

भरत ने गान्धर्व (संगीत) के आरम्भ में गात्रवीणा शरीरिवीणा आदि शब्दों का उल्लेख किया है जो मानवीय कंठ का द्योतक है । इसी कारण भरत ने मानवीय कंठ की मर्यादा को देखते हुए तार तथा मन्द्र स्वरों को निश्चित

---

1. ना0शा0 28/70 अंशात्तारगतिं विद्यादा चतुर्थस्वरादिह
आ पन्चमात्पन्चमाद्वा नातःपरमिहेष्येत

2. दत्तिलम् - पृ0 - 14 The general rule regarding the extent of melodic movement in tara octave was summed up in a formula. One could be as high as the fifth from the ansa in tara. ---- The

किया है और इसीलिए शरीरस्थ अंगों का सम्बन्ध तार - मन्द्र - मध्य स्थानों से माना गया है । हमारे शरीरस्थ हृदय, कंठ और मस्तिष्क से उत्पन्न होने वाले स्वरों के गुण-धर्म के अनुसार प्रयोग किये जाने पर रागों या जातियों में पूर्ण "रसनिष्पत्ति" होती है । अतएव आज की राग-पद्धति में भी भरत प्रोक्त "तारमन्द्र" गति काव्यवहार किया जाता है । उदाहरणार्थ पूरिया सोहिनी, दरबारी, अडाना ऐसे राग हैं जिनकों यदि इनके स्वरूप के अनुसार तार और मन्द्र स्वरों में न गाया जाए तो इन रागों की आकृति ही नहीं उभर पाती ।

पूरिया, मियांमल्हार, दरबारी ऐसे ही राग हैं, जिनका उभार या स्वरूप मन्द्र और मध्य सप्तकान्तर्गत है । इसी कारण आज की संगीत - भाषा में इन रागों को "पूर्वांग प्रबल" कहा जाता है । तद्नुसार इन रागों की प्रकृति भी गम्भीर है । इसी प्रकार सोहिनी, बहार, अडाना आदि राग ऐसे हैं जो तार सप्तक के स्वरों में अधिक खिलते हैं इसी कारण इनकी प्रकृति मन्द्र स्वर वाले रागों की अपेक्षा अधिक चंचल है जिन्हें आज "उत्तरांग प्रबल" राग कहा जाता है । कुछ राग ऐसे हैं जो मन्द्र, मध्य और तार सप्तक में बराबर से गाये बजाये जाते हैं ।

मन्द्र, मध्य और तार की सीमा का आधार भरत ने "अंश स्वर को माना है । जब कि आज षडज तथा वादी-सम्वादी स्वरों का आधार लेकर रागों के पूर्वांग और उत्तरांग के स्वरों को निश्चित किया जाता है । अतएव भरत-संगीत और आज के संगीत का अन्तर यही है, कि आज तार तथा मन्द्र-व्यापी स्वरों की सीमा का आधार षडज स्वर तथा वादी-सम्वादी स्वरों से माना जाता है और प्राचीन संगीत में अंश स्वर पर न केवल रागत्व बल्कि मन्द्र और तार स्वरों की सीमा भी निश्चित की जाती थी । वादी स्वर के अनुसार मन्द्र स्वर प्रधान राग पूर्वांगवादी राग और तार-स्वर प्रधान राग उत्तरांग वादी कहलाते हैं ।

षाडवित औडवितः

षाडवित और औडवित से भरत का अभिप्राय जातियों में प्रयोज्य स्वरों की संख्या वाले राग यथा - षटस्वरा, पन्चस्वरा । भरत ने तो षाडवित और औडवित जातियों का सैद्धान्तिक विवेचन दिया है । यही नहीं षडज और मध्यम ग्रामिक जातियों के षटस्वरा, पंचस्वरा और सप्तस्वरा जातियों की संख्या का भी निर्देश दिया है, यथा - सप्त स्वरा चार जातियों षटस्वरा भी चार जातियों और पंचस्वरा दस जातियाँ थी[1] । आज उन्हीं जातियों का विधान राग-पद्धति में "राग की जाति" में दिखाई देता है सप्त स्वरता - राग का सम्पूर्ण लक्षण है जिसके आरोह-अवरोह में सात - सात स्वरों का प्रयोग होता है - षटस्वरता या षाडवित छः स्वरों वाला षाडव जाति का राग है और "पँच स्वरता" या औडवित पंच स्वर वाला औडव जाति का राग है ।

एक बात उल्लेखनीय है कि भरत ने जातियों के षाडवित और औडवित स्वरूप का आधार भी सम्वादतत्व को दिया है । जबकि आधुनिक संगीत में जहाँ तक "रागदारी" का सम्बन्ध है केवल उन्हीं रागों का प्रयोग किया जाता है जिसका मूल उद्देश्य रसात्मकता (Melodic Structure) की वृद्धि करना है । लेकिन संगीत को एक " Subject " के रूप में मान्यता देने के कारण संगीत के कुछ विद्वानों ने राग में प्रयुक्त होने वाले शुद्ध और विकृत स्वरों से 72 या 32 थाट और एक थाट से गणित के आधार पर 484 रागों को उत्पन्न करने की व्यवस्था रखी है ।

लेकिन यर्थाथतः संगीत न तो गणित विद्या है और न एक साधारण विषय, यह एक वह कला है जिसमें हमें संर्वांग के दर्शन होते हैं इसकी आत्मा

---

1. ना0शा0 28/49 चतस्त्रो जातयो नित्यं ज्ञेयाः सप्तस्वरावुधैः चतस्त्रः षट्स्वरा ज्ञेयाः स्मृता षडचस्वरा दश ।

रागात्मक यानी रसात्मकता से सम्बद्ध है इसी कारण भरत ने कहा है "यत्किंचित् गीयते लोके तत्सर्वं जातिषु" जो कुछ भी गया जाय वह सब जातियों में विद्यमान है । इसीलिए भरत ने जातियों में गेयता की दृष्टि से जितने भी लक्षण होते हैं उनका विवेचन सूक्ष्मता से किया है, सूक्ष्मता की यही दृष्टि जातियों के " Melodic-Structure " से सम्बन्धित है । जातियों के षडवित और औडवित स्वरूप भी सम्वाद - तत्व पर निर्भर है ।

आज भी गणित द्वारा चाहे 72 या 32 थाट और इनसे उद्भूत 4840 रागों की रचना का विधान है फिर भी व्यवहार में कुछ ही थाट और उनके कुछ ही रागों का गायन वादन रागों की "रसात्मकता" को ध्यान में रखते हुए किया जाता है ।

अल्पत्व और बहुत्व:

अलपत्व और बहुत्व जातियों के वे स्वर हैं जिनके बहुल और अल्प प्रयोग से "जाति विशेष" का स्वरूप स्पष्ट होता है । आज भी राग-पद्धति में अलपत्व और बहुत्व के स्वर प्रयुक्त किये जाते हैं ।

भरत प्रोक्त अलपत्व और बहुत्व का विधान तो राग-पद्धति में सर्वत्र है । अलपत्व - बहुत्व के स्वरों में यद्यपि वादी सम्वादी स्वर आते हैं । किन्तु इन स्वरों के अलावा भी राग में ऐसे स्वर है, जिनका प्रयोग बहुल है जैसे राग जौनपुरी का वादी स्वर धैवत और सम्वादी स्वर गन्धार है किन्तु इन दोनों स्वरों के अलावा इस राग में मध्यम और पंचम स्वर भी बहुत्व के क्षेत्र में आते हैं अतएव इस दृष्टि से भी भरत की परम्परा आज - राग - गायन में जीवित है ।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वादी, सम्वादी अनुवादी और विवादी इन चार स्वरों में राग के सम्पूर्ण लक्षणों का अन्तरभाव हो जाता है । भरतोक्त जातिगत ग्रहांश न्यास-अपन्यास जैसे दस लक्षणों की राग-पद्धति में आज कोई उपयोग नहीं, किन्तु यह धारणा वस्तुतः अपने में भ्रामक है । क्योंकि भरत ने आज से 2000 वर्ष पूर्व अपने कंठ और कर्ण जैसे प्रत्यययों से जातियों के शास्त्रोक्त स्वरूप के लिए जिन आवश्यक तत्वों की विवेचना की है, उनके प्रयोग से न केवल जातियों, अपितु आधुनिक रागों की आकृति भी स्वर एवं भाव दोनों प्रकार से पूर्णता प्राप्त करती है, और राग संदेह पूर्ण हो उठता है ।

केवल वादी सम्वादी अनुवादी और विवादी इन चार स्वरों के सहारे किसी राग का स्वरूप उभारना चाहें, तो कठिन ही है । क्योंकि भारतीय संगीत के रागों में कुछ ऐसे ठहराव, उठाव मन्द्र तार स्वरों का प्रयोग न्यास अपन्यास स्वरों के अन्दाज, अलपत्व बहुत्व के स्वरों के प्रयोग हैं, जिनके बिना राग गायन अपूर्ण ही प्रतीत होता है । भरत ने रागों की अपूर्णता को पूर्णता प्रदान की है । जातिगत दस लक्षणों की व्याख्या करके । जिनके प्रयोग आज भी हमारी राग- पद्धति में विद्यमान हैं । इसी कारण भरत का अपनी जातियों के लिए यह कथन सार्वभौतिक है "यत्किंचित गीयते लोके तत्सर्वं जातिषु" जो कुछ भी गाया जाय वह सब जातियों में निहित है । जातियों के उन्हीं आवश्यक तत्वों का निर्वाह आज की राग-पद्धति के विकास का लक्षण है । अतएव भरत–परम्परा आज भी सुरक्षित है । इसी कारण के० वासुदेव जी ने "जाति" को रागों की "माता" की संज्ञा दी है । "जाति" राग की माता है[1] ।

---

1. संगीत शास्त्र पृ० - 45

सप्तम - अध्याय

भरतोक्त वर्ण एवं अलंकार तथा तन्त्रीकृतातोद्यः

(क) वर्ण एवं अलंकार, स्वरूप, प्रकार तथा प्रयोग आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में इनका महत्व ।

(ख) तन्त्रीकृतातोद्य, इनकी वादन क्रिया, करण, धातु तथा इनके प्रकौरा का आधुनिक तन्त्रवाद्यों में उपयोग ।

वर्ण एवं अलंकार अभिप्रायः

वर्ण एवं अलंकारों का जितना महत्वपूर्ण स्थान नाट्य प्रयोगों एवं पाठ्य में है उतना ही संगीत में भी ।

वर्ण एवं अलंकार चाहे साहित्य के संदर्भ में और चाहे संगीत के, इनकी उत्पत्ति मूलतः ध्वनि से हुई है । ध्वनि ही संगीत में नाद के रूप में प्रयुक्त होती है और ध्वनि ही वाक्रूप में साहित्यिक वर्ण एवं अलंकारों की उत्पत्ति का कारण होता है । जिसका उत्पत्तिक्रम निम्न है - ध्वनि या नाद से वाक्वर्ण, वर्ण से शब्द, शब्द से वाक्य और वाक्यों से इस जगत का व्यवहार व्यंजित होता है । इस प्रकार वर्ण एवं अलंकार स्वाभिप्रायानुसार साहित्य की शोभा है ।

संगीत के संदर्भ में भी अलंकार एवं वर्णों का महत्वपूर्ण स्थान है जिनका उत्पत्तिक्रम निम्नवत् है - नाद या ध्वनि, नाद से स्वर, स्वर से श्रुति, श्रुति से ग्राम, ग्राम से मूर्च्छना जाति, और जातिगत स्वर-संचारों में वर्ण एवं अलंकारों का प्रयोग गेयता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है । बल्कि जाति या रागों का स्वरूप

---

1. ना0शा0 29/पृ0 78 ननु शान्तरसे न केचिदशकेन गानयुक्तम्
2. ना0शा0 पृ0 29/पृ0 - 78 न शान्तरसप्रधानता प्रयोगस्य भवति ।

(Structure) वर्ण एवं अलंकारों के विविध प्रयोग पर निर्भर करता है । यहाँ हमारा अभिप्राय भरतनिर्दिष्ट वर्ण एवं अलंकारों का संगीत के संदर्भ में विवेचन करना है ।

वर्ण स्वरूप एवं प्रकार:

जाति गायन या राग गायन में प्रयोक्त विभिन्न स्वर-संचारों की प्रक्रिया वर्ण कहलाती है । डॉ0 मुकुन्द लाट लिखते हैं संगीत में स्वरों के Melodic Movement वर्ण है[1] । Varna was the general term used to indicate musical or melodic movement over notes. अर्थात् जाति या रागों को मूर्त करने के लिए स्वरों का लगाव किस प्रकार किया जाए या विभिन्न स्वर-गुच्छों को कैसे प्रयुक्त किया जाए जिससे जाति या राग में पूर्ण रस-निष्पत्ति हो सके, उस प्रक्रिया को भरत ने वर्ण माना है । "एते वर्णास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो गीतयोजका:" अर्थात् गीतयोजना में स्वरों के विविध प्रयोग चार वर्ण कहलाते हैं[2] ।

इस प्रकार जाति–प्रस्तार या राग–प्रस्तार में स्वरों को भिन्न-भिन्न तरीके से प्रयुक्त करना वर्ण कहलाता है । डॉ0 लाट स्पष्ट करते हैं कि प्रभाव पूर्ण ढंग से स्वर - लगाव के जितने भी सम्भाव्य तरीके हैं वे वर्ण[3] हैं । अर्थात् गायन-वादन की विशिष्ट प्रक्रिया वर्ण है । आचार्य अभिनव गुप्त ने इस संदर्भ में जाति को स्वरों का समूह मात्र कहा है[4] ।

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 125
2. ना0शा0 29/19 एते वर्णास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो गीतयोजका:
3. दत्तिलम् पृ0 - 125 Varna was a term which encempassed all possible melodic movements.
4. ना0शा0 अभिनव गुप्त पृ0 - 79 जातिर्नाम स्वरसमूहमात्रम् ।

भरत के पश्चातवर्ती पंडित शारंगदेव ने गान की एक क्रिया को वर्ण माना है । "गानक्रियोच्यते वर्णः"[1] । गाने की एक विशिष्ट प्रक्रिया वर्ण है । साहित्य-क्षेत्र या गीत में वर्ण यद्यपि पद या शब्द से सम्बन्धित है । जैसा स्वयं भरत का मत है एवं (पदं) लक्षणसुयुक्तं सदा वर्णोनिुकर्षति[2] अभिनव गुप्त ने इसका स्पष्टीकरण किया है कि पद के संदर्भ में वर्णन का अभिप्राय उसके अर्थ को संकुचित करता है[3] । किन्तु संगीत के संदर्भ में वर्ण भरत - मत से "वर्णस्य निष्पत्तिर्ज्ञेया स्वरसमुद्‌भवा"[4] अर्थात् स्वरों के विभिन्न लगाव से है ।

अभिप्राय यह है कि वर्ण का अर्थ यदि केवल शब्द या पद से जोड़ा जाए तो कंठ-संगीत के इतर तन्त्रवाद्यों सितार वीणा सरोद आदि में स्वरोद्‌भूत् वर्णों का प्रयोग नहीं किया जाता, जबकि कंठ संगीत के साथ-साथ सितार वीणा आदि तन्त्रवाद्यों में रागों की अवतारणा के लिए स्वर - वर्ण - अलंकार ऐसे मूलभूत तत्व हैं जिनके प्रयोग से राग का स्वरूप उतरता है राग या जाति का melodic structure बनता है । इसी कारण हमारे संगीत में राग या जाति की निर्मिति में स्वर और वर्ण इन दोनों का होना आवश्यक है । "योऽयं ध्वनि विशेषस्तु स्वरवर्णविभूषित" यह पद राग को स्पष्ट करता हुआ "वर्ण" के महत्व को दर्शाता है । अतएव वर्ण का अभिप्राय व्याकरण के अक्षर से न होकर भिन्न-भिन्न ढंग

---

1. संगीतरत्नाकर
2. ना0शा0 29/18 प्रथम पाद एवं (पदं) लक्षणसुयुक्तं वर्णोनिुकर्षति
3. ना0शा0 पृ0 - 81 तेन पदमेकं यदा यतो वर्णगीतक्रियानिुकर्षति दीर्घकालं करोति तदा ततो वर्णस्तस्यैकस्य संकीर्णस्य निष्पत्तिः ।
4. ना0शा0 29/द्वितीय पाद 18 तदा वर्णस्य निष्पत्तिर्ज्ञेया स्वरसमुद्‌भवा

से एक ही राग के स्वरों को अलग-अलग स्वरूप देना "वर्ण" कहलाता है । डॉ0 मुकुन्द लाट लिखते हैं - स्वर और वर्ण की एक विशिष्ट क्रिया वर्ण है जिसका प्रयोग जाति एवं रागों में किया जाता है । यही कारण है कि स्वर-वर्ण से युक्त रचना का प्रयोग न केवल कंठ संगीत में अपितु तन्त्रवाद्यों में करने से राग आसानी से मूर्त्त हो जाता है उस समय शब्द की अपेक्षा नहीं रहती[1] । इसी प्रकार आचार्य अभिनव गुप्त ने भी कहा "गीयमान" पद के अभाव में भी स्वरों का उपयोग गान्धर्व या गान में होता है[2] अर्थात स्वरों के विभिन्न स्वर-संचार ही वर्ण है ।

इस प्रकार पारिभाषिक रूप से गायन की एक विशिष्ट क्रिया वर्ण कहलाती है । जिसका सम्बन्ध शरीर के तीन अंगों से माना गया है । क्योंकि वर्ण विभिन्न स्वरों का समूह है अतएव स्वरों के लगाव क्रमशः मन्द्र, मध्य और तारव्यापी होते हैं । इसी कारण भरत ने चारों वर्णों को "शारीरस्वरसम्भूतास्त्रिस्थानगुणोचरा" माना है[3] ।

भरत के परवर्ती नान्यदेव ने वर्णों को जातियों का शरीर कहा है[4] । अतएव भरतोक्त जातियाँ हों या आधुनिक राग, इन सभी का आधार यद्यपि जातिगत

---

1. दत्तिलम् पृ0
   The ancient varnas were cenciened as inseparably connected with pada (Words) in a song while in a yati as Abhinava suggests could be purely a note structure ---- with out necessasrily implying words as in instrumental renderings.
2. ना0शा0 पृ0 - 79 तर्हि गीयमानपदाभावे कश्चिदपि स्वतः स्वरोपयोगोऽपि गाने गान्धर्ववा ।
3. ना0शा0 29/17 शारीरस्वरसम्भूतास्त्रिस्थान गुणगोचरा
   चत्वारो लक्षणोपेता वर्णास्तत्र प्रकीर्तिता

लक्षण ग्रह अंश न्यास अपन्यास, वादीसम्वादी है फिर भी जातियों या रागों का स्वरूप इस बात पर निर्भर करता है कि इनमें प्रयोज्य ग्रह, अंश, न्यास आदि विभिन्न स्वर-गुच्छों का लगाव इस ढंग से हो कि जाति या राग का "स्वर-सन्निवेष" बना रहे । गाने की यही क्रिया भरत-मत से वर्ण है ।

भरतोक्त वर्ण चार प्रकार के हैं[1] ।

1. आरोही वर्ण
2. अवरोही वर्ण
3. स्थार्या वर्ण
4. संचारी वर्ण

आरोही वर्ण से अभिप्राय है, नीचे के स्वर से ऊपर के स्वर तक जाना[2] अर्थात् मध्य षडज से निषाद तक गायन - वादन करना आरोही वर्ण है । भरत का कथन है नीचे से ऊपर की ओर जाना है[3] । इसी प्रकार अवरोही वर्ण आरोही के विपरीत ऊपर से नीचे तक स्वरों का संचार करना[4] । आरोह और अवरोही वर्णों का उदाहरण -

स-रे-ग-म-प-ध-नी-स-नी-ध-प-म-ग-रे-स ।।

---

1. ना0शा0 29/14 आरोही चावरोही च स्थायिसाधारिणौ तथा वर्णाश्चत्वार"
2. दत्तिलम् पृ0 - 125 Arohi was the varana predomined by a melodic movement as cending our notes from low to high.
3. ना0शा0 29/15 आरोहन्ति स्वरा यत्रारोहीति स तु संज्ञितः
4. ना0शा0 29/15 यत्र चैवावरोहन्ति सोऽवरोहं प्रकीतितः

स्थायीवर्ण के लिए भरत का अभिप्राय है एक ही स्वर को स्थिर रूप से अर्थात् वार-वार एक ही स्वर का गान[1] । आचार्य अभिनव गुप्त ने स्थायी वर्ण का स्पष्टीकरण किया है एक ही स्वर पर मन्द्र, मध्य और तार सप्तक में बने रहना[2] । जैसे घन्टे की ध्वनि । आचार्य अभिनव गुप्त के इस कथन को डॉ0 लाट ने और अधिक विवेचन किया है कि एक ही स्वर को बिना तोड़े बिना बढ़ायें बल्कि छोटे-छोटे गेप (Gap) से प्रयोग करते जाना स्थायीवर्ण है[3] । इस प्रसंग में डॉ0 लाट ने पंडित शारंगदेव और कल्लिनाथ के मतों का उल्लेख किया है कि एक ही स्वर का बार-बार प्रयोग स्थायी वर्ण है । "संचारी वर्ण" के लिए महर्षि भरत का मत है "संचरन्ति स्वरा यत्र" अर्थात जहाँ तीन वर्णों का एक

---

1. ना0शा0 29/16 प्रथमपाद - स्थिराः स्वराः समा यत्र स्थायी वर्णः सः उच्यते ।

2. ना0शा0 29 पृ0-80 तेन मन्द्रतारमध्यरूपतया तस्यैवस्वरस्यप्रयोगः । स्थायुयेव वर्णः विच्छिद्य पुनः प्रयोगः कर्तव्यो न तु । दीर्घ-दीर्घेणाविच्छिदेन घण्टास्वनवदिति दर्शयितु स्वरा इति बहुवचन प्रयोगः ।

3. दत्तिलम् - 125 The movement which rendered any single note as constant, usually by repelition, was termed sthayi -- Abhinava Comments that in rendering. This varna, the same note whatever in tara, mandra or madhya octave, should be repeated at short intervals. It should not be stretched over long periods with out an accent or break.

साथ संचरण हो वह संचारी वर्ण है । डॉ0 मुकुन्द लाट के शब्दों में सम्पूर्ण वर्णों का एक मधुर संचरण (Movement) संचारी वर्ण है ।

वर्णों का मूल उद्देश्य स्वरों के विविध लगाव से है । इसी कारण जाति अथवा राग - गायन में इसका महत्वपूर्ण स्थान भरत ने माना है । जाति अथवा राग विशिष्ट ध्वनि की एक रचना है । जिसे विभिन्न स्वरों एवं वर्णों से आकृति मिलती है । बहुत से ऐसे समप्राकृतिक राग है जिनकी अलग पहचान के लिए स्वर एवं वर्णों का ही आश्रय लिया जाता है । इसी कारण वर्ण एक विशिष्ट पारिभाषिक शब्द है, जिसके अन्तर्गत गायन की समस्त क्रियाएं आती हैं। स्वरों की पुनुरूक्ति, आरोह-अवरोह विभिन्न दिशाओं में संचार इसी के अन्तर्गत आता है । इसीलिए भरत ने आरोही अवरोही स्थायी और संचारी इन चार वर्णों का संकेत दिया है जिसके अन्तर्गत जाति या राग का melodic structure बना है ।

किन्तु आज कल वर्णों का अर्थराग के आरोह अवरोह तथा ख्याल और ध्रुवपद गीतों के विभिन्न अवयवों से लिया जाता है । जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट का भी मत है[1] । किन्तु भरत - संगीत में वर्ण का उपयोग स्वरों के लगाव यानी movement से लिया जाता था ।

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 125 In current theory also four varnas terms used but with widely different cennotation. Arohi and Aborohi are now the terms denoting structural ascent and decent characteristic of individual. Sthyi is a basic aspect of the plan of melodic elaborations.

यह भी उल्लेखनीय है कि भरत ने स्थान-स्थान पर कंठ-संगीत को मान्यता दी है जो स्वाभाविक है । वर्णों का प्रथम उपयोग Vocal यानी "गान" के लिए है, फिर कंठ की अनुकृति तन्त्रवाद्यों में इसका उपयोग किया जाता है । इस संदर्भ में भी भरत ने वर्णों को "शारीरस्वरसम्भूताः" माना है[1] । डॉ0 मुकुन्द लाट लिखते हैं वर्ण का जहाँ तक सम्बन्ध पद से है इसलिए इसका सम्बन्ध गीत से है[2] । किन्तु भरत ने वर्ण को "शारीरस्वरसम्भूता" बताकर उसे (त्रिस्थानगत) बताया है । अर्थात् शरीरस्थ हृदय, कंठ और मस्तिष्क से उद्भूत मन्द्र, मध्य और तार व्यापी स्वरों के विभिन्न संचरण को "वर्ण" का स्वरूप माना है यानी शरीर के विविध अंगों से निकलने वाले सभी स्वरों के Movement को वर्ण के अन्तर्गत माना है । इसीलिए वर्ण का प्रथम स्थान कंठगत स्वरों में है । जैसा उसके बाद वीणा आदि वाद्यों में । इसी कारण आचार्य अभिनव गुप्त ने भरत-मत का स्पष्टीकरण करके कहा है कि उच्चारण आदि की दृष्टि से शरीर के तीन स्थानों से निकलने वाले स्वरों से इसका सम्बन्ध है उसके वाद वीणा आदि वाद्यों में इसका उपयोग किया जाता है[3] ।

अतएव भरत-मत से वर्ण का अभिप्राय अपने में बहुत व्यापक और सहैतुक है । जिनके प्रयोग से राग के मधुर स्वरूप की अवतारणा हो जाती है ।

---

1. ना0शा0 29/17 शारीरस्वरसम्भतास्त्रिस्थानगुणगोचराः ।
2. दत्तिलम पृ0 - 126 Varana, as its inherent connection with pada implies, was basically a concept pertaining to song ----- varna could of course be also rendered on instrument for all songs, are capable of such renderings but it was in the firset place in a vocal concept.

भरतनिर्दिष्ट संगीत के सैद्धान्तिक सूत्रों का यद्यपि आधुनिक संगीत में प्रचलन तो है पर वह एक तो परम्परावादी है दूसरे अभिप्राय की दृष्टि से संकुचित भी है ।

इसका कारण सम्भवतः यही रहा, क्यों कि "नाट्यशास्त्र" पाणिनी के "अष्टाध्यायी" की भाँति एक सूत्र ग्रन्थ है जिसके सिद्धान्त व्यवहारिक रूप से जब तक फलदायी (fruit fall) नहीं हो सकते जब तक इन सूत्रों को गहन अध्ययन और मनन से समझा न जाए । यही कारण है कि भरतोक्त गान्धर्व में प्रयोज्य बहुत से ऐसे सांगीतिक शब्द है जिनका प्रयोग आधुनिक संगीत में पूर्णता से नहीं किया जाता अर्थात् "संकुचित प्रयोग" का प्रचलन है जिसके कारण आज का संगीत उतना प्रभावी नहीं हो पाता ।

अलंकार:

अलंकार शब्द का अर्थ है, "आभूषण" या अलंकृत करने वाला साधन जिसका मूल उद्देश्य शोभा-वर्धन है । साहित्य और संगीत दोनों में ही अलंकार इसी अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है ।

संगीत में "अलंकार" स्वरों का विविध लगाव है, जिससे गायकी या गीति में माधुर्य तथा Pleasing Effect उत्पादन किया जाता है । अतएव संगीत के संदर्भ में अलंकार से अभिप्राय कुछ नियमित वर्ण समुदाय अर्थात् वर्णाश्रित स्वरों के विविध प्रयोग या भिन्न-भिन्न ढंग से स्वरों के "वर्तने" को अलंकार कहते है । इसी कारण भरत ने वर्णो के अनुरूप अलंकारों के प्रयोग का विधान बताया है[1] । डॉ0 मुकुन्द लाट ने लिखा है अलंकारों का प्रयोग गीतों में प्रभाव उत्पन्न

---

1. ना0शा0 29/19 एते वर्णास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो गीतयोजकाः एतान् समाश्रितान् सम्यगलड्कारान् निवोधता ।

करने वाली सजावट है[1] ।

लेकिन अलंकारों का वर्णाश्रित होने का अभिप्राय है विविध स्वर-गुच्छों या स्वर-समुदायों के आधार पर स्वरों के प्रयोग । अर्थात् स्वरों के विशिष्ट प्रकारों पर अलंकारों का प्रयोग करना, जिससे राग या जातियों का स्वरूप एक खूबसूरत माधुर्य धारण करता है । आचार्य अभिनव गुप्त का यही मत है गान के स्वरूप को शोभायुक्त करना[2] । डॉ0 लाट ने इस संदर्भ में दत्तिलाचार्य के मत का स्पष्टीकरण करते हुआ लिखा है, अलंकार स्वयं में शोभावर्धक होते हैं किन्तु वर्णाश्रित होने पर अलंकार जाति या राग के स्वरूप को और भी अधिक कोमल और खुबसूरत बना देते हैं[3] । अतएव गीत में अलंकारों का निर्माण चतुर्विध वर्णों पर आधारित होता है । इस प्रकार अलंकार स्वयं में अलंकरण है (Adornment) अतएव इसका प्रयोग चतुवर्णाश्रित होने के कारण राग या जातियों में प्रयोज्य स्वर-गुच्छों की प्रस्तुति में इसका प्रभाव पड़ता है ।

आधुनिक संगीत में "अलंकार" की परिभाषा "विशिष्टवर्णसंदर्भमंलकारं प्रचक्षते" कहते हैं । अर्थात् विशिष्ट वर्ण (स्थायी, आरोही-अवरोही संचारी) के संदर्भ

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 127 Alnankars is defined as a decorative adornment (mandanam) which creates a pleasing effect in a song.

2. ना0शा0 पृ0 तस्यसकलपदविश्रान्तस्य गानक्रियासम्पत्यै प्रस्तुतरूपस्येत्थं शोभाकृता भवन्ति ।

3. दत्तिलम् पृ0 - 127 Dattila calls alankars -- based on or dependent on varnas. The four varnas, we have seen denoted all possible melodic movements. Alankars were melodic flourishes which lent colour and charm to these melodic movement Alankars, themselves naturally enough consisted of melodic movements.

में स्वरों का विशेष स्वर-समुदाय अलंकार कहलाता है जिन्हें पल्टा कहने की प्रथा है । ये अलंकार के अर्थ में सहैतुक है, क्यों कि अलंकार के अन्तर्गत स्वरों को विविध प्रकार से उलटने-पलटने की क्रिया सम्पादित की जाती है । इसी कारण इसे "पल्टा" कहा जाता है । अलंकारों का मूल उद्देश्य कंठ तथा तन्त्र वाद्यों में स्वरों के स्थान बनाना है । इसीलिए संगीत की शिक्षा का आरम्भ अलंकारों के अभ्यास से किया जाता है ।

वर्णाश्रित अलंकार व प्रकार:

भरत ने चार वर्णों के आधार पर अलंकारों के प्रयोग वा महत्व की व्याख्या की है[1] । "एतान समाश्रितान् सम्यगलंड्कारान्" इसका अभिप्राय है जाति या राग के Melodic Movement इन्हीं वर्णाश्रित अलंकारों पर निर्भर करते हैं । श्री बाबू लाल शुक्ल शास्त्री के मतानुसार भरत-निर्दिष्ट अलंकारों की संख्या 33 है इसके अतिरिक्त इन्होंने "भरतभाष्य" में वर्णित अलंकारों की 40 संख्या तथा शारंगदेव के द्वारा बताए गये 63 अलंकारों का उल्लेख किया है[2] ।

डॉ0 मुकुन्द लाट ने आचार्य दत्तिल के मत से भरत निर्दिष्ट 13 अलंकारों का निर्देश किया है[3] । मतंग मुनि ने भी भरतोक्त 33 अलंकारों का उल्लेख किया है[4] ।

---

1. ना0शा0 29/9 एतान समाश्रितान् सम्यगलड्कारान् निवोधत ।
2. हिन्दी प्रदीप व्याख्या सहित ना0शा0 श्री बाबू लाल शुक्ल शास्त्री पृ0 - 66
3. दत्तिलम् पृ0 - 130 While Dattila enumerates only thirteen alankars.
4. दत्तिलम् पृ0 - 131 Mentaning and urit para say that there are thirty-three well known alankars. They obviously had the Natya-sastra in mind naming this figure.

वर्णाश्रित ये अलंकार गीतियों की शोभा तो बढ़ाते ही है भरत निर्दिष्ट अलंकारों का उद्देश्य कंठ-संगीत में आवाज के लगाने तथा तन्त्रवाद्यों में स्वर-स्थानों को स्थिर करने की सूक्ष्म जानकारी भी देते हैं । एक-एक अलंकार आवाज की ऊँचाई-नीचाई-छोटा-बड़ापन स्वर एवं लय का सही आकार तथा आवाज के ऊपर-नीचे-फैलाव के एक-एक व्यवहारिक सूत्र है । गान एवं तन्त्रवाद्यों के वादन में महर्षि भरत ने स्थायी आरोही अवरोही और संचारी वर्णाश्रित अलंकारों का विवरण अलग-अलग दिया[1] ।

स्थायीवर्णाश्रित अलंकार की संख्या सात मानी है सप्त ते स्थायिवर्णगा:[2] यथा-

स्थायी वर्ण-अलंकार:

1. प्रसन्नादि
2. प्रसन्नात्
3. प्रसन्नरद्यन्त
4. प्रसन्नमध्य
5. क्रमरेचित
6. प्रस्तार
7. प्रसाद

---

1. आरोही चावरोही च स्थायिसन्चारिणौ तथा
   वर्णायचत्वार एवैते ह्यलड्कारास्तदाश्रया: । ना0शा0 29/14

2. प्रसन्नदि: प्रसन्नांत: प्रसन्नाद्यन्त एव च
   प्रसन्नमध्यश्च तथा क्रमरेचित एव च
   प्रस्वारश्च प्रसादश्च सप्तैते स्थायिवर्णगा: ना0शा0 29/20

इसी प्रकार संचारीवर्णाश्रित अलंकारों की संख्या भरत-मत से चौदह है "सन्चारिण्यश्चतुर्दश"[1] यथा -

1.	मन्द्र	2.	प्रसन्नादि
3.	प्रेखोलित	4.	विन्दु
5.	सन्निवृत्त-प्रवृत्त	6.	रोचित
7.	कम्पित	8.	सम
9.	कुहर	10.	वेणु
11.	आर्वत्तक	12.	रन्जित
13.	अवलोकित	14.	परावृत्तः

आरोही वर्णाश्रित 13 अलंकारों का उल्लेख किया गया है[1] ।

1.	निष्कर्ष अभ्युच्चय	8.	प्रस्नादि
2.	हासित	9.	प्रसन्नान्त
3.	बिन्दु	10.	प्रेखोलित
4.	हादमान	11.	आक्षिप्त
5.	सम्प्रदान	12.	विस्तीर्ण
6.	सन्धि	13.	उद्धरित
7.	प्रच्छादन		

---

1. ना0शा0 29/23,24 निष्कर्षोऽभ्युचच्चयश्चैव हीसते बिन्दुरेव प्रसन्नादिःप्रसन्नातः इत्यारोहे त्रयोदश ।

अवरोही वर्णगत 5 अलंकारों का नाट्यशास्त्र में उल्लेख मिलता है[1] ।

1. विधूत
2. त्रिवर्ण
3. उद्वहित
4. उद्गीत
5. वेणी

इस प्रकार नाट्यशास्त्र के उल्लेखनुसार चारो वर्णों के अनुसार अलंकारों की संख्या उन्तालीस है । श्लोकानुसार सप्तैतेन स्थायिवर्णगाः- 7 अलंकार

सन्चारिण्यश्चतुर्दश	-	14
इत्यारोहे त्रयोदश	-	13
विधूतश्च त्रिवर्णश्च तथा ह्यवरोहिणः	-	5
		--
		39

अभिनव गुप्त टीका सहित ना0शा0 के उल्लेखों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि चारो वर्णों के आश्रित अलंकारों की संख्या "33" के स्थान पर 39 है । जबकि परवर्ती सभी विद्वानों ने भारतनिर्दिष्ट अलंकारों की संख्या 33 ही बताई है । जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट ने मतंग तथा वृत्तिकार के मत का उल्लेख करके निर्देश दिया है ।

Matang and vriti kara say that there are thirty three well known alankeers, they obociously had the Natya-sustra in mind naming this figure.

---

1. ना0शा0 29/25 विधूतश्च त्रिवर्णश्च त्रिवर्णश्च तथोद्वाहित एव च उद्दीतश्च तथा वेणिर्विज्ञेया ह्यरोहिणः ।

For the Brhaddesi puts great reliance upon Bharat in describing the alankars[1].

अभिप्राय यह है कि वर्णाश्रित मुख्य 33 ही अलंकार इस दृष्टि से हो जाते हैं क्यों कि कुछ अलंकारों का प्रयोग समान रूप से चारों वर्णों में किया जाता था । जैसे प्रसन्नादि, प्रसन्नानृत प्रसन्नाध आदि अलंकारों का प्रयोग लगभग सभी वर्णों के आश्रित होता है इत्येते सर्ववर्णगा:[2] आचार्य अभिनव गुप्त स्पष्ट करते हैं प्रसन्नादि अलंकार सभी वर्णों के लिए हैं यथा योग प्रयोग की दृष्टि से एक ही वर्ण में न होकर दूसरे वर्ण का भी आश्रित हो सकता है[3] । सम्भवत: इसी कारण विद्वानों ने भरत--निर्दिष्ट मुख्य अलंकार 33 बताए हैं । महर्षि भरत ने प्रत्येक अलंकार का प्रयोग की दृष्टि से साभिप्राय उल्लेख दिया है जैसे "दीपितो य: स्यात् प्रसन्नादि स: कथ्यते" जो "दीपितो हो वह प्रसन्नादि अलंकार है"[4] । आचार्य अभिनव गुप्त ने दीपित का अर्थ स्वर की "तारता" से और "प्रसाद" का अर्थ स्वर की मन्द्रता से लिया है[5] ।

---

1. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 131
2. ना0शा0 29/31, 32 प्रसन्नमध्यमश्चैव विन्दु: रेचितौ इत्येते सर्ववर्णगा:
3. ना0शा0 पृ0 - 88 प्रसन्नादिरित्यादि सर्ववर्णगा इत्यन्तेन । तेन यथायोगं कश्चिदेकत्र वर्णे कोऽपि द्वयोरित्यादि मन्तव्यम् ।
4. ना0शा0 29/33 क्रमशो दीपितो य: स्यात् प्रसन्नादि: स: कथ्यते ।
5. ना0शा0 पृ0 88 दीपनं प्रसादो मन्द्रता ।

इसी प्रकार "व्यस्तोच्चारित एवैष प्रसन्नान्तो विधीयते"[1] अर्थात् उच्चरित ढंग से निकाले गये स्वरों का अलंकार "प्रसन्नान्त" कहलाता है । मध्यलय जहाँ हो वहाँ उर्मि अलंकार है[2] । इसी प्रकार भरत ने शरीर - स्वर सम्भूतास्त्रिस्थानगुणगोचरा अर्थात् शरीर के हृदय-कंठ और शिर इन तीनों स्थानों से निकलने वाले स्वरों के अनुरूप अलंकारों के प्रयोग का उल्लेख किया है जैसे कंठ से निकलने वाले स्वर समुदाय तार - हृदय से निकलने वाले मन्द्र और शिर से निकलने वाले "तारतर" कहलाते हैं[3] ।

आचार्य अभिनव गुप्त स्पष्ट करते हैं कि मन्द्र तार तारतर आदि में प्रयोग किये अलंकारों के लक्षण हैं[4] । इसी प्रकार विधूत - त्रिवर्ण - उद्गीत वेणि आदि अलंकारों के उल्लेख है । जिन्हें आचार्य अभिनव गुप्त ने क्रमशः स्वरों सहित स्पष्ट किया है यथा एक स्वर को छोड़कर आरोहावरोह करने पर विधूत अलंकार होता है जैसे सस (ग) मरे (पगरे)[5] इसी प्रकार तीन स्वरों के प्रयोग से त्रिवर्ण अलंकार[6] जैसे सनीधधध, इसका विपरीत उदगीत अलंकार जैसे स स स स नी इसी प्रकार वेणी अलंकार का उदाहरण है स नी नी नी ध ध ध ।

---

1. ना0शा0 29/34
2. ना0शा0 29/36 आदिमध्यलयो यत्र स चोर्मिरिति संश्रितः
3. ना0शा0 29/39 यस्तु कण्ठे स्वरोऽधः स्यात् स तु तार प्रकीतित उजरोगतस्तथा मन्द्रो मूर्च्चि तारतदस्तथा ।
4. ना0शा0 पृ0 - 90 अहसिद्धव्या कं लक्षणोपयोगितावद्रपं वक्तव्यमित्याशयेन तारमन्द्र तारतराणां लक्षणामाह ।
5. ना0शा0 पृ0 - 84 एकत्वागेनारोहणावरोहणात् विधूतः । सस (ग) मरे (पगरे) आरोहादि क्रमेण कम्पूवोऽवरोहो विधूत इत्यन्ये ।
6. अधर स्वरे त्रिविश्रान्त्या त्रिवर्णः । स नी ध ध । एतद्विपर्य येणोग्दीतः। ऊर्ध्वस्वरे गानक्रियाया विश्रान्ते । स ससस नी । मध्यैकविश्रान्ते रूद्धाहितः। स नीनीनी ध ध ध । इति वेणिः ।

डॉ0 मुकुन्द लाट ने भी प्रसन्नान्त और दीपित अलंकारों को अभिनव गुप्त की भाँति मन्द्र और तारव्यापी बताया है[1] । इसी प्रकार स्थान (Octave) की दृष्टि से कम्पित, रोचित अलंकार है जो विभिन्न स्थान के स्वरों को दर्शाते हैं[2] ।

अभिप्राय यह है कि भरत ने जिन अलंकारों का विवरण दिया है तथा जिनके मन्द्र, मध्य, तार स्थानों तथा स्वरों के प्रयोगगत लक्षणों को विधिवत् उल्लेख इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि भरत को आवाज के लगाव की सूक्ष्म जानकारी थी । अर्थात् " Voice Culture " की सम्पूर्ण सैद्धान्तिक जानकारी हमें "नाट्यशास्त्र" दे सकता है । यदि हम उसका विवेचन गम्भीरता से करें ।

आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में वर्ण एवं अलंकारों का महत्वः

"नाट्यशास्त्र के अध्ययन से प्रतीत होता है कि भरत ने केवल गान्धर्व के शास्त्रकार थे अपितु वे पहले गान्धर्व के प्रयोगकर्त्ता भी थे । यही कारण है कि स्वर, श्रुति, ग्राम मूर्च्छना जाति, अलंकार आदि के जिन सिद्धान्तों के सूत्रों का उल्लेख किया है उनकी उपादेयता एवं महत्व प्रयोग किये जाने पर (Practically) ही विदित होती है ।

---

1. दत्तिलम पृ0- 127 Prasanna was a low note in relation to dipta or high note. Whatever the octavein which they occured any note which had a lower position, was prasanna while a higher note was tara.
2. दत्तिलम् पृ0 - 130 The three alankaras Kampita, barita and recita were obviously similar except for a difference in the octave where they were rendered.

वर्ण एवं अलंकारों के स्वरूप तथा उनके विविध प्रयोग के जिन विधानों की चर्चा हमें नाट्यशास्त्र में मिलती है उनके सुपरिणामों को संगीत का वही व्यक्ति समझ सकता है जिसकी संगीत - शिक्षा गुरू - शिष्य - परम्परानुसार सही ढंग से दी गई हो । भरत ने जाति के लिए अलंकारों का महत्व शशी के बिना रात्रि जल के विनानदी, पुष्पों के बिना लता आभूषण विहीन नारी के रूप में दिया है[1] । क्योंकि आज भी संगीत में अलंकार आदि की उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता । सात शुद्ध और पाँच विकृत स्वरों को कंठ तथा वाद्य में उचित स्थान पर बैठाने के लिए अलंकारों के रूप में स्वरों के विभिन्न संचारों का अभ्यास आवश्यक है । इसी कारण परवर्ती विद्वानों ने अलंकारों को "पल्टा" भी कहाँ है - जिसमें स्वरों के विविध प्रकार से उलटने पलटने की क्रिया रहती है "पल्टा" शब्द भरत-निर्दिष्ट अलंकार का ही पर्याय है । आज भी संगीत का पहला पाठ अलंकारों के माध्यम से दिया जाता है ।

"अलंकार" जाति या राग को सजाने वाला आभूषण ही नहीं है अपितु जाति या राग के चलन में निखार भरते हैं इसी कारण भरत ने अलंकारों को वर्णाश्रित बताया है । तथा उनके प्रयोग और विधान को चारों वर्णों के अनुरूप दिया है । भरत के परवर्ती मतंग ने भी अलंकारों का विभाजन वर्णाश्रित किया है[2] । भरत निर्दिष्ट अलंकारों के ये विवरण इस तथ्य का संकेत करते हैं कि गायन वादन से पूर्व आवाज के लगाव तथा वाद्यों पर स्वर - स्थान स्थिर करने के लिए अलंकारों का अभ्यास आवश्यक है । एक - एक अलंकार का प्रयोग स्वर एवं लय का निश्चित और सही आकार कंठ तथा वाद्यों पर निकाला जा सकता है जो जाति और राग के लिये आवश्यक है ।

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 121 डॉ0 मुकुन्द लाट - The alankaras have varanas as their basis.

2. दत्तिलम् पृ0 - 131 - Mantang also gives a varana

आवाज की ऊँचाई - नीचाई आगे पीछे फैलाव के लिए भरत ने प्रसन्नादि प्रसन्नान्तः, प्रसन्नाद्यन्त और प्रसन्नमध्य जैसे अलंकारों का उल्लेख किया है । अर्थात् Voice Culture (आवाज - निर्माण) के लिए अलंकार एक महत्वपूर्ण टेक्नीक थी ।

जहाँ पर आदि मध्य लय का स्वरूप कायम किया जाए वहाँ "ऊर्मि" अलंकार का प्रयोज्य है । सर्वसाम्यात् समो ज्ञेयः स्थितस्त्वेकस्वरोऽपि आगे पीछे एक-एक स्वर के लगाव के लिए "सम" आदि अलंकार । "कण्ठे निरूद्धपवनः कुहरो नाम ज्ञायते" कुहर नामक अलंकार कंठ में पवन को रोकता है अर्थात् स्वरों के मध्य श्वास-प्रश्वास को अनुशासित करने के लिए कुहर नामक अलंकार का उल्लेख है । इसी प्रकार कंठ तथा वाद्यों में मन्द्र, मध्य और तार स्वरों के उतार-चढ़ाव के लिए "तारमन्द्रप्रसन्न" अलंकार होता है स्वरों में माधुर्य यानि स्निग्धता (Grace) उत्पन्न करने के लिए प्रसन्नान्त अलंकार है "प्रसन्नान्त स्वरो यत्र प्रसादः स तु संज्ञित" यही नहीं स्वरो की तारता, मन्द्रता आदि का विस्तार भी इन्हीं अलंकारों के अभ्यास से किया जाता है । अभिप्राय है कि नाद के ऊँचे-नीचे पन जिसे अंग्रेजी में Piteh कहा जाता है तथा नाद का छोटा-बड़ा पन जिसे magnitued कहते है ये सभी क्रियाएं भरतोक्त अलंकारों में प्राप्त होती हैं ।

इसी प्रकार स्वरों के विविध चालन के लिए विधूत, त्रिवर्ण, उद्गीत वेणी जैसे अलंकार है । ये अलंकार प्रयोग किये जाने पर कंठ में एकलचक (Flexibility) उत्पन्न कर देते हैं जो आगे चलकर गायकी की सूक्ष्म अदाकारी के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है । जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट लिखते हैं कि ये अलंकार जिस तरीके

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 128 These alankaras were grace that adorned a varana and the manner in which they were rendered must have played larger part in

से प्रयुक्त किये जाते हैं वह उसे एक Grace प्रदान करता है इसी कारण वर्णाश्रित अलंकारों का महत्वपूर्ण स्थान है ।

Voice Culture शब्द आज यद्यपि पाश्चात्य संगीत का विषय समझा जाता था किन्तु महर्षि भरत के वर्ण एवं अलंकारों के विविध प्रकारों के अध्ययन संकेत देते हैं कि पाश्चात्य विद्वानों से भी बहुत वर्ष पूर्व भरत को Voice Culture की विशद जानकारी थी । अलंकारों के स्वरूप और उनके विविध प्रयोग के विधान ऐसे हैं, जिनसे कंठ या वाद्य पर स्वरों को आसानी से बिठाया जा सकता है अर्थात् कंठ या वाद्य से निकलने वाले स्वरों के छोटे - बड़े पन को ठीक करते हैं । भरतोक्त अलंकारों का अभ्यास स्वर की जितनी भी बनावट जैसे स्वरों में मधुरता गोलाई, गूँज और स्वरों की ऊँचाई Piteh, Magnitude जैसे गुणों में वृद्धि करते हुए गायन-वादन की उच्चता को बढ़ा देता है ।

नाद के छोटे-बड़े पन (Magnitude) ऊँचाई-नीचाई (Piteh) जैसे आवाज को बनाने (Culture) की सभी गतिविधियों भरत-निर्दिष्ट अलंकारों में दिखाई देती है । इस प्रकार यद्यपि भरत " Voice Culture " जैसे अत्याधुनिक विषय से परिचित नहीं थे किन्तु आवाज निर्माण की सभी क्रियाओं का प्रतिपादन भरत ने वर्ण और अलंकारों के प्रसंग में किया है । यही कारण है कि भरत ने वर्ण और अलंकारों का सविस्तार विवरण के लिए "अलग अध्याय - 29" लिया जिसमें एक-एक अलंकार का निरूपण और स्वर - निर्माण में उसके प्रभाव का वर्णन किया है[1] । गान के क्रम यानी Voice Culture ही इन वर्णाश्रित अलंकारों का महत्व नहीं है अपितु तन्त्र सुषिर आदि सभी वाद्यों में "स्वर निकास" के लिए ये अपूर्व विधान है । इसी कारण आज भी वर्ण और अलंकारों का प्रयोग "पल्टा" के नाम से किया जाता है । भरत-मत से गीति बिना अलंकार के उसी

---

1. दत्तिलम् - डॉ0 मुकुन्द लाट - Varana and alankaras are the integral part of yati from.

प्रकार शोभायमान नहीं होती जिस प्रकार चन्द्र से हीन रात्रि, जल से हीन नदी, पुष्प से हानि लता और अलंकारों (आभूषणों) से रहित स्त्री[1] । इस पद का भाव यही है कि गीति या गान की खूबसूरती स्वरों से हैं और स्वरों की मधुरता अलंकारों के अभ्यास के बिना बढ़ ही नहीं सकती। गीति में उतार-चढ़ाव भराव आदि की क्रियाएं हैं वे सभी अलंकार और वर्ण के विविध प्रयोग है । इसीलिए वर्ण और अलंकार अत्यधिक महत्वपूर्ण है । क्योंकि वर्ण, अलंकार आदि के अभ्यास से जब कंठ के गुण-धर्म बढ़ जाएं अर्थात् आवाज बन जाए तब गीत आदि का प्रयोग होना चाहिये ।

इसी कारण अलंकार और वर्णों का सांगोपाग निरूपण करने के पश्चात् भरत ने "गीतियों" का विवरण दिया है[2] । अभिप्राय है कि कंठ स्वरों को करने के बाद ही गीति का क्रम होना चाहिए । आचार्य अभिनव गुप्त ने "गीति" की व्याख्या दी है गीति स्वर और पद से परस्पर समिश्रण का भाव है[3] ।

गान्धर्व में गीति या गान ही ऐसा पक्ष है जिसमें गान्धर्व के त्रिविध स्वरूप स्वर-ताल और पद का समन्वय होता है वादन की क्रिया में केवल स्वर और ताल का समन्वय होता है । इसीलिए संगीत में वादन, गायन के ऊपर आश्रित

---

1. ना0शा0 29/45 शशिना रहितेव निशा विजलेव नदी लता विष्णुयेव अविभूषितेव च स्त्री गीत
2. ना0शा0 29/44 एवमेते त्वलङ्कारा विज्ञेया वर्णसंश्रयाः अथ गीतीः प्रवक्ष्यामि ।
3. ना0शा0 29 अध्याय अभिनव गुप्त टिप्पणी पृ0 - 92 गीतिशब्देन स्वराणां पदानां च यः परस्परमाश्रयाश्रयिभावः सा पृथग् गीतिः

होता है । जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट का कथन है[1] ।

वर्ण तथा अलंकारों से युक्त पद लयान्वित गान क्रिया भरत-मत से गीति है । "गीतिः छन्दोऽक्षरसमन्विता"[2] आचार्य अभिनव गुप्त भरतोक्त "गीति की व्याख्या करते हैं गीत पदमय होती है छन्द और अक्षर से युक्त गद्यात्मक स्वरूप जो गया जाए वह गीति है[3] । अर्थात् कंठगत स्वरों की पद युक्त रचना गीति है । भरत ने चार प्रकार की गीतियों का उल्लेख किया है । भरत काल में स्वर-वर्ण वृत्ति आदि के विविध प्रयोग के कारण गीतियों के चार प्रकारों का उल्लेख मिलता है[4] । मागधी अर्धमागधी, सम्मभम्विता और पृथुला ये चार गतियों का प्रचार भरत-काल में था ।

"गीति के लिए आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं यतिताल विभाग वर्ण आदि नियम से युक्त गान क्रिया गीति है[5] । इस गीति में त्रिनिवृत और प्रगीत

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 96 The gitee or the song - form seems to have been the primary form in ancient gandharva. Only song contained all the three arttributes of svara, tala and pada. Instrumental playing was understood in relation to song.
2. ना0शा0 29/44
3. ना0शा0 29-92 पृ0 पदाश्रया गीतिवर्ण इत्युक्तम् । पदं च प्रवृत्तीनरूद्धच्छन्दोमयं गद्यरूपं चाक्षरात्मकम् । तत्र तथा सम्यग् गीयतो भवन्तीति गीतानां (लक्षणं)
4. ना0शा0 29/46 प्रथमा मागधी ज्ञेया द्वितीया चार्धमागधी सम्भाविता तृतीया तु चतुर्थी पृथुला स्मृता ।
5. ना0शा0 29 पृ0 - 93 तत्र यतिकालविभागेन वर्णालङ्कार नियमेन लयगानक्रियाविशेषो गीतिरिति सामान्यलक्षणम् ।

होवह "मागधी गीति" कहलाती है[1] । अर्थात् भिन्न वृत्ति या लय में गाई जाने वाली गीति मागधी है । मागधी गीति की अपेक्षाकृत आधे समय में जिसका गान हो वह "अर्धमागधी" है[2] ।

तीसरी गीति सम्भाविता है जिसका लक्षण है दीर्घ अक्षरों से समन्वित गीति[3] आचार्य अभिनव गुप्त ने सम्भाविता गीति का लक्षण बताया है - "उभयत्रापि सम्बन्धीनीयस्तेन बाहुल्यतो यत्र गुरूणि" अर्थात् दोनों गीतियों की अपेक्षा गुरू अक्षरों से युक्त सम्भाविता गीति[4] ।

चौथी गीति पृथुला है । जिस प्रकार सम्भाविता गीति गुरू अक्षरों से युक्त होती है उसी प्रकार पृथुला लघु अक्षरों से युक्त होती है[5] ।

आचार्य अभिनव गुप्त मागधी और अर्धमागधी गीतियों को सामनामध्रुवा में प्रयोज्य मानते हैं अर्थात् मागधी और अर्धमागधी गीतियों को ध्रुवाश्रयी मानकर इन्हें गान्धर्व में प्रयोज्य माना जाता था ये गीतिया "गान" नहीं कहलाती थीं[6] । अभिप्राय

---

1. ना0शा0 29/47 प्रथमपाद - त्रिनिवृत्त प्रगीता या गीतिः सामाधधी स्मृता ।
2. ना0शा0 29/47 अर्धतः सन्निवृत्ता च विज्ञेया ह्यर्धमागधी ।
3. ना0शा0 29/48 प्रथमपाद सम्भाविता च विज्ञेया गुर्वक्षरसमिन्विता ।
4. ना0शा0 93
5. ना0शा0 29/48 द्वितीयपाद - पृथुलाख्या च विज्ञेया नित्यं लघ्वक्षरन्वित।
6. ना0शा0 पृ0 - 94 ध्रुवाश्रयो योमस्तद्वर्जमेता गीतयो गान्धर्व एव प्रयोज्या न तु गान इति तात्पर्यम् । मागध्यर्धमागध्यौ सामनामध्रुवास्तु प्रयोजितौ ।

है कि भरत काल में गीतियों का प्रयोग नाट्य के विभिन्न प्रसंगों में ध्रुवाओं के अन्तर्गत किया जाता था उस समय "गान" को साधारण मानते थे ।

सम्भाविता और पृथुला गीतियाँ क्रमशः गुरू तथा लघु अक्षर वाली होती थी आचार्य अभिनव गुप्त ने इनकी विशिष्टता के लिए कहा है सम्भाविता और पृथुला जातियाँ करूण तथा रौद्ररस से युक्त गुरू तथा लघु अक्षर वाली विशिष्ट गीतियाँ हैं[1] ।

इन सभी गीतियों का प्रयोग ध्रुवा के अन्तर्गत किया जाता था "एतासतु गीत्यो ज्ञेया ध्रुवायोगं विनैव हि"[2] ।

यहाँ एक तथ्य उल्लेखनीय है कि भरत ने अलंकार एव वर्णों की पूर्ण व्याख्या और प्रयोजन बताकर तब गीतियों का उल्लेख किया है । इसका भाव यह है कि विविध प्रकार के वर्णाश्रित अलंकारों से प्रथम "कंठ वीणा" को समृद्ध बनाया जाय, अर्थात् आवाज निर्माण (Voice Culture) के पश्चात् ही कंठ संगीत की "उपज" गीतियों को समृद्ध बनाया जाता था, बल्कि भरत ने यह भी कहा है कि बिना अलंकारों के गीति किसी भी प्रकार शोभायमान नहीं हो सकती क्योंकि वर्णाश्रित अलंकार कंठ को स्वर और श्रुतियों की दृष्टि से समृद्ध बनाते हैं इस प्रकार गला तैयार होने के बाद ही गीतियों की अभिव्यक्ति melodious होगी ।

तन्त्रवाद्यों की वादन प्रक्रिया:

कंठगत गीतियों के स्वरों को ही दारवी यानी तत्कालीन वीणाओं पर बजाने की प्रथा थी । क्योंकि नाट्यशास्त्र के अनेक उल्लेखों से संकेत मिलता है

---

1. ना0शा0 सम्भावितापृथुले --- तेनापसारित्वेनैतद्ध्रुवासु हि करूण रौद्रादिम (रसा) नुसारेण गरूलध्वक्षर विनियोगो गीतिषु यथेष्ट भेवेति विशेषः ।

तन्त्रवाद्यों के वादन में अधिकांश सामग्री "तत्कालीन जातियों" के स्वरों से ली जाती थी । भरत निर्दिष्ट शुष्क "और" वर्हिगीत आदि तन्त्रवाद्यों के वादन के लिए प्रयुक्त किया गया है । डॉ0 मुकुन्द लाट ने स्पष्ट किया है कि "शुष्क" वस्तुतः एक प्रकार का गायन था जिसे वीणाओं पर बजाया जाता था[1] ।

स्वयं भरत ने निगर्ति और वर्हिगीत को शब्द रहित गायन कहा है जिसे वीणाओं पर बजाया जाता था[2] । इसी की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनव गुप्त ने भी वीणाओं पर बजने वाली सामग्री को निर्गीत, वर्हिगीत और शुष्क गीत कहा है । इससे स्पष्ट होता है कि तत्कालीन गीतियों को वीणाओं पर बजाया जाता था । डॉ0 मुकुन्द लाट के कथन से भी स्पष्ट होता है " Bharat relates nirgita to singing also, nirgita, he says is also know as boohirgita, because it is sung with a sbing of syllabus without using meaning full wards[3]. इस प्रकार तत्कालीन संगीत में प्रयोज्य शुष्क, निर्गीत, वर्हिगीत आदि शब्द तन्त्र वाद्यों से वादन के लिए प्रयुक्त किया जाता था तथा इनकी गेयता के आधार पर तत्कालीन जातियों और गीतीयों के स्वर स्थापित किये जाते थे । आज भी सितार आदि में गीतकारी या वादन सामग्री प्रचलित ध्रुवपद, ख्याल आदि गायन शैलियों के स्वरूप से ली जाती है । तन्त्रवाद्यों की गेयता का स्वरूप तो पूर्णतः ध्रुवपदांग से लिया जाता है ।

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 98 Suska as defined by dattila was instrument music in itself --- In suska too. It was a song that one played with the difference that there was no vocal melody.

2. ना0शा0 निगीतमिति । वादित्रं तद्गतं शुफाख्यं वीणावाद्यम् 5, 31-41

3. दत्तिलम् मुकुन्द लाट पृ0 - 98

इसी कारण भरत ने क्रमानुसार कंठ की समृद्धि के[1] लिए वर्ण एवं अलंकारों की विशद चर्चा करने के बाद गीति के स्वरूप तथा प्रकारों पर प्रकाश डाला है जो प्रसंगानुसार सहैतुक है । तद्वत तन्त्रवाद्यों की वादन प्राविधि (Technique) की समृद्धि के लिए महर्षि भरत ने तन्त्र वाद्यों के लिए करण-धातु आदि की चर्चा की ।

तन्त्रीकृतातोद्य के धातु-करण, अभिप्राय:

करण एवं धातु से भरत का अभिप्राय मिजराफ़ या कोण के द्वारा वीणा सितार आदि तन्त्रवाद्यों पर किये गये प्रहारों से निकलने वाले "बोल" अर्थात् कोण की सहायता से वीणा आदि तन्त्रवाद्यों पर किस प्रकार प्रहार किया जाए जिससे तन्त्रवाद्यों पर बोल निकल सकें । यानि करण तथा धातु आदि तन्त्रवाद्यों को बजाने की टेक्नीक (Technique) है । जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट का मत है "धातु" से अभिप्राय तन्त्रवाद्य बजाने की विधि "अतएव" "धातु से तात्पर्य" वीणा वादन या वीणा पर निकलने वाले "बोलों" का तरीका या विधि[2] ।

महर्षि भरत ने वीणा पर वर्ती जाने वाली इस विधि "धातु" के चार प्रकारों का उल्लेख किया है । विस्तार धातु - करण - अविद्ध - व्यंजन धातुओं के इन चार प्रकारों के अन्तर्गत तत्कालीन[3] वीणा-वादन की समस्त क्रियाएं सम्पादित करने की विधियाँ निहित थी । आज भी सितार आदि तन्त्रवाद्यों में मिजराफ आदि के प्रहारो में भरत निर्दिष्ट विस्तार - करण आविद्ध आदि धातुओं के स्वरूप को

---

1. ना0शा0 29 पृ0 - 94 एवमलंकारप्रसंगेन गीतय उक्ताः
2. दत्तिलम् - डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 96 Dhatu was a term relating to the technique of playing instruments.
3. ना0शा0 29/50 विस्तारः करणश्च स्यादाविद्धो व्यंजनस्तथा
   चत्वारि धातयो गेया वादित्रकरणाश्रया ।

देखा जा सकता है क्योंकि ये धातुएं तन्त्रवाद्यों पर स्वर निकालने के लिए किये गये प्रहारों के तरीके हैं । इसी कारण भरत का कड़ा निर्देश है कि तन्त्री वादकों को इन सभी का ज्ञान होना आवश्यक है ।

धातुओं के इन सभी प्रकारों में करण धातु का सर्वाधिक महत्व था क्योंकि करण के विभिन्न प्रकारों से तन्त्रवाद्यों के विभिन्न बोल बनते हैं जैसा डॉ0 लाट लिखते हैं[1] । Karana (literally the act of making, doing, producing, effecting etc.) stood for the technique of making various strokes on the vina or the method of playing it.

अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रहारों से निर्मित बोल "करण" है ।

इस प्रकार धातु और करण को भरत ने अत्यधिक महत्व दिया है । इसी कारण धातु का विवेचन भरत ने पर्याप्त मात्रा में किया है[2] । आचार्य अभिनव गुप्त "धातु" के संबंध में लिखते हैं कोण या मिजराफ़ के प्रहार से उत्पन्न स्वर धातु हैं[3] । वीणावादन में "धातु" अत्यधिक व्यापक रूप में प्रस्तुत किया गया है धातु के ही अन्तर्गत करण आदि आते हैं । आधुनिक संगीत की दृष्टि से भरत निर्दिष्ट "करण" को सितार आदि के बोलों की संज्ञा दी जा सकती है और धातुओं को बोलों की लड़ियाँ कहा जा सकता है । ये लड़ियाँ वीणा या सितार आदि

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 96
2. दत्तिलम् पृ0 - 97 Bharat evidently considered dhatu an important topic and has described it at length.
3. ना0शा0 पृ0 - 95 प्रहारविशेषजन्याः स्वराः । तत्समुदायोऽपि जन्यशकल्पमानो धातुः ।

तन्त्रवाद्यों पर लगातार प्रहार करने से निर्मित की जाती है । जैसे सितार के तार पर मिजराफ़ से प्रहार किया जाए तो निकलने वाला "दा" या "रा" बोल को भरतोक्त "करण" है । इन्हीं करणों या बोलों की मिश्रित लड़ी या बोलों का समूह "धातु" कही जा सकती है जैसे ददिरदारा, दिरदिरदारा आदि दा या रा बोल का मिश्रित स्वरूप है जिसे हम भरतोक्त धातु कह सकते हैं । जैसा आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं "तदाश्रया:" अर्थात् करण आदि प्रहारों से उत्पन्न स्वर धातु है[1] । विस्तार - करण आदि धातु के चार भेदों के अतिरिक्त भी इनके अनेक उपभेद हैं । धातु के ये भेद तत्कालीन वीणाओं को बजाने के भिन्न-भिन्न तरीके या टेक्नीक्स थीं ।

1. विस्तार धातु:

विस्तार धातु वीणावादन में कोण से तन्त्री को छेड़ने की वह विधि है जिसमें प्रहारों की संख्या के अनुसार बोल निर्मित किये जाते हैं । विस्तार धातु का अभिप्राय आचार्य अभिनव गुप्त करते हैं अर्थात् अंगुली या कोण के प्रहारों से उत्पन्न करण या बोल निकालना विस्तार धातु है[2] । इसका अभिप्राय है कि जितने प्रहारों का विस्तार किया जाता है उसी अनुपात में बोलों का भी विस्तार होता है इसीलिए इसका नाम सम्भवत: विस्तारज रक्खा गया हो विस्तार से उत्पन्न होने वाले बोल । इस सम्बन्ध में बाबू लाल शुक्ल शास्त्री ने कल्लिनाथ के कथन को उद्धत किया है एक प्रहार से उत्पन्न विस्तार "धातु"[3] आधुनिक सितार वादन की

---

1. ना0शा0 पृ0 - 95 तदाश्रया: प्रहारविशेषजन्या इति यावत् । अंशेन सामान्यलक्षण आधुनामुक्तम् ।
2. ना0शा0 पृ0 - 95 वाद्यतेऽनेनेति वादित्रमंगुलीकोणादि । तस्य यत् करण प्रयत्नम् तदाश्रया: प्रहारविशेषजन्या इति यावत् ।
3. प्रदीपहिन्दी व्याख्या ना0शा0 में उद्धत पृ0 - 8 / एक: प्रहारभवोविस्तारज:

द्रृष्टि से यदि सितार के बाज वाले तार पर मिजराफ़ से जब एक बार एक प्रकार से प्रहार किया जाता है तो "दा" बोल निर्मित होता है उसी प्रकार जब दूसरे प्रकार से तार को छेड़ा जाता है तो "रा" बोल निकलता है । इसी प्रकार क्रम से तार के अन्दर और बाहर प्रहार करते रहने पर रा, रा, दारारा, आदि अनेक बोल निकलते हैं । बोलों के इसी विस्तार प्रक्रिया को भरत की "विस्तार धातु" समझा जा सकता है । "विस्तार धातु" के विविध प्रकार संघातज, समवाय आदि हैं । आचार्य भरत ने विस्तार धातु के चार प्रकारों का उल्लेख किया है[1] । अर्थात् विस्तार धातु के संघातज समवाय - विस्तार - अनुबन्ध ये चार प्रकार हैं ।

तन्त्रवाद्यों पर किये गये प्रहारों की संख्याओं से क्रमशः संघातज समवाय आदि धातु प्रकारों की निर्माण प्रक्रिया है । अर्थात् सितार या वीणा पर कोण के एक प्रहार करने पर जो बोल निकाला जाए वह विस्तारज धातु है फिर इसी की संख्या - वृद्धि से दुगने और तिगुने प्रहारों से जो बोल निर्मित हुए वे क्रमशः संघातज और समवाय धातु के बोल थे । जैसे दादिरदारा, दारादारा सितारवाद्य पर निकलने वाले बोलों की इन्हीं लड़ियों में संघातज "समवाय" धातुओं का स्वरूप दिखाई देता है ।

संघातज और समवाय धातुओं के मिश्रण से सम्भवतः अनुबन्ध "धातु" प्रकार बनता है । धातुओं के इन प्रकारों में "करण" का सर्वाधिक महत्व है करण को आज की तन्त्रवाद्यों की भाषा में "बोल" की संज्ञा दी जा सकती है । "करण" के विविध प्रकारों से धातुओं का निर्माण किया जाता था[2] । अतएव करण के ही विशेष प्रयोग से संघातज और समवायज धातुओं के क्रमशः चार और आठ प्रकार के

---

1. ना0शा0 29/51 सघातजोऽथ समवायजश्च विस्तारजोऽनुबन्धकृतः ज्ञेयश्चतुष्प्रकारो धातुर्विस्तारसंज्ञश्च ।

2. ना0शा0 29/50 द्वितीयपाद-चत्वारो धातवो ज्ञेया वादित्रकरणाश्रया ।

बोलों का निर्माण होता है । अर्थात् करण के विशिष्ट प्रयोग चार और प्रकार के बोलों का निर्माण करते हैं । आचार्य अभिनव गुप्त के मतानुसार "करणानां विशेषेण" का अभिप्राय करण के "अवान्तर भेद"[1] इस संदर्भ में डॉ0 मुकुन्द लाट लिखते हैं वीणा पर विभिन्न प्रकार से किये गए प्रहार करना करण है[2] अर्थात् वीणा पर बोल निकालने की टेक्नीक (Technique) भरत निर्दिष्ट करण है "करण" के विविध प्रयोग ही अन्य प्रकार की धातुओं का निर्माण करते हैं[3] । संघातज धातु की विधि में तन्त्री को ऊपर तथा नीचे छेड़े जाने पर जो बोल निकलते हैं। वे वीणा के मन्द्र तथा तार स्वरों की निर्मित करते हैं[4] । "अध: ऊर्ध्व:" को आचार्य अभिनव गुप्त ने दत्तिलाचार्य के मत को उद्धृत करते हुए स्पष्ट किया है संघाजत विधि में ऊध: ऊर्ध्व: से अभिप्राय वीणा पर मन्द्र और तार सप्तक के स्वरों की निर्मिति । "मन्द्रतारस्वरौ वीणायामधरोत्तरजौ"[5] । इसके पश्चात् संघातज धातु के द्वावुत्तर और द्विरधर प्रकार बनते हैं अर्थात् वीणा की तन्त्री के उत्तर भाग में जब दो बार वादन किया जाए तो वह "द्वावुत्तर" प्रकार है । जब वीणा के अधर भाग में तन्त्री की द्विवारवादन करने पर द्विरध प्रकार बनता है । यहाँ पर उत्तर और अधर से अभिप्राय वीणा का उत्तर भाग यानी तुम्बे के निकटस्थ निकलने वाले स्वर, मध्य सप्तक के स्वर होते हैं और अधर से अभिप्राय, वीणा की खूटियों के निकट

---

1. ना0शा0 29/53 पूर्वश्चतुर्विधस्तत्र पश्चिमोऽवरोवध: स्मृत: । करणानां विशेषेण विज्ञयौ तौ पृथक् - पृथक् ।
2. ना0शा0 पृ0 - 96 क्रियाविशेषादवानृतरभेदा इति ।
3. दत्तिलम् पृ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 96 Karana stood for the technique of making various strokes on the vina.
4. ना0शा0 29/96 - "क्रिया विशेषदवान्तरभेदा इति"
5. ना0शा0 पृ0 - 96 अधश्चोर्ध्व चेति । नात्र विकृतभौत्तराधर्यम् । किन्तु शरीरे यावदधरोत्तरजौ मन्द्रतारस्वरौ वीणायामधरोत्तरजौ यथाह दत्तिल ।

वाला भाग, उस स्थान से मन्द्र स्वरों की उत्पत्ति होती है अतएव वीणा के अधर और उत्तर भागों से निकलने वाले स्वर भरत- निर्दिष्ट मन्द्र और मध्य सप्तक के स्वरों का संकेत देते हैं जो अपने आप में वैज्ञानिक है । अधर और उत्तर भाग पर पुनः दोवार प्रहार करने पर "द्वावुत्तर" और "द्विरधर" प्रकार बनते हैं[1] । ये संघातज धातु से वादन प्रकार हैं । आचार्य अभिनव गुप्त इसका स्पष्टीकरण करते हैं इस प्रकार अधर और उत्तर स्वरूप को लेकर संघातज धातु के प्रकार बनाये जाते हैं[2] ।

इसी क्रम में वीणा की तन्त्री को पहले अधर भाग में फिर उत्तर भाग में छेड़ने पर "उत्तरावसान" संघातज धातु का प्रकार बनता है[3] । भाव यह है कि वीणा की तन्त्री को पहले अधर और फिर उत्तर भाग को छेड़ना उत्तरावसान धातु प्रकार बनता है । इसी प्रकार "उत्तरावसान" के विपरीत वीणा की तन्त्री को पहले उत्तर भाग में फिर अधर भाग पर छेड़ने से "अधरासन धातु" की प्रक्रिया की जाती है[4] । अभिप्राय यह है कि वीणा पर ऊपर नीचे, नीचे ऊपर प्रहार किये जाने पर भिन्न - भिन्न बोलों की सृष्टि होती है जो संघातज धातु के अन्तर्गत आती हैं ।

इसी प्रकार समवायज धातु के अन्तर्गत भी भिन्न - भिन्न प्रकार के प्रहारों से अनेक बोलों की सृष्टि की जाती है । आचार्य अभिनव गुप्त के मत से समवायज के ये प्रकार आठ हैं जो निम्न हैं "अथ समवायस्य भेदाष्टकमाह"[5] ।

---

1. ना0शा0 29/55 "प्रथम पाद द्विरूत्तरो द्विरधरस्तु"
2. ना0शा0 पृ0 - 96 एवमधरोत्तरस्वरूपमभिधाय तत्कृतसंघातजस्य भेदचतुष्कं सूत्रयति संघातज इति ।
3. ना0शा0 पृ0 - 96 अधरादिश्चोत्तरावसान ।
4. ना0शा0 29/53 द्वितीय पाद तथोत्तरादिःपुनरप्यधरावसानश्च ।
5. ना0शा0 पृ0 - 96

जैसे त्रिरूत्तर - त्रिधर - द्विरधरोत्तर - द्विरधर -

1. त्रिरूत्तर धातु में वीणा की तन्त्री पर उत्तर भाग में तीन बार प्रहार करने से बोल निकालना ।

2. त्रिधर से अभिप्राय है वीणा के अधो भाग में तन्त्री पर तीन बार वादन करने से बोल निकालना ।

3. "द्विरूत्तरावसानश्च" का अर्थ है दो बार अधर और एक बार उत्तर भाग में प्रहार करने से निकलने वाले बोल ।

4. "द्विरूत्तरोऽप्यधरमध्यश्च" से अभिप्राय है दो बार उत्तर भाग में एक बार मध्य और एक बार अधर पर छेड़ने से निकलने वाले बोल ।

5. मध्योत्तर से अभिप्राय है मध्य और उत्तर भाग में छेड़ने से निकलने वाले बोल ।

6. उत्तरमुखो, मध्योत्तरो आदिबोल निकालने की प्रक्रिया हैं जिनमें क्रमशः उत्तर मध्य और अधर भाग में प्रहार किया जाता है इस प्रकार वीणा तन्त्री के नीचे ऊपर और मध्य भाग में एक, बार, द्विबार और तीन बार प्रहार करने से विभिन्न प्रकार के बोलों का निष्कासन होता है[1] । ये बोल समवाय धातु के अन्तर्गत आते हैं ।

---

1. ना0शा0 29/56-57
समवायजस्तथा स्यात् त्रिरूत्तरीस्त्रधर विज्ञेयः
द्विरधरोत्तरा (रो) धारान्तो (द्विरधश्चो) रोऽथो (तरविरामश्च) उत्तरमुखो द्विरधरो द्विरूत्तरावसानश्च ।
मध्योत्तरो द्विरधरो द्विरूत्तरोऽप्यधरमध्यश्च ।

इसी प्रकार अनुबन्ध धातु के चौदह प्रकार हैं जिनसे विभिन्न प्रकार के बोल निकाले जा सकते हैं[1] । आचार्य अभिनव गुप्त "अनुबन्ध धातु" को वे बोल मानते हैं जिनमें विविध बोलो का मिश्रण होता है[2] । अर्थात् मिश्रित बोल अनुबन्ध धातु के अन्तर्गत आते हैं जिनकी संख्या चौदह है । करण धातु के पाँच भेदों का उल्लेख "नाट्यशास्त्र" करता है । यथा रिभित - उच्चयनी रीभितो - ह्राद - अनुबन्ध[3]। आचार्य अभिनव गुप्त के मतानुसार रिभित से अभिप्राय - प्रथम दो प्रहार लघु तीसरा और गुरू से रिभित धातु बना । रिभित का अभिप्राय नवां गुरू तथा अन्य लघु होने उच्च से अभिप्राय पन्चम ।

ह्राद का अर्थ लघु से है तथा अनुबन्ध से अभिप्राय इन सभी रिभित, उच्च, ह्राद आदि के भेदों से अनुबन्ध इस प्रकार पाँच प्रकार के करण धातु[4] है ।

इस प्रकार तृतीय, पन्चम, सप्तम और नवम के यथा क्रमानुसार वीणा वाद्य पर मिश्री भाव से "सर्वैरनुबन्धकृतौ" बजाए जाने पर करण धातु का बोध होता है[5] ।

इस प्रकार आविद्ध धातु के भी पाँच प्रकार हैं । क्षेपः प्लुत-अतिपात-

---

1. ना0शा0 29/58 अनुबन्धस्तु ज्ञेयो व्याससमासाश्च नियतमेषांहि एव चतुर्दशविधो विस्तारो धातुराख्यातः ।
2. ना0शा0 पृ0 - 97 व्यासो भेदानां मिश्रत्वेन प्रयोग । .... अनुबधयते मिश्री क्रियते भावो यत्रेत्यनुबन्ध ।
3. ना0शा0 29/59 रिभितोच्चयनीरीभिते । (ता) हादस्तु तथा अनुबन्धः स्यात पन्चविधो विधो विज्ञेया विस्तारों करणधातुः ।
4. ना0शा0 29/पृ0 98 आदौ द्वौ प्रहारौ लघु तृतीयो गुरूरिति रिभितः पन्चम हत्युच्च । सप्तम इति नीर (रि) भितः नवमो गुरूरन्ये लाधवः । ह्यो लङ्व्य इति । एतद्भेदानुबवन्धनादनुबन्ध इति । पन्चधा क्रिया बाहुल्यात् करण धातुः ।
5. ना0शा0 29/60 त्रिकपन्चमसप्तमनवकैर्यथाक्रमं संयुतो भवेद्वाद्ये सर्वैरनुबन्धकृतौ

अतिकीर्ण - अनुबन्ध[1] महर्षि भरत ने आविद्ध धातु के इन पाँच प्रकारों के लक्षणों का भी उल्लेख किया है यथा दो तीन, चार और नौ प्रहारों से किये गये आविद्ध धातु के लक्षण समझे जाएं[2] आचार्य अभिनव गुप्त ने इन लक्षणों को अच्छी प्रकार स्पष्ट किया है जैसे लघु से द्विकं, चार लघु इसी क्रम से नौ लघु अर्थात् लघु प्रहारों से आविद्ध धातु बनती है[3] । यहाँ भरत का अभिप्राय आविद्ध धातु के अन्तर्गत विशिष्ट प्रहारों के द्वारा बोल निकालना है । आविद्ध धातु के विभिन्न प्रहारों से यही संकेत मिलता है कि वीणा की तन्त्री पर मिजराफ के प्रहार करने की विविध विधियाँ इसीलिए भरत का मत है "द्विस्त्रिचतुष्कनवकैः प्रहारैः क्रमशः कृतैः" इसी प्रकार वीणा की तन्त्री पर अंगुली और अगूँठे आदि के द्वारा तरह - तरह से प्रहार करने और स्पर्श करने से बोल बनते हैं बल्कि इसे यो समझना चाहिये कि जिस प्रकार आज तन्त्रवाद्यों पर मींड़ आदि का कार्य किया जाता है वहीं कार्य व्यंजना धातु में निर्दिष्ट "पुष्पं कलतलनिष्कोटितं" जैसी क्रियाओं से किया जाता रहा होगा ।

इस प्रकार की क्रियाएं व्यंजन धातु में दस प्रकार से की जाती थी । यथा -

व्यन्जनधातोः पुष्पं कलतलनिष्कोटितं तथोद्धृस्म् रेपत्रेऽनुबन्ध - संज्ञोऽनुस्वनितं बिन्दुरवमृष्टम्[4] ।

---

1. ना0शा0 29/61 क्षेपः प्लुतो तिपातोऽतिकीर्णम् (णोःऽ) अनुबन्ध सरितम् आविद्धो विज्ञेयो धातुर्वै पन्चविध एव ।
2. ना0शा0 29/62 द्विस्त्रिश्तुष्कनवकैः प्रहारैः क्रमशः कृतैः अविद्धधातुविज्ञेयः सानुबन्धविभूषितः ।
3. ना0शा0 पृ0 98 लघुरिति द्विकं लघुश्चतुर्लघुरित्येके । एवं यावन्नवक अन्ये तु क्रमशद्बलक्षणालघुसन्चयरूपत्वमेव प्रहाराणां मन्यन्ते लघु प्रहारत्वादेव भास (त) आविद्ध धातु ।

-------- इति दशविधः प्रयोज्यो वीणायां व्यन्जनो धातो[1] पुष्पं-कल - तल - निष्कोटितं - उन्मृष्टम् - रेफ - अनुबन्ध अनुस्वानितं - बिन्दु-अवमृष्टं इस प्रकार व्यंजन धातु के दस प्रकारों का उल्लेख है ।

"पुष्पं" व्यंजन धातु कनिष्ठ अंगुली और अंगूठे से तन्त्री पर प्रहार करना पुष्पं कहलाता है[2] ।

अंगूठों के द्वारा तन्त्री पर स्पर्श करते हुए बोल निकालनी "कल" धातु कहलाती है[3] ।

इसी प्रकार वाम हाथ के अंगूठे से तन्त्री दवा कर दक्षिण हाथ से स्वरों को निकालना " तल " धातु कहलाती है[4] ।

सभी अंगुलियों के द्वारा एक ही स्वर निकालना "रेफ" कहलाती है[5] । इस प्रकार महर्षि भरत ने धातु और करण तथा उनके अवान्तर भेदों के द्वारा 'तन्त्र-वादन की Techniques का बहुत ही सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है ।

मूलतः विस्तार - करण - आविद्ध - व्यंजन आदि चार धातुएँ हैं। इन्हीं के अवान्तर भेद निम्न हुए -

---

1. ना0शा0 29/69
2. ना0शा0 29/69 प्रथम पाद कनिष्ठागुष्ठ संयुक्त पुष्पमित्यीभराशित ।
3. ना0शा0 द्वितीय पाद अंगुष्ठाभ्यां समं तन्त्रयोः स्पर्शनं चत् कलं बुतन।
4. ना0शा0 29/65 अंगुष्ठाभ्यां समं तन्त्रयोः स्पर्शन् यत् कलं तुतत ।
5. ना0शा0 29/65 प्रथम पाद - वामन जेडनं कृत्वा दक्षिणेनाहतिस्तले ।

विस्तार धातु के 14 प्रकार एवं चतुर्दशविधो विस्तारो "धातुदाख्यात:"
करण धातु के 5 प्रकार - पन्चविधो - - करण धातु:
आविद्ध धातु के 5 पा प्रकार - आविद्ध विज्ञेयो धातुर्वै पन्चविध एव
व्यंजनं धातु के 10 प्रकार - इति दशदशविध: प्रयोज्यो वीणायां व्यन्जनोधातु:
धातु के 34 प्रकारों का उल्लेख भरत ने तत्कालीन वीणाओं के वादनविधि में किया है ।

आधुनिक तन्त्रवाद्यों के संदर्भ में भरतोक्त धातु, करण:

भरत ने धातु के इन विविध प्रकारों का इतना सूक्ष्म और विस्तार से वर्णन किया है कि इनके प्रयोग से समस्त तन्त्रीवाद्यों पर प्रहार करने से निकलने वाले समस्त बोलों का एक स्वच्छ स्वरूप स्पष्ट हो जाता है ।

यही नहीं धातुओं के इन प्रकारों से यह भी संकेत मिलता है कि जिन धातु से जिन रागों या जातियों में रंजकता की वृद्धि हो उसी धातु-प्रकार को उन राग में प्रयोज्य किया जाना चाहिए ।

भरत-प्रोक्त तन्त्रवाद्यों के संदर्भ में "धातु" बोल निकालने की ऐसी समीचीन योजना है जिसमें प्रारम्भिक बोल साधन से लेकर कठिन से कठिन वैचित्र्य उत्पन्न करने वाले बोलों की साधना का क्रम है । जैसे प्रारम्भिक बोल निकालने के लिए एक प्रहार से एक बोल, दो प्रहार से दो बोल, उसी प्रकार प्रहारों की संख्यानुसार बोल निकालने का तरीका "विस्तारज" धातु के द्वारा बताया गया है ।

इसी प्रकार करण और आविद्ध धातुओं के विभिन्न प्रहारों से वीणा पर बोल साधन का अभ्यास हो जाय, उसके बाद भरत ने व्यंजन धातु का उपयोग बताया है ।

जिसमें क्रमशः कल, तल, निष्कोटित अन्मृष्ट, रेफ आदि प्रकारों में दाहिने बायें हाथों की अंगुलियों और अंगूठे के उपयोग या प्रहारों से भिन्न - भिन्न प्रकार के वे बोल निकाले जा सकते हैं जिनसे वैचित्र्य पूर्ण स्वरों की उत्पत्ति होती है[1] । अर्थात् भरत-मत से पहले साधारण बोल निकालने की साधना आवश्यक है इस साधना के बाद तन्त्री वाद्यों की उच्च स्तर की वादन शैली का विकास किया जाना चाहिए ।

आधुनिक सितार - वादन की अधिकांशतः शिक्षा का आधार भरत के धातु प्रकार है । जिसमें प्रारम्भिक शिक्षा "बोल साधन" से आरम्भ की जाती है । जिसमें तार के अन्दर एक प्रहार से "दा" बोल और तार के बाहर प्रहार करने से "रा" बोल की सृष्टि की जाती है जिसे भरत का "विस्तारण" धातु की संज्ञा दी जा सकती है । फिर इसी दा और रा के मिश्रण से अन्य मिश्रित बोल "दादिर दारा" "दारा दिर दिर" बोलों की लड़ियों का विस्तार किया जाता है । भरत निर्दिष्ट धातुओं के ये प्रकार तन्त्रवाद्यों की बुनियादी Fundamental Techniques है, जिनके प्रयोग से तन्त्रवाद्यों पर प्रारम्भिक बोल साधन से क्रमशः वाद्यों की उच्चस्तरीय तालीम का विधान निहित है । डॉ0 मुकुन्द लाट ने लिखा है - Bharat on the contrary, lays, a great and basic stress upon vina not only he describes its techniques at length, he also arranges the topics in his "Svaroddesa" in relation to the vina.[2]

---

1. ना0शा0 पृ0 - 99 अभिनव गुप्त तन्त्र्यां तथा प्रहरणयोगादनाहतप्रायं मधुरतरस्वर जननं तन्त्रीषु मार्जनामात्रमेव भवति । सर्वाभिरंगुत्तिभिरेक-स्वरतादयः पर्यायेण विचित्रः । एकत्र विश्रानिः ।

2. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 96

वीणा वादन की Techniques अपने में इतनी समृद्ध है जिसमें क्रमशः एक-एक स्वर, एक स्वर पर ही तीन, चार स्वरों को निकालना तर्जनी के नाखून से तन्त्रवाद्यों पर बोल निकालने की विधि, इसी प्रकार दायें - बायें हाथ की अंगुलियों और अंगूठे के स्पर्श या प्रहार से तन्त्रीगत अन्य कठिन तथा वैचित्र्यपूर्ण स्वरों को निकालना व्यंजन धातु के तल, कल, रेफ निष्कोरित आदि की सूक्ष्म जानकारी नाट्यशास्त्रकार देता है[1] । प्रचलित संगीत के संदर्भ भरत-निर्दिष्ट वीणा वादन की ये Techniques खरी उतरती है । आधुनिक तन्त्रवाद्य सितार आदि पर निकलने वाले दा, रा, दिर आदि भरत के "करण" धातु और इन बोलों के मिश्रण से बने, दादिरदारा दिर-दिर धारा आदि भरतोक्त विस्तार धातु के प्रकार है अन्तर केवल यहीं है कि आज संगीत में प्रयुक्त होने वाली इन विधियों की संज्ञा परिवर्तित है । एक तथ्य और उल्लेखनीय है कि भरत ने कंठ संगीत में प्रयुक्त गीतियों से पूर्व आवाज निर्माण के लिए वर्ण एवं अलंकारों की पूर्ण विवेचना की है तथा तन्त्रवाद्यों के प्रकारों से पूर्ण वीणा वादन की पूर्ण Technique का विश्लेषण किया । इस प्रकार कंठ एव वीणा दोनों में स्वर - निकास की जानकारी दी है ।

तन्त्रवादन की प्रक्रिया में वृत्तियों का स्थान महत्वपूर्ण है अतएव भरतोक्त वृत्तियों का उल्लेख करना आवश्यक है ।

वृत्तियाँ: (तन्त्रवादन की शैलियाँ)

आज की तरह भरत काल में भी तन्त्रवाद्यों की भिन्न-भिन्न वादन शैलियाँ थीं जिनका निर्माण धातुओं के विविध प्रयोगों तथा तन्त्री पर किये गये

---

1. ना०शा० 29/64, 65, 66, 67
   कनिष्ठागुलष्ट संयुक्तं पुष्पमित्यभिसंज्ञितम् ।
   अगुष्ठाभ्यां समं तन्त्र्यो स्पर्शन यत् कलं तु तत्
   गुर्वक्षरकृता तन्त्री विन्दुरित्यभिसंज्ञितम् ।

भिन्न - भिन्न प्रहारों से उत्पन्न बोलों कें द्वारा निर्मित की जाती थी । भरत ने वीणा वादन की इन्हीं शैलियों या Styles को "वृति" कहा है । वादन की ये पद्धतियाँ वस्तुतः धातुओं के विविध प्रयोगों पर निर्भर थी इन्हीं वृत्तियों या पद्धतियों पर तत्कालीन वीणा - वादन आश्रित था । वृत्तियाँ भरत ने तीन बताई है[1] ।

डॉ0 मुकुन्द लाट ने आचार्य अभिनव गुप्त के मत को उद्धृत करते हुए लिखा है -

Uriti Abhinava says, is in musical practice the notion of dominance or subordination of song in relation to the accompanying instrument.[2]

अर्थात् भरतोक्त वृत्तियाँ कंठ - संगीत और वाद्य संगीत की वह विधि है जिनमें गीत और वाद्यों पर निकलने वाले विभिन्न बोलों का सिद्धान्त निहित रहता है और इसी के अनुरूप गीत और वाद्य के Styles का निर्माण है[3] । इसीलिए भरत ने तीन प्रकार की वृत्तियों का उल्लेख किया है तिसृणामपि वृत्तीनां ।

1. चित्रावृति
2. दक्षिणा वृति
3. वृत्ति या वार्त्तिक वृति ।

---

1. ना0शा0 29/70 तिसृणामपि वृत्तीनां येषु वाद्यं प्रतिष्ठितम् ।
2. दत्तिलम् पृ0 - 96 डॉ0 मुकुन्द लाट ।
3. ना0शा0 29/71 द्वितीयपाद वाद्यगीतोभयगुणा निर्दिष्टास्ता यथाक्रमम् ।

चित्रावृति - यह तत्कालीन तन्त्रवाद्यों की वह शैली है जिसमें तत् वाद्यों की प्रधानता तथा गीत की गौणता रहती है तत्वाद्यप्राधान्ये गीतगुणतेतिचित्रावृत्तिः[1] आचार्य अभिनव गुप्त चित्रावृति के संबंध में व्याख्या करते हैं तत्वाद्य प्रधान चित्राकृति[2] है । डॉ0 मुकुन्द लाट के शब्दों में जब तत् वाद्य प्रधान और गीत गौण होता है तब चित्रावृति[3] है । भरत ने चित्रावृत्ति के लक्षणों का निर्देश दिया है जिसमें वाद्य ताल - द्रुतलय - समायति - अनागत ग्रहों की प्रधानता होती हो वह चित्रावृति है[4] । चित्रावृति वाद्य प्रधान होने के कारण इसमें द्रुतलय की प्रधानता स्वाभाविक है । अर्थात् चित्रावृति वाद्यों के अनुकूल गुणों से युक्त रहती है । इसी कारण इस वृत्ति में वाद्यों की प्रधानता मानी गई है ।

दक्षिणावृत्तिः

दक्षिणावृत्ति चित्रावृत्ति की ठीक विपरीत है । "एतद्विपर्ययस्तु दक्षिणा-वृत्तिः" । अर्थात् दक्षिणावृत्ति गीत प्रधान होती है । आचार्य अभिनव गुप्त दक्षिणावृत्ति की व्याख्या करते हैं जिसमें गीत विशिष्ट हो और तद्नुकूल व्यवहार किया जाए तो वह दक्षिणा वृत्ति है[5] । अर्थात् गीत की प्रधानता और तत्वाद्यों की गौणता रहने के कारण इस वृत्ति में गीतों के अनुकूल किया जाता है । अर्थात् गीतों का प्रयोग इस वृत्ति में अधिक निपुर्णता के साथ किया जाता है । आचार्य भरत ने दक्षिणावृत्ति के लक्षण बताए हैं ताल-यति-गीति-लय-मार्ग आदि की

---

1. ना0शा0 पृ0 - 101 गीतं हि विशिष्टं स्थानीयं प्रधानं तदनुकूलाश्चायं व्यवहारः ।
2. ना0शा0 पृ0 - 100 तत्वाद्यप्राधान्ये गीतगुणतेति चित्रावृत्तिः ।
3. दत्तिलम् पृ0 - 96 When string instruments dominate and song is subordinate, then the uriti which occurs citra.
4. ना0शा0 पृ0-101 तत्र चित्रायां संक्षिप्तवाद्यतालद्रुतलयसमायतिरनागतग्रहाणां प्राधान्यम्।

प्रधानता इस वृत्ति में होती है[1] । अभिप्राय है कि दक्षिणावृत्ति गीति प्रधान होती है और इसी कारण इस वृत्ति में की जाने वाली संगीतात्मक क्रियाएं गीति के अनुकूल की जाती है । जैसा डॉ0 मुकुन्द लाट भी लिखते हैं इस वृत्ति में गीति का प्रभुत्व वाद्यों पर होने के कारण वाद्य गीतों का अनुसरण करते हैं[2] । गीति-प्रधानता से इस वृत्ति में लय, ताल, ग्रह आदि गीति के स्वरूप के अनुसार प्रयुक्त किये जाते हैं । अर्थात् गीतों की प्रधानता इस वृत्ति में विलम्बित लय चतुष्कल ताल गोपुच्छचति-अतीतग्रह तथा मार्ग आदि का प्रयोग किया जाता है[3] ।

वृत्ति या वार्तिक वृत्तिः

यह वह वृत्ति है जिसमें गीत एवं वाद्यों का समान सन्तुलन होता है अर्थात् गीत और वाद्यों का समान रूप से वर्तन यानि प्रयोग किया जाता है । अभिनव गुप्त के मतानुसार नाट्य प्रयोग आदि के अवसर पर गीत और वाद्य का एक सम्भाव से वैचित्र्यपूर्ण प्रदर्शन वार्तिक वृत्ति कहलाता है[4] । डॉ0 मुकुन्द लाट लिखते हैं - The vriti called vriti, occurs when both song and instrument maintain an equal balance.

---

1. ना0शा0 29/तासां ताल गीतिलय यातिमार्गप्राधान्यानि यथास्वं व्यंजकानि भवन्ति ।
2. दत्तिलम् पृ0 - 96 Dasksina vriti is the converse of citra in it song occupies the position of honour and dominates over instrumental playing which seeks merely to follow and echo the song.
3. ना0शा0 29 पृ0 - 101 दक्षिणायां गीतिचतुष्कलताल विलम्वितलयगोपुच्छाय त्यति अतीत गृहाणा प्राधान्यम् ।
4. ना0शा0 पृ0 - 101 यत्र समभेव द्वयोर्व्यवहारस्वत्र साम्येन वर्तानाद् वृत्रिर्नाम ।

आचार्य अभिनव गुप्त इसकी व्याख्या करते हैं[1] "जहाँ वाद्य और गीत दोनों के गुणों का उत्कर्ष हो वहाँ वार्तिक वृत्ति"[2] है वार्तिक या वृत्ति के लक्षण है - गीत वादित्र, मध्यलय - द्विकलताता - स्योगतायति - समग्रह - और मार्ग की प्रधानता रहती है[3] ।

इस प्रकार महर्षि भरत ने चित्रा दक्षिणा और वृत्ति या वार्त्तिक इन तीन वृत्तियों से यथावसर गीत एवं वाद्यों के समुचित प्रयोग या वर्त्तन पर प्रकाश डाला है क्यों कि वृत्ति का अभिप्राय किसी चीज का वर्तन करना प्रयोग करना । यहाँ भरत की उदात्त प्रतिभा का परिचय इस प्रकार मिलता है कि उन्होंने गान्धर्व में प्रयुक्त होने वाले गीत और वाद्यों के प्रयोग के समुचित अवसर बताएं हैं और तद्नुकूल यति, ताल, लय ग्रह आदि का उपयोग बताया है । अर्थात् भरत - काल में Classical (शास्त्रीय) संगीत के वर्तन में पूर्ण अनुशासन था ।

चित्रा - दक्षिणा - वार्तिक या वृत्ति के अनुरूप लय, ताल, अक्षर आदि से युक्त वीणा-वादन की पद्धति में अनुगत - तत्व और ओध ये तीन विधियाँ है । "तत्वौघानुगताश्च वाद्यविधय इति"[4] अर्थात् वीणावाद्य को गीताश्रित करने पर उसके तीन Styles या विधियाँ सम्पादित की जाती है ।

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 96
2. ना0शा0 पृ0 - 101 गुणशब्दोऽत्रोत्कर्ष वाची न त्वप्रधानवाची तेन वाद्यस्य गीतस्य च गुण उत्कर्षौ यत्र प्राधान्यमिति यावत् ।
3. ना0शा0 तथा वृत्तौ गीतवादित्रद्विकलतालमध्यलयस्त्रोतोगतायतिः समग्रहमार्गाणां प्राधान्यम् ।
4. ना0शा0 29 - पृ0 - 103

यहाँ एक तथ्य उल्लेखनीय है कि भरत ने गीत और वाद्य दोनों का पूर्ण समन्वय रक्खा है "वाद्यगीतोभयगुणानिर्दिष्टास्ता यथा क्रमम्"[1] इसका मूल कारण है कि भरत की दृष्टि में "कंठतन्त्री" और वीणा दोनों की तन्त्रवाद्य है जिनका परस्पर समन्वय आवश्यक है । इसीकारण तन्त्रवाद्य वीणा-वादन में तीनों वृत्तियों के अनुरूप तत्व अनुगत और ओध ये तीन विधि भी सम्मिलित की जाती है जो विभिन्न धातुओं के संयोग से निर्मित होती है । इस सम्बन्ध में डॉ0 लाट का कथन -

There were three styles of instrumental playing. These were related to the three vrities. The styles were called tattva - anugata and ogha.[2]

इस प्रकार तत्व, अनुगत और ओध भी वीणावाद्यों की विधियाँ हैं । लय - ताल वर्ण-पद-अक्षर आदि से युक्त तत्व विधि है । जिसमें गीति तत्व प्रधान होने के कारण इसका सम्बन्ध दक्षिणावृत्ति से है । भरत के शब्दों में "लय-ताल-पद-यति-अक्षर आदि के प्रकाशन का मार्ग अवलम्बित करके गीत में लीन होकर वाद्य-वादन करना वीणा-वादन का तत्व प्रकार है[3] । डॉ0 मुकुन्द लाट लिखते हैं कि गीति के स्वर, ताल, लयपद आदि समस्त तत्वों से युक्त होकर किया गया वीणावादन तत्व प्रकार कहलाता है । Tattva was defined as instrument playing in which song - form was strictly adhered too. In the words of Bharat his tattva style echoed

---

1. ना0शा0 29/71 द्वितीय पाद
2. दत्तिलम् - डॉ0 मुकुन्दलाट पृ0 - 97
3. ना0शा0 29/77 प्रथमपाद - लयतालवर्णपदयतिगीत्यक्षरभावकं भवेत् तत्वम् ।

all the elements as such laya, tala, varna, pada and yati - of the structure of song being rendered.[1]

अभिप्राय है नाट्य के प्रसंगविशेष पर गीत के स्वरूप को पूर्णतः स्पष्ट करने के लिए वीणाओं का तदनुरूप वादन करना तत्व प्रकार है । आज भी सितार और वायीलन आदि तन्त्रवाद्यों पर गीत शैली के ढंग पर वादन करने की प्रथा है । अनुगतशैली वाद्य-वादन से अधिक सम्बन्धित है । इसमें गीति गौड़ है और वाद्य प्रधान है । डॉ0 मुकुन्द लाट के शब्दों में In the anugatu style instrumental accompaniment followed only certain elements of the song-form, while departing from others. For example, the tempo maintained on the instrument could be medium while song had a slow tempo.[2]

अनुगत शैली वाद्य और गीत प्रधान होने के कारण इसका सम्बन्ध वृत्ति से है । तथा Speed की दृष्टि से इसमें गीत वाद्य का अनुसरण करने के कारण मध्यलय का प्रयोग किया जाता है अर्थात् इस शैली में (Song) गीति का Temp Slow रहता है । " Song had a slow tempo " भरत-मत से गीत और वाद्य जहाँ अनुसरण करते हैं वह अनुगत है[3] । डॉ0 मुकुन्दलाट लिखते हैं । Two syllabuses of the song could be rendered of four strokes.[4]

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 97 डॉ0 मुकुन्द लाट
2. दत्तिलम् पृ0 - 97 डॉ0 मुकुन्द लाट
3. ना0शा0 29/77 द्वितीयपाद गीतं तु यदनुगच्छयनुगतिमिति तद्भवेद्वाद्यम्।
4. दत्तिलम् पृ0 - 98

बल्कि गीत और वाद्य इन दोनों का अनुसारण करते हुए वाद्य वादन करना अनुगत है जिसका सम्बन्ध वृत्ति या वार्त्तिक से है । Anugatu pertained to the vriti called "vriti".[1]

इसी प्रकार वीणा वादन के "ओघ प्रकार" आविद्ध करण आदि धातुओं से निर्मित एक विधि में जिसमें द्रुतलय रहती है । इसमें पूर्णतः वाद्य-वादन रहता है गीति और गीति के तत्वों की पूरी छूट रहती है । "अनपेक्षितगीतार्थ" अर्थात् वीणा-वादन के इस प्रकार में गीत अनपेक्षित रहता है । इसी कारण इसकी गति द्रुत रहती है[2] ।

डॉ0 मुकुन्द लाट इस संदर्भ में लिखते हैं - In ogha, Instrumental accompaniment was comparatively free from the song - form. The instrumentalist often took no of pauses and division in a song. So necessary to communicate its meaning.[3]

अर्थात् वीणावादन में गीत तथा गीत के अन्य तत्वों को उपेक्षित करते हुए वादन किया जाए वह बोध है । इसका सम्बन्ध चित्रावृत्ति से है[4] ।

इस प्रकार वीणा-वादन के लिए भरत ने सभी प्रकार के प्रहारों तथा उनके भिन्न प्रयोगों व Styles का विवरण दिया है जिसे वीणा-वादकों को

---

1. दत्तिलम् पृ0 - 98
2. ना0शा0 29/77 आविद्धकरणबहुलं ह्युपर्युपरिपाणिक द्रुतलयं च अनपेक्षित गीतार्थं वाद्यं त्वोघे विधातव्यम् ।
3. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 98
4. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्द लाट पृ0 - 98 This style was related to the citra vriti.

जानना आवश्यक है[1] ।

वृत्तियों का आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में महत्व

(1) "वृत्ति" का साधारण अर्थ है, स्वभाव, व्यापार आदि, अर्थात् किसी चीज का वर्त्तन करना "व्यवहार" करना वृत्ति कहलाता है । किन्तु संगीत के संदर्भ में वृत्तियों का अभिप्राय गीत एवं वाद्यगत वे स्वर या प्रहारों से उत्पन्न किये स्वरों का वर्तन जिनसे एक विशिष्ट स्वरूप कायम हो सके । जैसा आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं - "यत्र सममेव द्रयोर्व्यवहारस्तत्र साम्येन वर्तनाद् वृतिर्नाम"[2] अतएव "वृत्ति" गीत और वाद्यों की एक शैली Style या पद्धति है जिनमें नाट्य के विविध अवसरों पर गायन-वादन हेतु प्रयोग किये गये स्वर-लय-ताल-यदि आदि के विशिष्ट स्वरूप समृद्ध हो सकें ।

वर्तमान संगीत के संदर्भ में वृत्तियों तथा उनके अन्तर्गत प्रयुक्त किये गये लय, ताल, यति आदि का अध्ययन भरत परम्परानुसार किया जाए तो यह तथ्य अवश्य निकलता है कि गीत एवं वाद्यों की गुणवत्ता (Quality) की वृद्धि हेतु इन वृत्तियों का प्रयोग आज भी गायन-वादन में किया जाता है बल्कि गायन-वादन की एक पहचान वृत्तियों से की जाती है । धातुभिः सह सुयुक्ता भवन्ति गुणवत्तरा"[3] भरत के इस सूत्र को आचार्य अभिनव गुप्त स्पष्ट करते हैं गीत और वाद्यों की उच्चता यानी Quality की बढ़ोत्तरी इन वृत्तियों से की जाती है[4] । गीत एवं वाद्य की प्रयोगतशैली में आज यही अन्तर है कि भरत

---

1. ना0शा0 29/79 एवं ज्ञेया वैणे वाद्यविधाने तु धातवतज्ज्ञै ।
2. ना0शा0 29/पृ0 101
3. ना0शा0 29/72 द्वितीय पाद
4. ना0शा0 29/72 आचार्य अभिनव गुप्त गुणशब्दोऽत्रोकर्षवाची न त्वप्रधानवाची तेन वाद्यस्य गीतस्य च गुण उत्कर्ष यत्र प्राधान्यीमति ।

काल में गीत और वाद्यों का प्रयोग नाट्य के प्रसंगानुसार किया जाता था जबकि आज संगीत अपने आप में परिपुष्ट स्वतन्त्र कला है ।

फिर भी गीत एवं वाद्यों की सापेक्षता (Relativity) के भाव के रूप में वृत्ति का प्रयोग किया जाता था अर्थात् गीत और वाद्यों का ताल मेल परस्पर बना रहे । इस बात का भरत-संगीत में पूरा - पूरा ध्यान रक्खा जाता था । इसीलिए गीत में जैसी लघु, गुरू मात्राओं की योजना रहती थी तदनुकूल वाद्यों पर आघात करके स्वर निकाले जाते थे । इसी कारण भरत - संगीत में तत्कालीन तन्त्रवाद्यों के वादन में जातिगत स्वरों के प्रयोग की परम्परा थी । और इसीलिए गीत और वाद्य दोनों की गुणता Quality के लिए भरत ने वृत्तियों का निर्देश दिया है[1] । अर्थात् गीत और वाद्य दोनों का समान पोषण उस काल के संगीत की विशेषता थी ।

आज भी जिस कलाकार की गायकी या वादन शैली में स्वर, लय ताल, यति आदि का अच्छी प्रकार से निर्वाह किया जाता है उसकी गायकी को मान्यता दी जाती है ।

(2) भरत ने तीन वृत्तियों को अलग-अलग लक्षणों की विवेचना सोद्देश्य की है क्योंकि तीनों वृत्तियों में लय, ताल, गीत, ग्रह आदि का प्रयोग प्रसंगानुसारपृथक्-पृथक् किया जाना इसलिए आवश्यक है क्योंकि अपने - अपने लक्षणों से युक्त होने पर तीनों वृत्तियों चित्रा - दक्षिणा और वार्तिक अपने स्वरूप के अनुसार व्यंजित होती रहे[2] । अर्थात् भरत निर्दिष्ट वृत्तियाँ अपने-अपने लय, यति मार्ग आदि की व्यंजक होती है । आचार्य दत्तिल के मतानुसार -

---

1. ना0शा0 29/71 द्वितीयपादवाद्यं गीतोभयगुणा निर्दिष्टास्ता ।
2. ना0शा0 पृ0 - 101 तांसा तालगीतिलययतिमार्गः प्राधान्यानि यथा-स्व (यथाक्रमम्) व्यजकानि भवन्ति ।

दक्षिणा वृत्तिचित्राश्च वृत्तयस्तास्वयं विधिः

प्रधानं गीतमुभयं वाद्यं चेति यथाक्रमम्[1]

तीनों वृत्तियों की योजना गीत और वाद्य के संदर्भ में सहेतुक है ।

तीन वृत्तियों के ताल-लय-गीत-मार्ग-ग्रह और यति ये 5 तत्व होते हैं जिनसे तीनों वृत्तियों के गीत तथा वाद्य में प्रयोग जन्य स्वरूप स्वतः अलग-अलग हो जाते हैं । जैसे चित्रावृत्ति में वाद्यों की प्रधानता होने के कारण इसकी लय द्रुत होना स्वाभाविक है । इसी प्रकार दक्षिणा वृत्ति क्योंकि गीति तत्व प्रधान है अतएव गीत के अनुसार इसमें विलम्बित लय का होना नैसर्गिक है । इसी प्रकार वार्तिक वृत्ति में गीत और वाद्यों का समान प्रयोग है अतएव इसमें मध्यलय का प्रयोग वैधानिक कहा जायेगा । आज भी गायन - वादन के अनुकूल लय का विधान है । इन वृत्तियों में प्रसंगानुसार लय, यति आदि छः लक्षणों का समावेश करने पर ही इनके भी बन जाते हैं ।

(3) ताल से भरत का अभिप्राय "कला-काल प्रमाण"[2] है । अर्थात् कलाओं द्वारा गीत - वादन का कालकृत विभाग ही भरत की दृष्टि में ताल हैं । आचार्य अभिनव गुप्त के मतानुसार अत्र क्रिया च तालः कालों वा । ताल इत्याक्षिप्य गान्धर्वनाट्यभेदेन यो विषयविभागः कृतः स तुच्छ इत्यस्मस्यं[3] आज की सांगीतिक भाषा में गीत या वाद्य में प्रयोज्य समय का माप या पैमाना ताल है । कला-काल-प्रमाण[4] । अर्थात्

---

1. ना0शा0 29 दत्तिलाचार्य पृ0 - 101 दत्तिलम् - 43
2. ना0शा0 - 31/1 द्वितीय पाद कालस्तस्य प्रमाण हि विज्ञेयं तालयोगतः।
3. ना0शा0 31/पृ0 - 151
4. ना0शा0 कला-ताल प्रमाणेन ताल इत्यभीसंज्ञितः ।

संगीत के समय का माप या प्रमाण ताल है । इसी कारण भरत ने चित्रा वार्तिकी और दक्षिणा इन तीनों के स्वरूप और स्वभावानुसार अलग - अलग तालों का उल्लेख किया है चित्रावृत्ति में "एककल" ताल, वार्तिक में द्विकल ताल और दक्षिण में चतुष्कल ताल का विधान है[1] ।

(4) द्रुत, मध्य और विलम्बित इन तीन लयों के अनुसार वृत्तियों के स्वरूप भी तीन हैं[2] । अभिप्राय है कि कंठ और वाद्य इन दोनों के मर्यादानुसार भरत ने लय का विभाजन किया है । वाद्य प्रधान होने पर चित्रावृत्ति में द्रुतलय गीत एव वाद्य दोनों का समान वर्तन करने के कारण वार्तिक वृत्ति में मध्यलय, गीत प्रधान होने के कारण दक्षिणा वृत्ति में विलम्बित लय के प्रयोग का विधान है। इसीकारण द्रुत, मध्य और विलम्बित इन तीन प्रकार की लय का विधान है । आज भी भरत–परम्परानुसार विलम्बित मध्य और द्रुतलय का विधान है । भरत ने द्रुत मध्य और विलम्बित लय का क्रम माना है । इसके अनुसार चित्राकृति में यदि दो मात्रा तो वार्तिक में इसका दुगुना और दक्षिणा में इसका चौगुणा[4] । अर्थात् द्रुत-मध्य और विलम्बितलय का क्रम है । जबकि आधुनिक संगीत में मध्यलय या बराबर की लय को आधार मानकर विलम्बित यानी धीमी लय और द्रुतलय यानी तेज गति को बनाया जाता है । इनके अर्थ वही हैं जो भरत ने स्वीकार किये

---

1. ना0शा0 29 वृत्तो गीतवादित्रद्विकलताल "दक्षिणायां गीतिचतुष्कल ताल"
2. ना0शा0 71/ प्रथमपाद - तिस्त्रस्तु वृत्तयश्चित्रादक्षिणावृत्तिसंज्ञिता ।
3. ना0शा0 31/5 त्रयो लयास्तु विज्ञेया द्रुत-मध्य-विलम्बिता ।
4. ना0शा0 31/3 चित्रे द्विमात्रा कर्तव्या वृत्तौसा द्विगुणा स्मृता चतुर्गुणादक्षिणे स्यादित्येवं त्रिविधा कला ।

हैं । इस प्रकार वृत्तियों में लय के तीन स्वरूपों का स्पष्टीकरण होता है ।

(5) "यति" लक्षण से अभिप्राय है लय-प्रयोग का नियम, अर्थात् लय का प्रयोग किस प्रकार और किस सीमा तक किया जाए, यह भरतोक्त यति है । "लयप्रवृत्तवर्णानामक्षराणामयापि वा (च) नियमों या यतिः सा तु"[1] अर्थात् लय वर्ण अक्षर आदि के प्रयोग का नाम यति है जो गीत और वाद्य के आश्रित होती है[2]। भरत के मतानुसार "यति" तीन हैं "त्रियर्तिनाम-। समार्यात स्त्रोगतागोपुच्छा यति"[3]।

भरत के मतानुसार "समायति" द्रुतलय से सम्बन्धित है आधुनिक विद्वानों के मतानुसार "समायति" में यदि मध्य और अन्त में लय का प्रयोग यदि द्रुत है तो द्रुतलय अन्त तक रहती है ।

"स्त्रतोतगतायति" भरत के मतानुसार मध्यलय से सम्बन्धित है[4] । भरत के परवर्त्ती विद्वानों के मत से स्त्रोत की भाँति गायन-वादन की गति हो तो उसे स्त्रोगता यति कहा जायेगा । अर्थात् आदि में विलम्बित मध्य में मध्यलय और अन्त में मध्यगति से गायन-वादन से उसे स्त्रोतगतायति कहते हैं । भरत के मतानुसार गोपुच्छा यति स्थित लय में होती है[5] । अर्थात् समान चाल से की गई गति गोपुच्छा यति है । कुछ विद्वानों के मत से गोपुच्छा यति गाय की पूँछ की तरह अन्त में गति विस्तृत यानि स्थित रहे उसे गोपुच्छा यति कहते हैं । इन तीन यति की लय तीनों वृत्तियों से सम्बन्धित होने के कारण इनके तीन प्रकार माने गये हैं ।

---

1. निबन्ध संगीत पृ0 - 452
2. ना0शा0 34/110 त्रियति नाम । सभा स्त्रोतोगता गोपुच्छा चेति लययति पाणीनां त्रिविधः संयोगः । सच त्रिप्रकारो भवति ।
3. ना0शा0 113 समायति द्रुतश्चैव लयो यत्र भवेदथ ।
4. ना0शा0 114 स्त्रोतोगता यतिर्यत्र लयो मध्यस्तथैव च ।
5. ना0शा0 115 यत्र स्यात् तथा चैव स्थितो लयः, यतिश्चैव तु गोपुच्छा ।

"स च त्रिप्रकारो भवति" ।

(6) वृत्तियों में प्रयुक्त ग्रह भी एक सांगीतिक तत्व है जिसका अर्थ है ग्रहण करना या उठान । जहाँ से स्वर गीत या ताल का ग्रहण किया जाए उसे "ग्रह" कहते हैं । जातिगायन में स्वर-ग्रह प्रयुक्त किया जाता है और ताल में ताल ग्रह गीत एवं वाद्यों को ताल में बैठाने के लिए "ग्रह" का प्रयोग किया जाता है । महर्षि भरत ने समपाणि - अवपाणि और उपरिपाणि इन तीन ग्रहों का उल्लेख किया[1] है ।

जहाँ गीत को ताल के साथ समान रूप से बैठाया जाय वहाँ समपाणि अर्थात् गीत और ताल की समानता है । "समपाणि" वार्तिक वृत्ति में प्रयुक्त होता है ।

जिसमें ताल गीत से पहले उठे वह अर्ध पाणि है अर्थात् ताल का उठान पहले होगा वाद में गीत का प्रारम्भ होगा ।

उपरिपाणि से अभिप्राय है जिसमें गीत का प्रारम्भ पहले हो और वाद में ताल का उसे उपरिपाणि कहते हैं । आज यद्यपि नाम - परिवर्तन हो गये हैं फिर भी भरत परम्परानुसार त्रिपाणिक का प्रयोग आज भी किया जाता है । आज यही त्रिपाणिक ताल योजना में सम-अतीत-अनागत और विषम ग्रह के रूप में प्रयुक्त किया जाता है । जिनका अभिप्राय "समापाणि उपरिपाणि और अर्धपाणि" की भाँति ही है । इस प्रकार ताल, ग्रह, गीति, आदि छ तत्वों के अलग-अलग प्रयोग से तीनों वृत्तियों का स्वरूप व्यंजित होता है ।

---

1. ना0शा0 34/112 त्रिपाणिकं नाम/समपाणिरर्धपाणिरुपरिपाणिश्चेति ।

(7) भरत का उद्देश्य तीन तालों एक कल द्विकल - चतुष्कल का क्रमशः इन्हीं तीन वृत्तियों, चित्रादक्षिणा - वार्तिक के साथ जोड़ना था क्योंकि इन तीन वृत्तियों में परस्पर सम्बन्ध रहता है । एक का ठीक द्विगुण दूसरा - दूसरे का ठीक द्विगुण तीसरा होता है । चित्रा में द्रुतभाव है इसलिए "एककल" ताल प्रयोज्य है, वृत्ति में "समभाव" है इसलिए "द्विकल" ताल और दक्षिणा में विलम्बित लय है इसलिए "चतुष्कल ताल" प्रयोज्य है ।

(8) इसी प्रकार तीन वृत्तियों के अनुकूल तत्व अनुगत - ओध का प्रयोग किया जाता है "स्थित भाव" में तत्व का, मध्यभाव में अनुगत और द्रुतभाव के लिए ओध का प्रयोग किया जाता है । अतएव तत्व अनुगत ओध का प्रयोग भरत ने वाद्यों की विधि के लिए करने का निर्देश दिया है "तत्वौधानुगताश्च वाद्य विधयः"[1] इस प्रकार वाद्य-वादन की विधि में स्थित मध्यलय और द्रुतलय में तत्व अनुगत और ओध का प्रयोग निर्देशित है[2] ।

इस प्रकार महर्षि भरत ने गीत एवं वाद्य दोनों के Style को पृथक्-पृथक् व्यंजित करने के लिए चित्रा दक्षिणा और वार्तिक वृत्तियों के प्रयोग का सूक्ष्म विश्लेषण किया है जो आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में गीत और वाद्यगत शैलियों के लिए भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना भरत-काल में प्रचलित गीत और वाद्य के लिए था ।

आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में तत् वाद्य प्रकार वीणा एवं उसके प्रयोग

महर्षि भरतनिर्दिष्ट गान्धर्व "तन्त्रीकृतातोद्यों" पर प्रतिष्ठित था "यत्तु तन्त्रीकृतं प्रोक्तं नानातोद्यसमाश्रयम् । गान्धर्वमिति तज्ज्ञेयं" जिसमें कंठवीणा

(मानवीय कंठ) और वीणा (Man - Made) ही मूलतः तन्त्रीकृतातोद्य हैं गान्धर्व की जितनी स्वर-पद से सम्बन्धित विधियाँ हैं वे सभी इन वीणाओं में समाविष्ट हो जाती है । मानवीय कंठ चूँकि प्रकृति प्रदत्त आतोद्य है अतएव इसका स्वरूप आकार प्रकार सभी ईश्वरीय देन पर निर्भर है । वीणा मानवनिर्मित है अतएव इसके आकार-प्रकार प्रयोग आदि का सूक्ष्म विश्लेषण भरत करते हैं । यही नहीं नाट्य के अंग के रूप में वीणा ही एक ऐसा वाद्य था जिसके द्वारा प्रसंगानुसार सभी प्रकार की अभिव्यक्तियों को प्रभाव दिया जा सकता था इसी कारण भरत-संगीत में "वीणा" को सर्वाधिक रूप से मान्यता दी गई । आज भी चित्रपट संगीत हो या दूरदर्शन जैसी अत्याधुनिक विधा हो, प्रभाव (Effect) उत्पन्न करने के लिए सितार-गिटार, वायलिन जैसे तन्त्र वाद्यों की आवश्यकता दिखाई देती है । बल्कि तन्त्रवाद्य कंठ संगीत का सहयोगी वाद्य है ।

"नाट्यशास्त्र में मूलतः दो प्रकार की वीणाओं का उल्लेख मिलता है। सप्ततन्त्री चित्रा और नवतन्त्री विपन्ची वीणा[1] । चित्रानामक वीणा सात तारों वाली होती थी जिसका वादन अँगुलियों से किया जाता था । विपन्ची वीणा नौ तार की होती थी जिसका वादन धातु से बने कोण या भिजराक से किया जाता था[2] । भरत की दृष्टि में ये दोनों वीणाएं मुख्य या अंग वीणा कहलाती थी । इसके अतिरिक्त उपवीणा के रूप में कच्छपी और घोषक वीणाओं का भी उल्लेख है[3] । आधुनिक सरोद-सितार आदि तन्त्रवाद्य विचन्ची और चित्रावीणा के ही परिवर्तित रूप कहे जा सकते हैं । अभिनव गुप्त के मतानुसार कच्छपी वीणा के अतिरिक्त कूर्मी और

---

1. ना0शा0 29/118 प्रथम पाद - सप्ततन्त्री भवेच्चित्रा विपन्वीतु भवेन्नव।
2. ना0शा0 29/118 द्वितीय पाद - कोणवाद्या विपन्ची स्याच्चित्रा चाङगुलिवादनात् ।
3. ना0शा0 34/14 विपन्ची चैव चित्रा च दारवीष्वङ्.गसंज्ञिते कच्छपीघोषकादीनि प्रत्यङ्.गानि तथैव च ।

सौरन्ध्री वीणाएं भी उस काल की उपवीणाएं थीं[1] अभिनवगुप्ताचार्य ने अन्य विद्वानों के मत से वीणाओं के और भी प्रकारों का उल्लेख किया है, वक्रा, कूर्मा, अलाव विपन्ची - वल्लकी - मत्तकोकिलैन्द्री सरस्वती गान्धर्वी ब्राह्मका आदि[2] । इसी प्रकार वीणाओं के तीन प्रकार नौ प्रकार और चौदह प्रकारों का उल्लेख भी अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र की टीका में किया है[3] ।

इन सभी वीणाओं में मत्तकोकिला वीणा को प्रधान माना गया इसमें 21 तार होते थे तीन स्थानों (सप्तकों) मन्द्र - मध्य - तारस्वरों के गायन वादन के योग्य होती है बल्कि शारीरी वीणा (मानवीय कंठ) की भाँति तीन स्थान के स्वरों की इस वीणा पर सारणा की जा सकती थी[4] । इस सम्बन्ध में प्रो0 बाबूलाल शुक्ल शास्त्री का कथन है - यह "वीणा" "मत्तकोकिला" मुख्य वीणा मानी जाती थी और यह कानून प्रकृति की थी । इसे मुक्त वीणा भी कहा जाता था । इसे नारद ही प्रयुक्त करते थे । नान्यदेव ने इस वीणा को वृहती नाम भी दिया । अत्यधिक तारों की संख्या के कारण कल्लिनाथ पंडित ने इसका अन्य नाम स्वर मण्डल भी दिया है[5] ।

---

1. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका पृ0 - 406 कच्छपी कूर्मी सैरन्ध्रीति प्रसिद्धा ।
2. ना0शा0 अभिनव गुप्त पृ0 - 122 वक्रा कूर्मा ह्यलाबु वीणाद्या त्रिविधा मति विपन्ची वल्लकी मत्तकोकिलैन्द्री सरस्वती गान्धर्वी ब्रह्मा का सप्त वक्रयास्तन्त्रयः कला नव ।
3. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका 122 वीणाद्या त्रिविधा मति "वैक्रयास्तन्त्रयकला नव एकद्वित्रिचतुरिति चतुर्धा दश वा कला ।
4. ना0शा0 अभिनव गुप्त टीका वत्र मत्तकोकिला प्रधानभूता । एकविंशति तंत्रीकत्वेना न्यूनाधिकं । त्रिस्थानगस्वरसारणाजातिगीति वीणा शरीरमुच्यते।
5. हिन्दी प्रदीप व्याख्या ना0शा0 - प्रो0 बाबूलाल शुक्ल शास्त्री पृ0 टिप्पणी ।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य अभिनव गुप्त के समय तक वीणाओं के अनेक प्रकार-प्रचार में आ गये थे इसी कारण कूर्मा, वक्रा, विपन्ची, सरस्वती आदि वीणाओं के नाम थे । इन सभी वीणाओं में "मत्तकोकिला" को प्रधानता इस कारण दी गई, क्योंकि वीणा पर तीन सप्तक के स्वरों की सारणा आसानी से की जा सकती थी । "मत्तकोकिला" का उल्लेख "नाट्यशास्त्र" में मुख्य वीणा के रूप में नहीं मिलता बल्कि भरत ने विपन्ची और चित्रा वीणा के विवरण दिये हैं साथ ही विपन्ची और चित्रा वीणाओं को "अंग वीणा" माना है "विपन्ची चैव चित्रा च दारवषिड्.गसंज्ञिते" और कच्छपी तथा घोषक वीणाओं को प्रत्यंग वीणा के रूप में मान्यतावादी है "कच्छपीद्योषकादीनि प्रत्यंगानि तथैव च"

भरतनिर्दिष्ट "दाखीष्ड्.ग संज्ञिते"[1] पद से सहज अनुमान लगाया जा सकता है विपन्ची और चित्रा वीणाएं "दाखी यानी" "वीणा" की अंग वीणाएं हैं और कच्छपी और घोषक वीणाएं वीणा (दाखी) की प्रतयंग वीणाएं थी । अनुमान लगाया जा सकता है कि वीणा या "दाखी" भरत-मत से प्रधान वीणा थी इसी वीणा के अंग और प्रत्यंग में क्रमशः विपन्ची चित्रा और कच्छपी और घोषक वीणाएं थी । कालान्तर में दाखी या वीणा को ही "मत्तकोकिला" वीणा कहा गया यही वीणा प्रधान थी क्योंकि इसमें तीन स्थान तक स्वरों की सारणा की जा सकती थी। तीन स्थानों से अभिप्राय मन्द्र, सप्तक, मध्य सप्तक और तारसप्तक के स्वरों तक इसकी रेन्ज थी ।

इस संदर्भ में आचार्य अभिनव गुप्त का स्पष्टीकरण कि विपन्ची अपूर्ण तन्त्री है तथा वीणा में इक्कीस तन्त्रियाँ होती हैं[2] । इसी प्रकार 29 अध्याय में

---

1. ना0शा0 34/14
2. ना0शा0 विपन्ची अपूर्ण तन्त्रीका कोणवादनीया, वीणात्वेकविंशति तंत्रीका ।

वीणा वाद्य की विधि में भी आचार्य अभिनव गुप्त ने वीणा को मुख्य वीणा माना है तथा अन्य वीणाओं को अंग और प्रत्यंग माना है[1] । इस प्रकार आचार्य अभिनव गुप्त की दृष्टि में "दाखी" या वीणा मुख्य वीणा है । यही वीणा लकड़ी से निर्मित (शरीरी वीणा कंठ) का प्रतिबिम्ब है[2] ।

इस संदर्भ में आचार्य व्रहस्पति ने भी वीणा को मुख्य वीणा या मत्तकोकिला वीणा मानते हुए चित्रा और विपिंचि वीणाओं को मुख्य वीणा का अंग और घोषक और कच्छपी को उसका प्रत्यंग माना है[3] ।

इसके अतिरिक्त नाट्य प्रयोग में स्थान-पात्र-गीत आदि को इन तन्त्रियों पर दिखालाया जाता था । "स्थान वा पात्र वा स्यात् तन्त्रिषु धियावयेत्समं गानं"[4]। भरत ने गान्धर्व की अवतारणा के लिए जिस क्रम से सिद्धान्तों का निरूपण किया है उससे कंठ - संगीत में प्रयुक्त किये गये स्वर तथा ताल वाद्यों का स्पष्टीकरण आवश्यकता और उपयोगिता देखते हुए स्वतः हो जाता है ।

---

1. ना0शा0 इह वीणा वाद्यविधिः प्रस्तुतः । तत्प्रसंगेनपूर्वरङ्.गाङ्.गानि तत्प्रधानानि दर्शितानि । तत्रेह मुख्यैववीणा । अङ्.गास्तद् भेद्दास्तु प्रत्यङ्.गानि । ----- तत्र मत्तकोकिला प्रधानभूता । एकविंशति तन्त्रीकत्वेना न्यूनाधिक त्रिस्थानगस्वरसारणा जाति गीतिवीणाशरीरमुच्यते ।

2. ना0शा0 - 28 पृ0 अतएव वीणाशरीरिकी चैवाचार्ये निर्दिष्ट । दाखी गात्रवीणा च इति । तथा च प्रतिबिम्बं वीणैति व्यवहारः

3. संगीत चिन्तामणि पृ0 - 87 चित्रा में सात और विपन्चि में नौ तारहैं चित्रा अंगुलियों से और विपन्ची कोण "चोब" से बजाई जाती है । चित्रा और विपन्ची मुख्य वीणा "मत्तकोकिला" के अंग हैं । और कच्छपी और घोषक प्रत्यंग हैं ।

4. कार्यध्रुवाप्रयोगे ----- द्वाभ्यामपि वीणाभ्यां गाने वा वादने अपि

गान्धर्व का कोई भी विषय आप्रसंगिक नहीं प्रतीत होता । कंठ क्योंकि आदि और प्राकृतिक तन्त्रवाद्य है अतएव उसके समस्त स्वरगत लक्षणों का विवरण "शारीरिका" कंठ और दाखी जैसे तन्त्र वाद्यों द्वारा दिया गया है । यही कारण है कि वीणा का स्थान - स्थान पर संदर्भ देकर नाट्यकार ने वीणाओं की उपयोगिता और आवश्यकता पर प्रकाश डाला है । इसी कारण भरत-काल में अनेक प्रकार की वीणाओं का प्रचलन था ।

नाट्य में प्रसंगानुसार पात्रों की मानसिक स्थिति या उनकी मनोव्यथा भाव आदि को स्पष्ट करने के लिए वीणा-वादन का प्रयोग आवश्यक माना जाता था। जिस प्रकार आज चित्रपट और दूरदर्शन जैसी दृश्य विधाओं में भावाभिव्यति के लिए सितार, गिटार, सरोद सारंगी आदि तन्त्रवाद्यों का प्रयोग किया जाता है उसी प्रकार भरत-काल में नाट्य के अवसर पर वीणाओं के वादन की प्रथा थी ।

"नाट्यशास्त्र" के अधिकारी टीकाकार अभिनव गुप्त के मत और परवर्त्ती विद्वानों के आधार पर तथा स्वयं महर्षि भरत के मत से वीणा या "दाखी" शब्द तत्कालीन प्रधान वीणा के लिए प्रयुक्त किया गया है । यही वीणा तथा कंठ स्वरों के अधिष्ठान के लिए "नाट्यशास्त्र" में बताई गई है[1] । तथा चित्रा विपंची और कच्छपी घोष्ठक वीणाएं अंग और प्रत्येक वीणा के रूप में दर्शाई गई है । ये चारों वीणाएं (वीणा) (प्रधान वीणा) का उपजीवन करती है[2] । महर्षि भरत का वाक्य है यह स्वर गत विधि वीणा शरीर में उत्पन्न जानो इसके बाद भरत विपंची वीणा-वाद्य के लिए उपयुक्त करण आदि का विधान समझते हैं[3] ।

---

1. ना0शा0 28/12 प्रथमपाद द्वयांघष्ठानाः स्वराः वैणाः शारीराश्च प्रकीर्तित ।
2. ना0शा0 पृ0 तद्रुपजीवकत्वेनापर । भवन्ति ।
3. ना0शा0 29/112 एवमेतत्स्वरगतं ज्ञेयं वीणाशरीरजम् । विपचीवाद्ययुक्तानि करणानि निबोधत ।

इससे स्पष्टतः अनुमान लगाया जा सकता है कि भरत-निर्दिष्ट यही वीणा या दाखी मत्तकोकिला वीणा थी जो अपने में स्वर विधि के लिए पूर्ण थी ।

विपन्ची के वादन में करणों का विधान भरत ने बताया है । इसमें छः प्रकार के करणों का विधान है । रूपं - प्रतिकृतं प्रतिभेदो रूपशेष - ओध-प्रति-शुष्क[1] । चित्रा वीणा का वादन विपन्ची के साथ किया जाना था । इन दोनों वीणाओं का प्रयोग ध्रुवा प्रयोग में गीत एवं वादन के अवसर पर किया जाता था ।

गान्धर्व की स्वरगत विधियाँ यथा स्वर - श्रुति ग्राम श्रुति निरूपण आदि की अवतारणा का हेतु वीणाएं ही थीं । आधुनिक तन्त्रवाद्य सितार, गिटार, तानपूरा, सरोद आदि भारतोक्त वीणाओं के परिवर्तित रूप हैं इनके "आकार प्रकार उनमें लगे पर्दे थाट - वर्गीकरण आदि सभी भरत कालीन वीणाओं की परिणतियाँ समझी जा सकती है । जैसे कोण और अंगुली से बजाई जाने वाली चित्रा और विपन्ची वीणाएं सम्भवतः सितार सरोद और आधुनिक वीणाओं का पूर्वरूप थी । "अलाबू" वीणा स्वर मिलाने के लिए मानी जाती थी जिसका स्वरूप आधुनिक तानपूरे में देखा जा सकता है । "मत्तकोकिला" का स्वरूप स्वर मण्डल में देख सकते हैं । जैसा प्रो बाबूलाल शुक्ल शास्त्री ने लिखा है "भरत कालीन" इन्हीं वीणाओं से बाद में मत्तकोकिला वीणा का निर्माण हुआ, जिससे सरोद जैसे आधुनिक तन्त्रवाद्य को स्वरूप मिला । "आलपूवीणा" का उल्लेख नान्दादेव ने भरत भाष्य में किया, मतंग ने शततन्त्री वीणा का विवरण दिया । इससे सिद्ध होता है कि आधुनिक तन्तुवाद्य तानपूरा, सितार, सारंगी, सरोद आदि के स्वरूप थाट - वर्गीकरण, परदे, बजाने का ढंग आदि परिणतियों भरत कालीन वीणाओं की देन है[2] । यही नहीं कंठ-संगीत में भी तन्त्र वाद्यो का

---

1. ना0शा0 29/113 रूपं कृतं प्रतिकृतं प्रतिभेदों रूपशेषमोघश्च । षष्ठी वै प्रतिशुष्का त्वेवं ज्ञेयं करणजातम् ।

2. हिन्दी प्रदीप व्याख्या सहितं ना0शा0 भाग 4 पृ0 - 32 प्रो0 बाबूलाल

महत्त्व है । क्योंकि आरम्भ में कंठ स्वर कर्कश और कठोर होता है लेकिन शनैः शनैः तानपूरे आदि तन्त्रवाद्यों पर अभ्यास करने पर स्वर में माधुर्य स्निग्धता तथा स्थिरता का विकास होता है तीनों सप्तक तथा श्रुतिजन्य ज्ञान का उदय हो जाता है जो हारमोनियम जैसे वाद्य पर सम्भव हो नहीं इसी कारण भरत ने 21 तारों वाली मत्तकोकिल्स वीणा तथा उसकी अन्य उपवीणाओं का उल्लेख समयानुसार किया है ।

*****

अष्ठम - अध्याय

(क) भरतप्रोक्त ध्रुवा - स्वरूप - प्रकार

ध्रुवा के विविध अंग - ध्रुवाओं में प्रयोज्य छन्द तथा भाषा - ध्रुवा की ताल ।

(ख) आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में ध्रुवा-गान तथा उनका उद्देश्य ।

भरतप्रोक्त ध्रुवाः

नाट्यशास्त्र का बत्तीसवाँ अध्याय "ध्रुवाविधान" है जिसमें ध्रुवा या ध्रुवा गीतों का विशद वर्णन मिलता है । नाट्य—प्रयोग में विभिन्न भावों की तीव्रता तथा अधिकाधिक रस - प्रवणता के लिए विभिन्न प्रसंगों पर ध्रुवा गायन किया जाता था इसीलिए ध्रुवा गीतों का नाट्य में विशिष्ट स्थान माना गया है[1] । इन गीतों में स्वर तथा वर्णों का उपयुक्त चयन, अलंकारों का समुचित संयोजन रहता है जिससे नाट्यान्तर्गत पात्रों की गति विधि व चेष्टा आदि को पूर्ण अभिव्यक्ति मिलती है । इसलिए तत्कालीन गान्धर्व में ध्रुवागीतों को शास्त्रोत नीति से गाये जाने वाले "नाट्यगीत" कहा है । वैसे तो नाट्यशास्त्र के गान्धर्व से सम्बन्धित एक-एक अध्याय एक-एक "ग्रन्थाकार" की अपेक्षा रखता है किन्तु प्रस्तुत शोध में संगीत सम्बन्धित 28 वें अध्याय से 33 वे अध्याय तक मुख्य-मुख्य स्थलों का विवेचन किया जाता है । अतएव "ध्रुवाध्याय" के प्रमुख स्थलों की यहाँ व्याख्या दी

---

1. दत्तिलम् - Introduction XIII music especially song intengral to the theatre as conceived in the Natyashastra theatric song, were known as dhurva and theatric music in general gana.

जाती है । नाट्यशास्त्र के अनुसार ध्रुवागीतों का स्वरूप तत्कालीन सप्तगीत एवं उनके सात भिन्न-भिन्न स्वरूपों से निर्मित होता था । इस गीतों की "ध्रुवा" संज्ञा नारद आदि प्रमुख द्विजों के द्वारा दी गई है । ऐसा भरत ने उल्लेख किया है ।

ध्रुवासंज्ञानि यानि स्युर्नारद प्रमुखैर्द्विजैः [1]

आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं ध्रुवा गीतों का स्वरूप पाणिका, गाथा आदि सप्तरूप एवं सप्त प्रमाणों से निर्मित होता है अर्थात् गीति के सभी अंग - प्रत्यंग मुख-प्रतिमुख-ऋक-गाथा आदि से युक्त जो नाट्यान्तर्गत गान हैं - वे सभी "ध्रुवा" नाम से अभिहित हुए, वेदों में वर्णित ऋक्, गाथा आदि को शास्त्रोक्त ढंग से अलंकृत करने पर ध्रुवा गीत बना[2] । वेदों से सम्बन्धित होने के कारण ध्रुवागीत पारम्परिक भी है और अतीव प्राचीन गीत शैली है । Theatric songs were known as Dhruva. डॉ0 मुकुन्द लाट ।

"या ऋचः पाणिका गाथाः सप्तरूपाङ्ग एव च सप्तरूपप्रमाणं हि तद् ध्रुवेत्यभिसंज्ञितान्"[3] जो पाश्किा, गाथा और सप्तरूप गीत आदि है वे ही ध्रुवा संज्ञा से जाने जाते हैं । अतएव ध्रुवा गीतों का तत्कालीन नाट्य प्रयोगों में विशिष्ट स्थान था । क्योंकि नाट्य के विभिन्न प्रसंगों तथा भावों को उभारने के लिए इन गीतों का प्रयोग अभीष्ट माना जाता था । इसके अतिरिक्त भरत प्रोक्त गान्धर्व के तीन

---

1. ना0शा0 32/1
   ध्रुवासंज्ञानि यानि स्युर्नारदप्रमुखैर्द्विजैः,
   गीताङ्गानि तु (नीह) सर्वाणि विनियुक्तान्यनेकशः

2. ना0शा0 32 पृ0 - 288 नारदाद्यैर्यानि गीताङ्गानि वर्णाङ्गानि सप्तरूपाङ्गमात्रा मुखप्रतिमुखानि सप्तरूपप्रमाणं त्र्यश्रचतुरश्राति याश्चर्च श्रगाथा पाणिका इह नियुक्तानि तदेवं ध्रुवेति संज्ञितम् ।

3. ना0शा0 अध्याय - 32 श्लोक - 2

लक्षणों "स्वर - ताल. पदात्मकम्" में पद का अर्थ ध्रुवा गीतों के प्रयोग से माना गया है । जैसा कि भरत ने गान्धर्व "पद" की व्याख्या की है ।

"यत्किन्चिदक्षरकृतं तत्सर्व पदसंज्ञितम्"

अर्थात् जो कुछ भी अक्षरों से बनता है वह सभी पद या गीत है यह गीत अपने विविध अंगों से युक्त होने पर "ध्रुवा" कहलाता है ।

निबद्धं चानिबद्धं च येन तेन द्विधा स्मृतम् ।
अतांल च सतालं च द्विप्रकारं तदुच्यते ।
सतालं च ध्रुवाअर्थेषु निबद्धं सर्वसाधकम्[1] ।।

अर्थात् "पद" के निबद्ध तथा अनिवद्ध से दो प्रकार होते हैं । इसी के पुनः दो प्रकार सताल तथा अताल अर्थात ताल सहित और ताल रहित ये दो भेद हैं । इनमें ताल सहित "निबद्ध पद" ध्रुवा के अर्थ में प्रयुक्त होता है । अतएव "ध्रुवा" गीत तत्कालीन स्वर तथा ताल बद्ध रचना थी जो निबद्धगान के अन्तर्गत आती थी । जिस प्रकार आज राग-संगीत के अन्तर्गत ध्रुवपद धमार ख्याल आदि गीत शैलियाँ निबद्ध गान के तालबद्ध प्रकार है । ठीक उसी प्रकार भरत-संगीत में "ध्रुवा गीत" निबद्ध शैली थी जिसे "सताल" भी कहा जा सकता है और ये "गीत शैली" उस काल की विशुद्ध शास्त्रोक्त शैली समझी जाती थी । अनिवहदगान वे प्राकर हैं जिनमें स्वर और पद हो पर जिनमें ताल का प्रयोग नहीं रहता, ये ही रचनाएँ अताल भी कहलाती थीं ।

ध्रुवा का स्वरूपः

तत्कालीन ध्रुवा नाट्य में प्रयुक्त किये जाने वाले पूर्ण शास्त्रोक्त गीत

---

1. ना0शा0 अध्याय - 32 श्लोक 29-30 इह

समझे जाते थे बल्कि ध्रुवा गीत उस समय के Authentic गीत यानि प्रामाणिक गीत थे जिनमें स्वर अलंकार, यति वर्ण, छन्द आदि का शास्त्रोक्त विधान था[1] । गान्धर्व के "स्वरतालपदात्मकम्" के लक्षणों में पद सहित रचना ध्रुवा "है" यानि चैव निबद्धानि छन्दोऽक्षरविधान्तः ध्रुवासंज्ञानि वर्णानि अर्थात् छन्द और अक्षरों (स्वर और ताल बद्ध रचना) के नियमानुसार निर्मित "निबद्ध गीत" ही ध्रुवा है । सच पूँछा जाए तो भरतोक्त "ध्रुवा गीत" यद्यपि नाट्य में प्रयोज्य था फिर भी "ध्रुवागीत" गीत-रचना के समस्त सिद्धान्तों और नियमों से समन्वित था, यही कारण है कि आज भी निबद्धगीत के लिए "ध्रुवागीत" के स्वरूप की अपेक्षा रहती है । Dhruva and gana were largely derieved from Gandharva and Bharat. ऐसा डॉ0 लॉट का मत भी है । ध्रुवा की मूल शर्त "पद सहित ताल और स्वर बद्धरचना" "यत् स्यादक्षरसम्बद्धं तत् सर्व पदसंज्ञितम्"[3] आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं "अर्थेषु च रसोचित्तेषु निबद्धं यदीलक् पदं तद् ध्रुवा"[4] अर्थात् अर्थ, रसो में निबद्ध पद "ध्रुवा" कहलाता है । ध्रुवा का मूल प्रयोजन देवस्तुति था देवी - देवताओं की परितुष्टि ध्रुवागीत के द्वारा की जाती थी ऐसा आचार्य अभिनव गुप्त का मत है इसी कारण ध्रुवा में "स्तोत्र" भी रहते थे[5] । ध्रुवा का मूल प्रयोजन नाट्य के विभिन्न प्रसंगों को रसात्मक रीति से प्रस्तुत करना था इसीलिए ध्रुवागीत को (Theatric Song) कहा गया है इसलिए प्रसंग विशेष के अनुसार भरत ने ध्रुवा के प्रयोगगत पाँच प्रकारों

---

1. ना0शा0 32/3। नियताक्षरसम्बद्धं छन्दोयतिसमन्वितम् ।
   निबद्धं तु पदं ज्ञेयं सतालयतनाक्षरम् ।
2. दत्तिलम् डॉ0 मुकुन्दलाट पृ0
3. ना0शा0 32/28 प्रथम पाद
4. ना0शा0 32 पृ0 302
5. ना0शा0 32 पृ0 - 302 ध्रुवापदं गान्धर्वपदवत् । अत्रहि सामवत् पदे

का सविस्तार विवरण दिया है । ये पाँच ध्रुवा, गान और नाट्य-प्रयोग में विद्यमान रस-भाव-देश ऋतु - काल आदि के संदर्भ में प्रयुक्त की जाती थीं । यही नहीं नेपथ्य के पीछे (Back Ground Music) "पार्श्व संगीत" के रूप में भी ध्रुवागान होता था इसी कारण ध्रुवा को डॉ0 मुकुन्द लाट ने theatric music या theatric songs कहा है । इस प्रकार विभिन्न भावों के सम्प्रेक्षण के लिए भरत ने पाँच प्रकार की ध्रुवा का निर्देश दिया है यथा -

प्रावेशिकी तु प्रथमा द्वितीयाऽऽक्षेपिकी स्मृता
प्रासाक्षिकी तृतीया चतुर्थी चान्तरा ध्रुवा
निष्क्रामिकी च विज्ञेया पन्चमी वृत्तकर्मणि[1] ।

(1) प्रावेशिकी
(2) आक्षेपिकी
(3) प्रासादिकी
(4) अन्तरा
(5) निष्क्रामिकी

नाट्य में पात्रों के प्रवेश, बीच में कृर्तत्व आदि समस्त क्रिया-कलापों एवं भावों के प्रस्तुतीकरण के लिए इन पाँच ध्रुवाओं का प्रयोग समयानुसार किया जाता था ।

(1) प्रावेशिकी ध्रुवा की योजना पात्रों के प्रवेश के समय में होती थी यहाँ प्रवेश शब्द से ही प्रविष्ट होने वाले पात्र के भाव भंगिमा, रस, अवस्था और कार्य का प्रयोजन आदि का संकेत मिलता है ईसके अलावा नाट्य के भाव, रस और कथा का संकेत रसमय रूप से अभिव्यक्त किया जाता है इसीलिए इस ध्रुवागीत को भरत ने "प्रावेशिकी ध्रुवा" नाम दिया है ।

---

1. ना0शा0 32/27

उदाहरण-

नानारसार्थयुक्ता नृणां गीयते प्रवेशेतु

प्रावेशिकी तु नाम्ना सा विज्ञेया ध्रुवा तज्जैः[1]

अर्थात् पात्रों के रंगमंच पर प्रवेश के अवसर पर जो रसों या अर्थों से पूर्ण विषयों का गान किया जाए उसे प्रावेशिकी ध्रुवा समझना चाहिये । आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं "नाना रसा भावा अर्थाश्च विभावादयः तेषां युक्त समाजिकां हृदयेषु प्रवेशो ययेति प्रयोजम्"[2] ।

(2) आक्षेपिकी ध्रुवा का प्रयोजन पात्र के आकस्मिक पतन रोगग्रस्तता, मृत्यु आदि अवसाद के भावों को प्रकट करने के लिए था । अर्थात् इस ध्रुवागीत में प्रवाहमाण रस का अतिक्रमण कर अन्य रसों का जब आक्षेप या प्रयोग किया जाय तो आक्षेपिकी ध्रुवा होती है । इस ध्रुवा में चूँकि निर्दिष्ट भावों के अतिरिक्त विषम भावों को प्रस्तुत किया जाता है इसलिए इसमें द्रुतलय का विधान बताया गया है ।

"क्रममुल्लङ्ध्य विधिज्ञैः क्रियते या द्रुतलयेन नाट्यविधौ

आक्षेपिकी ध्रुवाऽसौ द्रुतास्थिता चाऽपि विज्ञेया"[3]

अर्थात् क्रम का उल्लंघन करके नाट्य प्रयोक्ताओं के द्वारा दुतलय में किया गया गान "आक्षेपिकी ध्रुवा" कहलाता है ।

(3) प्रसादिकी ध्रुवा - इस ध्रुवा का प्रयोग क्रम-भंग का परिहार करके पुनः यथास्थिति बनाये रखकर दर्शकों के मन में प्रसाद आदि के भावों का सम्प्रेक्षण करना है । यह ध्रुवागान पूर्ववर्ती या आगामी रस का अनुसारण करने वाला होता

---

1. ना0शा0 अध्याय - 32 श्लोक 31।
2. ना0शा0 अध्याय - 32 पृ0 - 360
3. ना0शा0 अध्याय - 32 श्लोक पृ0 - 313

है । अर्थात् विभिन्न भाव विभाव आदि द्वारा नाट्य में हुए क्रम-भंग को पुनः निर्मल करके दर्शकों में प्रसाद गुण का संचार करने वाली होती है -

यथा या च रसान्तरमुपगमतमाक्षेपवशात् कृतं प्रासादयति
रागप्रसादजननी विधात् प्रासादिकी तां तु[1] ।।

अर्थात् जो किसी आकस्मिक दुर्घटना के बाद तुरन्त गति रूप में प्रस्तुत होकर रसान्तर का संकेतों के द्वारा हटाकर रगस्थ प्रेक्षकों के चित्त को प्रसन्न करता है उसे प्रासादिकी ध्रुवा "समझना" चाहिये । प्रसादगुण और राग यानि आनन्द के लिए इस ध्रुवा का प्रयोग प्रावेशिकी और आक्षेपिकी ध्रुवाओं के तुरन्त बाद करना चाहिये है । ऐसा भरत मत है ।अभिप्राय है रसभंग हो जाने के कारण श्रोताओं के मन-मस्तिष्क में पुनः आनन्द और रंजकता की वृद्धि हेतु इसका उपयोग होता था ।

(4) अन्तरा ध्रुवा का प्रयोग "नाट्यप्रयोग" के उस खाली समय को व्यवस्थित करने के लिए किया जाता था जब नाट्य के पात्र आदि अपने वस्त्र आभूषण आदि को नेपथ्य के पीछे धारण करते हैं । उस समय रंगमंच सूना या खाली न रहे तब अन्तरा ध्रुवागीत की योजना की जाती है जिससे दर्शकों का ध्यान भंग न हो। अर्थात् यह ध्रुवा नेपथ्य संगीत के लिए था । यथा -

विषण्णे विस्मृते भ्रान्ते वस्त्राभरणसंयमे
दोषप्रच्छादना च गीयते सान्तरा ध्रुवा[2] ।।

अर्थात् विभिन्न पात्रों के विषण्णा होने, विस्मृत, खिन्न होने, मूर्च्छित हो जाने पर पृथ्वी पर गिर जाने, विष प्रयोग से मूर्च्छित हो जाने, वस्त्र या अलंकारों के धारण

---

1. ना०शा० अध्याय - 32 श्लोक - 368
2. ना०शा० अध्याय - 32 श्लोक - 369-370

करने तथा दोष आच्छादन करने के अवसर पर जो ध्रुवा का गान होता है उसे अन्तरा ध्रुँवा कहते हैं । अभिप्राय यह है कि किसी कारणवश नाट्याभिनेता-अभिनेत्री के क्रिया विहीन होने पर रंगमंच को पूर्ववत रससिक्त करने के लिए इस ध्रुवा का प्रयोग किया जाता है ।

(5) नैष्क्रामिकी - इस ध्रुवा का प्रयोग किसी अंक की समाप्ति के अवसर पर पात्रों के नैष्क्रमण के समय किया जाता है । अर्थात् रंगमंच से पात्रों के बाहर जाने के समय जिस ध्रुवा गीत का प्रकोप किया जाता है उसे नैष्क्रामिकी ध्रुवा कहते हैं यथा -

> अङ्कान्ते निष्क्रमणे पात्राणां गीयते प्रयोगेषु
> निष्क्रमोपगतगुणा विधान्नैष्क्रमिकी तां तु[1]

भरत काल में संगीत चूँकि नाट्य के अंग के रूप में प्रयुक्त किया जाता था इस कारण इन पाँच ध्रुवा गीतों का प्रयोजन तथा प्रयोग नाट्य सम्बन्धित विभिन्न अवसर तथा भावों की अभिव्यक्ति के लिए किया जाता था । इसी कारण इनके प्रावेशिकी आक्षेपिकी, प्रसादिनी आदि पाँच भेद के नाम नाट्य प्रसंग के अर्थानुकूल दिये गये हैं जिससे सभी प्रकार के रसों का पोषण किया जा सके[2] ।

इन पाँच ध्रुवाओं के विविध अंग:

भरत ने इन ध्रुवाओं के अठारह अंगों का उल्लेख किया गया है । जो विविध छन्दों से निर्मित एवं काव्य सम्पन्न थे पन्चविध धुवाओं के अंग-

---

1. ना0शा0 अध्याय - 32 श्लोक - 312
2. ना0शा0 316 ध्रुवाणां चैव सर्वासा रसभावसमन्वितम् ।

(1) अंग, (2) प्रतिमुख, (3) वैहायसक, (4) स्थित, (5) प्रवृत्त, (6) वज्र, (7) सन्धि, (8) संहरण, (9) प्रस्तार, (10) उपवर्त, (11) भाषघात, (12) चतुस्त्र, (13) उपपात, (14) प्रवेणी, (15) शीर्षक, (16) सम्पिकष्टक, (17) अन्तारहण, (18) महाजनिक

मुखं प्रतिमुखं चैव वैहायसकमेव तु
स्थितश्रवृते वज्रं च सन्धिः संहरण तथा
प्रस्तारो भाषघातः स्यादुपवर्तनमेव च
उपघातः प्रवेणी च चतुरश्चं सशीर्षकम्
सम्पिष्टकमन्ताहरणं माहाजनिकमेव च
ध्रुवाणामङ्गसंज्ञानि पन्चानामपि नित्यशः[1]

भरत ने ध्रुवा गीत को चार प्रकार से विभाजित किया है ।

(1) ध्रुवा
(2) परिगीतिका
(3) मुद्रक
(4) चतुष्पदा

एकवस्तु ध्रुवा ज्ञेया द्विवस्तु परिगीतिका
त्रिवस्तु मद्रकं ज्ञेयं चतुर्वस्तु चतुष्पदा[2]

अर्थात् एक वस्तु में निबद्ध गीत ध्रुवा, दो वस्तु में निबद्ध गीत की परिगीतिका, तीन वस्तु में निबद्ध गीत मुद्रक तथा चार वस्तु में निबुद्धगीत चतुष्पदा कहलाता है ।

---

1. ना0शा0 अध्याय - 32 श्लोक 4.5.6
2. ना0शा0 अध्याय - 32 श्लोक - 7

ध्रुवाओं में प्रयोज्य छन्द व भाषा:

सप्तगीतों में विद्यमान जो कलाएं तथा जो अंग जैसे छन्दों स्थित वृत्तों से प्रकट होते हैं वैसे ही ध्रुवाएं भी छन्दोगत वृतों से अभिव्यक्ति पाती है, क्योंकि भरत के मत से छन्द विहीन किसी भी गीत में पदों की योजना सम्भव नहीं है। छन्द की योजना किसी भी भाव के अर्थ को व्यक्त करने के लिए की जाती है इसी कारण संगीत में भी शब्द और स्वर इन दोनों का समावेश होता है यथा-

"नास्ति किंन्चिेद् वृतं हि पदं मानकृताश्रयम्"[1]

इसलिए विषय के अनुसार ध्रुवागीत में छन्द की योजना का विधान होता है । यथा - "तस्माग्दातिमभिप्रदस्य तद्धत योजयेत ध्रुवम्"[2] इसी कारण सम्बद्ध ध्रुवा के लिये नियोजित छन्द के पद के अनुरूप वाद्य वादन रखने का विधान भरत ने स्वीकार किया ।

यद्वृत्तौ वाहनगतौ ध्रुवापादो विधीयते ।
तत्तं तु भवेद्वाद्यमंगलवाद्यसमं तथा ।

अर्थात् किसी यान की गति के प्रदर्शन से सम्बद्ध ध्रुवा के लिये नियोजित छन्द के पद के लिये उसी के साथ संगति करने वाले वाद्यों का वादन किया जाता था जो कि गीत के सभी अंगों की गतियों से तालमेल रखने वाला होना चाहिये । अभिप्राय यह है कि प्रसंगानुसार गीत और वाद्यों का मेल रस-सम्प्रेक्षण करता है और इसी नियम से विभिन्न गीत शैलियों की प्रकृति के अनुसार वाद्यों एवं उनकी विभिन्न तालों का विधान है । नाट्यशास्त्र के अनुसार ध्रुवा में प्रयुक्त छन्दों की व्यवस्था निम्न थी -

---

1. ना0शा0 अध्याय - 32 श्लोक 3.7.5 प्रथम
2. ना0शा0 अध्याय - 32 श्लोक 4 - 375 द्वितीय

गुरूर्गाथांशको चत् स्यात् सर्वपादेषु दृश्यते
श्रीरीति ख्यातनामा सा कीर्तिता प्रथमा

अर्थात् जिसके सभी पादों या चरण में गुरू हो वह श्री ख्याति नाम ध्रुवा है । जिसका उदाहरण -

देवंशर्वमीशं वन्दे

"लघुनी गुरू व कथिता रजनी" (त्रियामा) 32/53

जिस ध्रुवा में लघु व गुरू मात्रा हो व रजनी है । इसी प्रकार द्वितीयं लघु सर्वत्र चतुर्णा यत्र दृश्यते, सा प्रतिष्ठा वुधैज्ञेया" । लघुनी प्राग् गुरूणी द्वै यीह पादे भ्रमरी, पादे लघ्वक्षरे नित्यं सा जयेत्यभिसंज्ञिता" अर्थात् जिसमें पहले लघु बाद में गुरू मात्रा हो वह भ्रमरी है इसी प्रकार चार चरणों में प्रथम और तृतीय पादें लघु हो वह "जया" है । 32/6।

चतुर्णां यत्र पादानां तृतीयं च भवेल्लघु
विज्ञेया सुप्रयोगज्ञैविजया नाम नामतः 32/63

"पादे - पादे तु स्यात् सर्वदीर्घे वृत्तेऽस्मिन् दृष्टा विद्युआन्ता" 32/65 जिसके प्रत्येक पद में दीर्घ मात्रा हो इस प्रकार का विद्युतम्दान्ता है । यदि च गुरू पदनिधने भवति हि सा कमलमुखी (पद्मिनी) 32/69

लघुनी चतुर्थ चरणे तु यस्याः
भवतीह सा वै विमला तु नाम्ना 32/84

इस नाट्यशास्त्र में ध्रुवा गीत में प्रयुक्त होने वाले चरणों के प्रत्येक छन्द की गुरू और लघु मात्राओं के प्रयोग का विस्तार से विवरण है यह गुरू-लघु मात्राओं का प्रयोग समय और अवसर के अनुसार प्रयुक्त ध्रुवागीत के चरणों में किया गया मात्रा-प्रयोग है इसीलिए नाट्यशास्त्र में श्री धृति, रजनी, सुप्रतिष्ठा, भ्रमरी, जया, विजया,

विद्युम्दान्ता, भूतलतन्त्री, कमलमुखी, लागुरा, शिखा, धनपंक्ति, गायत्री, मालिनी, मरूरक शीर्षा विमला, वीथिका, शिखिनो, सुजदा सुललिता, नीलनी आदि छन्दों का प्रयोग ध्रुवाओं में हुआ करता था यह उललेख है । इन छन्दों के उदाहरण ध्रुवाध्याय में मिलते है किन्तु सम्भवतः तत्कालीन प्राकृत भाषाओं में लिखे गये हैं । भरत-मत से ध्रुवा में प्रयोज्य छन्द गीत के प्रमाण है यथा -

छन्दःप्रमाण संयुक्तं दिव्यानां गानमिष्यते[1]

भरतनिर्दिष्ट इन छन्दों का आधार लेकर ही आगे चलकर गायन शैलियों के अनुकूल तालों की रचना की गई ।

ध्रुवाओं की भाषाः

तत्कालीन ध्रुवाओं में विभिन्न प्रकार की भाषाओं का प्रयोग हुआ करता था, जिनका उल्लेख भरत ने "ध्रुवाविधानाध्याय" में किया है । शोरसेनी, मागधी संस्कृत तथा अर्धसंस्कृत भाषाओं का प्रयोग ध्रुवागीतों में हुआ करता था । लेकिन भिन्न-भिन्न गीतों के स्वरूप के अनुसार भाषाओं का प्रयोग भी भिन्न था । जैसे दिव्य गीतों में संस्कृत तथा मानवीय पात्रों द्वारा गाये गये गीतों में अर्धसंस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ करता था ।

"दिव्यानां संस्कृत गानं प्रभारौस्तु
अर्धसंस्कृतमेव तु मानुषणां प्रयोजयेत्[2] ।।

भरत-निर्दिष्ट गान्धर्व चूँकि नाट्यांग के रूप में प्रयोज्य था इसलिए देव, दानव, उत्तम मध्यम और निम्न पात्रों के अनुसार भाषा का प्रयोग होता था इसीलिए ध्रुवा

---

1. ना0शा0 32/387
2. वी ना0शा0 अध्याय - 32 श्लोक 384

गानों में पात्र और अवसर के अनुकूल भाषाओं का विधान था । प्राकृत भाषा में उपशाक बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप, जगती जैसे छन्दों के उदाहरण दिये गये हैं । संस्कृत भाषा में अनुष्टुप छन्द संस्कृत की परम्परा का प्रतीक था जो प्राकृत भाषा में गाना या आर्या का महत्व था । शौर सेनी भाषा भी ध्रुवा में प्रयुक्त की जाती थी[1] ।

ध्रुवाओं की ताल:

ध्रुवाओं में प्रयोज्य ताल का विधान भी रंगमंचीय विविध प्रसंगों तथा पात्रों के स्वभाव को अभिव्यक्ति देने के लिए था । यही नहीं ध्रुवाओं में ताल तथा वाद्य वादन के लिये भरत ने ग्रह मोक्ष आदि नियमों का विधान इस उद्देश्य से किया जिससे ध्रुवाओं का व्यस्थित प्रस्तुतीकरण नाट्य में हो सके । ध्रुवाताल के लिये भरत ने तिस्त्र और चतुस्त्र तालों के प्रयोग का विधान बताया है । ये तालें षट्कल और अष्टकल रूप में प्रसंगानुसार ध्रुवागीतों में प्रयुक्त की जाती है । "त्र्यस्त्रश्च चतुरस्त्रश्च ताल: कार्यो ध्रुवात्मक:, षटकलोद्दृष्टकलश्चैव यस्तु पूर्व क्रकीर्तित:"[2] । ध्रुवागान की प्रकृति तथा स्वरूप को ध्यान में रखते हुए भरत ने ताल - रचना के सिद्धान्तों का निरूपण नाट्यशास्त्र के इक्कतीसवें अध्याय "ताल विधानाध्याय" में किया है । जिसमें तालगत लय, कला यति, मार्ग ग्रह आदि का सम्यक् विवेचन हुआ है ।

ध्रुवाओं के द्वारा चूँकि पात्रों के मनोभाव, समय तथा घटनाओं के संकेत दिये जाते थे इसलिए समय तथा भावानुकूल प्रात: मध्याह्न और सायं के अनुसार एवं विविध रसोत्पत्ति के लिये करूण आदि "रसों" का विधान भी था ।

---

1. ना0शा0 32/383 भाषां तु शौरसेनी हि ध्रुवाणां सम्प्रयोजेत् ।
2. ना0शा0 अध्याय - 32 श्लोक 15 त्र्ययश्च चतरश्रश्च ताल: कार्यो ध्रुवात्मक कलोऽष्टकलश्चैव चस्तु पूर्व प्रकीर्तित: ।।

"ध्रुवाणां चैव सर्वासां रसभावसमन्वितम्"[1]

आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में ध्रुवागीत-

भरतप्रोक्त विभिन्न अंगों सहित ध्रुवागानं तथा उनके विविध प्रकारों का आधुनिक संगीत के संदर्भ में मूल्यांकन करने पर निष्कर्ष निकलता है । कि भरत-संगीत से आधुनिक संगीत तक पहुँचने में लगभग 2000 वर्षों का एक बहुत बड़ा अन्तराल आ चुका है, यही नहीं सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनैतिक उत्क्रान्तियों के अनेक दौर यहाँ से गुजर चुके हैं, किन्तु फिर भी प्रचलित संगीत की विभिन्न गायन शैलियों, उनके वर्ण्य विषय, छन्दयोजना, ताल आदि के आकार - प्रकार का मूल स्त्रोत भरत निर्दिष्ट "ध्रुवागान" हैं । Dhruva and gana were largely derieved from Gandharva and Bharat. महर्षि भरत के अनुसार वाक्य, वर्ण (गान क्रिया) अलंकार यति, पाणि और लय जहाँ ध्रुव रूप में परस्वर सम्बद्ध रहें उन गीतों को ध्रुवा कहा जाता था । ध्रुवा गीतों में प्रयुक्त होने वाले पद ध्रुवापद कहलाते थे और यह निश्चित है कि ये ध्रुवापद रत्नाकर-काल के प्रबन्धों से बहुत पूर्व प्रचलित थे शनैः शनैः इन्हीं ध्रुवागीतों से भिन्न-भिन्न प्रकार की गायन शैलियों का विकास हुआ । ऐसा अनुमान है आज जिस प्रकार राग-संगीत में ध्रुवपद गायन को शास्त्रोक्त रीति से गाई जाने वाली संगीत की उच्चतम "शैली" समझा जाता है । जो शब्द, स्वर और लय प्रधान शैली है यही नहीं ध्रुवपद गायक को सुर, लय और ताल का सर्वाधिक ज्ञान होता है और यह माना जाता है कि "ध्रुवपद" वर्त्तमान संगीत की सर्वश्रेष्ठ गायकी है, ख्याल, टप्पा, ठुमरी आदि गीत शैलियाँ ध्रुवपद के सामने हल्की या क्षुद्र समझी जाती हैं। इसी प्रकार भरत-संगीत में ध्रुवागीत गान्धर्व का श्रेष्ठ संगीत साहित्य था जिसमें स्वर, ताल, पद छन्द आदि का शास्त्रोक्त विधान था ये ही गीत गान्धर्व में श्रेष्ठ गीत

---

1. नाट्यशास्त्र अध्याय - 32 श्लोक - 316, प्रथमपाद

थे "गान्धर्वं यन् मया प्रोक्तं स्वरतालपदात्मकम् पदं तस्य भवेद्"[1] अर्थात् गान्धर्व में जो स्वर ताल पद से युक्त पद थे वही ध्रुवागीत थे । समयानुसार आवश्यक परिवर्तन और सम्भावनाओं के साथ भरत-निर्दिष्ट "ध्रुवागीत"ही क्रमशः रत्नाकर काल में प्रबन्ध गीत के रूप में तथा मध्यकालीन संगीत में "ध्रुवपद" गीत के रूप में विकसित हुआ, फिर इन्हीं ध्रुवपदों से क्रमशः ख्याल, टप्पा, ठुमरी गीत, भजन, कव्वाली, गजल आदि तथा चित्रपट संगीत में प्रचलित गीत "शैलियो" ने अपनी आधुनिक आकृति ग्रहण की ।

"ध्रुवा" यद्यपि नाट्य के विभिन्न प्रसंगों को व्यक्त करने वाले गीत थे फिर भी इन ध्रुवाओं में वर्ण, अलंकार यति, पाणि, लय और छन्द आदि के ऐसे विधान थे जिन्होंने आगे आने वाली गायन शैलियों को शास्त्रोक्त सामग्री प्रदान की "ध्रुवा वर्णास्त्व (ह्य) लंकारा चतयः पाणयो लयाः ध्रुवमन्योन्यसम्बद्धा यस्मात् तस्मात् ध्रुवास्मृताः[2] यही नहीं रस, कला, छन्द, वृत तथा समस्त गीत-प्रकारों के शास्त्रीय तत्वों से युक्त भरत निर्दिष्ट ध्रुवा एक आदर्श और प्रामाणिक गीत शैली थी जिसे नाट्यान्तर्गत आकाश के नक्षत्र के रूप में मान्यता प्राप्त थी ।[3] "नक्षत्रणीव गगनं नाट्यमुद्योतयन्तिताः महर्षि भरत ने "ध्रुवाओं" की भाषा प्रसंगानुसार अलग-अलग मानी है कहीं पर शौरसेनी कहीं पर संस्कृत कहीं पर अर्धसंस्कृत, भाषा के प्रयोग का विधान था । "भाषा तु शौरसेनी हि ध्रुवाणां सम्प्रयोजयेत्"[4] लेकिन संस्कृत भाषा के ध्रुवाओं की मान्यता अधिक थी क्योंकि उस काल में संस्कृत भाषा को दिव्य भाषा समझा जाता था अतएव संस्कृत भाषा के ध्रुवाओं को प्रमाण समझा जाता था । "दिव्यानां संस्कृतं गानं प्रमाणैस्तु विधीयते"[5] अर्धसंस्कृत के ध्रुवाओं का भी प्रचलन था पर ये

---

1. ना०शा० 32/27
2. ना०शा० 32/8
3. ना०शा० 32
4. ना०शा० 32/383

"ध्रुवा" प्रायः आम जनता के लिए थे ऐसा "नाट्यशास्त्र" संकेत देता है "अर्धसंस्कृतमेव तु मनुष्याणां प्रयोजयेत"[1]

आज भी पुराने घरानेदार ध्रुवपादों की भाषा संस्कृतगर्भित तथा उच्च कोटि की हिन्दी लिये हुए है यथा राग ईमन कल्याण का ध्रुवपद "पारब्रह्म परमेश्वर पुरूषोत्तम परमानन्द" खभाज का ध्रुवपद "राजत रघुवीर धीर" राग शंकरा "शंकर शिव गंगाधर" आदि । शनैः शनैः मुस्लिम काल और मुस्लिम गायकों ने ऐसे ध्रुवपदों की रचना की जिनमें उर्दू भाषा का भी प्रयोग होने लगा । पर यह निश्चित है कि भरतनिर्दिष्ट ध्रुवा की तरह आज के ध्रुवपद की भाषा भी उच्चकोटि की है ।[2]

प्राचीन ध्रुवाओं में सभी प्रकार के रसों और भावों का समन्वय रहता था नाट्यान्तर्गत इन ध्रुवाओं का उपयोग प्रसंगानुसार किया जाता था अतएव तदनुकूल-उनमें भिन्न-भिन्न रसों के प्रयोग का विधान था "ध्रुवाणां चैव सर्वासां रसभाव समन्वितम् यथास्थानं प्रवक्ष्यामि" वर्तमान संगीत में भी ध्रुवपदों में यथावसर श्रृंगार - वीर - शान्त आदि रसों का परिपाक होता है । देवस्तुति के संदर्भ में गाये जाने वाले ध्रुवपद गीत प्रायः शान्त रस पोषक होते हैं इसी प्रकार कुछ ध्रुवपद वीर रस और कुछ ध्रुवपदों में श्रृंगार रस का भाव होता है । इसी कारण महर्षि ने भिन्न-भिन्न रस-भाव और प्रसंगादि के अनुसार प्रावेशिकी, प्रासादिकी आक्षेपिकी आदि पंच प्रकार के ध्रुवाओं का विवरण दिया है । "ध्रुवा" की इन विशिष्टताओं से मध्य कालीन शास्त्रीय संगीत की "ध्रुवपद शैली" का विकास हुआ, जो अपनी "रचनात्मक उत्कृष्टता" के लिए तत्कालीन संगीत-साहित्य की श्रेष्ठतम कृति मानी गई । जिसका शास्त्रोक्त आधार लेकर सदारंग और अदारंग जैसे लब्धप्रतिष्ठ गायकों ने "ख्यालगीत" को

---

1. ना0शा0 32/384 द्वितीयपाद

2. ना0शा0 32/316

शास्त्रीय "आकार" दिया । आरम्भ में ख्याल शैली ध्रुवपद से इतनी अधिक मिलती जुलती थी कि इसे लोग "लंगड़ा ध्रुवपद" कहते हैं[1] । संगीत की अन्य विधाओं की तरह गायन शैलियों के क्षेत्र में "ध्रुवागीत" एक उच्चतम आधार था जिसके स्वरूप छन्द आदि को लेकर गायन शैलियों का विकास हुआ इस प्रकार भरत प्रोक्त "ध्रुवा" प्रबन्ध और ध्रुवपद के रास्ते से गुजरता हुआ आज तक ख्याल, टप्पा ठुमरी आदि गीत शैलियों में जीवित हैं ।

आज के ध्रुवपद की शास्त्रोक्त सामग्री का आधार भी भरत के "ध्रुवा" हैं जिनमें स्वर-पद-ताल आदि के शास्त्रीय विधान हैं जो निर्णयात्मक है नैस्तु किन्चद् वृत्ते हि पदं गानकृताश्रयम्[2] या यत्किन्चिदक्षरकृतं तत्सर्वं पदसंज्ञितम्"[3]। आज भी ध्रुवपद की भाषा-रस-छन्द आदि का विधान "ध्रुवा" की भाँति है ।

वर्तमान गायन शैलियों की प्रकृति के अनुसार विविध तालों की रचना का सिद्धान्त भी भरतनिर्दिष्ट है । "यद्वृत्तं तु पदं गाने तादृशं वाद्यमिष्यते"[4] । अर्थात् जैसा गीत का वृत्त या छन्द हो उसी के अनुरूप वाद्यों की योजना की जानी चाहिये । आज ध्रुवपद, धमार, ख्याल, टप्पा, ठुमरी और सुगम संगीत में भिन्न-भिन्न तालों की रचना इन्हीं गीतों के स्वरूप व प्रकृति को देखकर की गई है । यह विधान भी भरत-निर्दिष्ट है "त्र्यश्रश्च चतुरश्रश्च तालः कार्यो ध्रुवात्मक षटकलोऽष्टकलैश्चैव" अर्थात् तिस्त्र और चतुस्त्र जाति की ताल और उसमें भी षटकला और अष्टकला मात्राओं का प्रयोग ध्रुवा के भाव के अनुसार किया जाना चाहिये इस प्रकार भरत

---

1. ध्वनि और संगीत पृ0 - 274
2. ना0शा0 अध्याय - 32, श्लोक 432
3. ना0शा0 अध्याय - 32, श्लोक 29 प्र0
4. ना0शा0 अध्याय - 32, श्लोक 191

का "स्वर ताल पदात्मक ध्रुवा" ही आज की गायन शैलियों में नवीन सम्भावनाओं के साथ दिखाई देती है ।

शास्त्रीय संगीत के अलावा भरतनिर्दिष्ट पंचध्रुवाओं के अध्ययन करने से यह सहज अनुमान लगाया जा सकता है भरत की पंच-ध्रुवाऐं आज की नव नवीन दूरदर्शन विधा और फिल्म संगीत के पार्श्वगायन Back Ground Music के रूप में प्रयुक्त किया जा रहा है । पंच-ध्रुवाओं के स्वरूप और विधान पात्र की सोच, समय और अवसर के अनुसार प्रयोग किये जाने पर Effective होता है यही कारण है कि आज के पार्श्वगायन और दूरदर्शन के संगीत के पीछे भरतनिर्दिष्ट पंच-ध्रुवाओं का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव है जिसे नाट्यशास्त्र का अध्ययन करने पर ही अनुभूत किया जा सकता है ।

वैसे तो स्वरतालपदाश्रयं "गान्धर्व का मूल उद्देश्य आदि से अन्त तक "रसोत्पत्ति" है । रसात्मकता को ध्यान में रखते हुए भरत ने स्वर-ताल पद आदि के सैद्धान्तिक विवरण दिये हैं - फिर भी "ध्रुवागीत" के संदर्भों से आभास होता है कि नाट्य में प्रसंगानुसार "प्रभाव" बनाये रखने के लिए "ध्रुवागीत" की योजना की गई । जिनका मूल उद्देश्य स्थान, अवसर, पात्र तथा अन्य प्रसंगों को स्वर, लय, ताल तथा अन्य सांगीतिक उपकरणों के माध्यम से प्रस्तुत करना था चित्रपट तथा दूरदर्शन जैसी विधाओं में जिसे आज हम Musical Effect कहते हैं इसी की आपूर्ति भरत-कालीन नाट्यों में "ध्रुवा" के पंचविध प्रकारों से की जाती थी । इसीलिए भरत ने पंचविध ध्रुवाओं का स्वरूप सहित विवरण दिया है "प्रावेशिकी" ध्रुवा का उद्देश्य था "नानारसार्थं नृणां या गीयते" इसी प्रकार दर्शकों के अन्तकरण में प्रसाद गुण का संचार करने वाली प्रासादिकी ध्रुवा थी जो "रागप्रसादजननी" थी। दृश्य विधाओं की कमीवेशी को दूर करने के लिए "अन्तरा" नामक ध्रुवा की योजना थी जिसका गुण था "दोष प्रच्छादने या च गीयते सान्तरा ध्रुवा" इस प्रकार भरत निर्दिष्ट

ध्रुवागीत तत्कालीन गान्धर्व का श्रेष्ठ संगीत - साहित्य था फिर भी नाट्य में इनका उद्देश्य दृश्य अभाव की आपूर्ति में भी था । अर्थात् जहाँ पर मनुष्य की वाणी मौन हो जाती है वहाँ संगीत के स्वरों से प्रस्तुतिकरण किया जाता है यानि वाक्यैस्तु न ब्रूयात्तानि गीतैरूदाहरेत्[1] ।

आज भी चित्रपट, नाटक और दूरदर्शन जैसे दृश्य - विधाओं में विषयानुसार भावों और प्रसंगों को स्पष्ट करने तथा उन्हें प्रभावी बनाने के लिए अधिकांशतः संगीत का सहारा लिया जाता है जिसे हम पार्श्व संगीत या Back Ground Music की संज्ञा दे सकते हैं । बल्कि कहा यह जाना चाहिये कि आज की सर्वाधिक नवीन विधा दूरदर्शन का पूरा-पूरा आधार के गीत और वाद्यों के भिन्न-भिन्न प्रभावों और फोटोग्राफी पर आधारित है । यह Musical Effect ही पंच-ध्रुवा हैं ।

अतएव प्रावेशिकी प्रासादिकी, नैष्क्रामिकी, आक्षेपिकी और अन्तरा ध्रुवाओं के विवरण संकेत देते हैं कि इनका प्रयोग नाट्य में पार्श्व - संगीत या Back Ground Music की निर्मित करना था ।

भरतनिर्दिष्ट गान्धर्व के तीन लक्षण है "स्वरतालपदात्मकम्" स्वर और ताल की आपूर्ति कंठ संगीत के साथ वाद्य-संगीत से भी की जाती है । किन्तु गान्धर्व के पद के लिए एक मात्र अभिव्यक्ति का साधन ध्रुवा है, इसके अन्तर्गत निबद्ध (तालवद्धरचना) और अनिबद्ध (ताल रहित) दोनों की पूर्ति हो जाती है । "निबद्धं चानिबद्धं च येन तेन द्विधा स्मृतम्"[2] । ध्रुवा स्वर और तालबद्ध तो रहता ही है किन्तु पद की प्रधानता ही इसकी विशिष्टता है । आचार्य अभिनव

---

1. ना0शा0 अध्याय - 32, श्लोक - 406 प्रथम्

गुप्त लिखते हैं "एवं गतं तावद् गान्धर्वे पद प्राधान्यं गानेस्थितं तदित्याह"[1] इसी कारण भरत ने कंठ संगीत यानि गान (स्वर - पद ताल से युक्त रचना) को सर्वाधिक महत्व दिया "एवमेव विनागानं नाट्य रागं न गच्छति"[2] बिना गान के नाट्य नहीं चलता । स्वर ताल पद रस भाव छन्द आदि से समन्वित ध्रुवा इसी कारण आकाश में "नक्षत्र" के रूप में स्वीकार किया गया नक्षत्राणां गगनं" । गान्धर्व या संगीत की समस्त विशिष्टताओं से युक्त[3] होने के कारण ही ध्रुवा या गीत आदि को भरत ने "नाट्य की शय्या" कहकर इसके महत्व को स्वीकार किया "शैया हिनाट्चस्य वदन्ति गीतं" । भरत का यह निर्देश है कि नाट्य की सिद्धि के लिए गीत का प्रयत्नपूर्वक अभ्यास आवश्यक है ।

यही कारण है कि भरतकाल से लेकर आज तक भरतनिर्दिष्ट ध्रुवा, न केवल शास्त्रीय संगीत बल्कि सुगम संगीत, चित्रपद और दूरदर्शन जैसे दृश्य और श्रव्य विधाओं के लिए एक आदर्श और 'शास्त्रोक्त संगीत-साहित्य है जिसका आश्रय लेकर आज भी संगीत को नई सम्भावनाओं के साथ प्रस्तुत किया जाता है ।

---

1. ना0शा0 पृ0 - 302
2. ना0शा0 पृ0 - 425
3. ना0शा0 पृ0 32/436 शय्या हि नाट्यस्य वदन्ति गीतं

नवम अध्याय

अवनद्धातोद्य - विज्ञान विधान

(क) अवनद्धवाद्य पुष्कर, इसकी उत्पति, निर्माण-विधि और स्वरूप ।

(ख) अवनद्ध वाद्यों के प्रकार - त्रिपुष्कर वाद्य, स्वर-निर्माण-प्रक्रिया तथा प्रयोग-विधि, इस संदर्भ में अष्टादश जातियों ।

(ग) आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में भरतनिर्दिष्ट अवनद्धातोद्य और उसकी वादन विधि ।

चाहे भरतनिर्दिष्ट "गान्धर्व" हो या आज का प्रचलित संगीत, दोनों का स्वरूप स्वर और लय इन मजबूत खम्बों पर टिका हुआ है । इसीलिए महर्षि भरत ने गान्धर्व के प्रसंग में सर्वप्रथम आतोद्य विधान का विवरण दिया है जिसके अन्तर्गत उन्होंने स्वर सम्बन्धित सभी तन्त्रीकृतातोद्य (कंठ, वीणा, बाँसुरी) के स्वरूप, उनमें स्वर-निकास की विधि तथा स्वर सम्बन्धित सभी विवरण स्वर-श्रुति ग्राम मूर्च्छना जातिगायन आदि का आद्योपान्त विश्लेषण किया । स्वर के बाद संगीत का दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष लय है जिससे बाँधने, पकड़ने और नियन्त्रित करने वाले आतोद्य (वाद्य) "अवनद्धातोद्य" कहे जाते हैं । अवनद्ध वाद्य वे वाद्य हैं, जिन पर ताल दर्शाई जाती है यानि गायन-वादन और नृत्य की लय या गति को नियन्त्रित करने वाला वाद्य अवनद्धवाद्य होता है, जिसे हम "तालवाद्य" कहते हैं जैसे तबला, परवावज, ढोलक, ड्रम आदि, । भरत-काल में यही वाद्य पुष्कर, मृदंग, पणव आदि नाम से प्रचलित थे । मोटे तौर पर देखा जाए तो गान्धर्व या संगीत की आपूर्ति इन्हीं स्वर वाद्यों कंठ, वीणा, आदि तन्त्रीवाद्य और पुष्कर, मृदंग, पणव, तबला, परवावज आदि ताल वाद्यों से हो जाती है । इसीलिए सम्भवतः नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनव गुप्त ने चार प्रकार के वाद्य-वर्गीकरण में वाद्यों के दो ही प्रकार तत् और अवनद्ध को प्रधानता दी है "तत्र चर्विधमप्यातोद्यं स्वर तालप्रधान्याद द्विविधं कृतं ततवनद्धं चेति" तत् यानी तन्त्रीकृत

पिछले अध्यायों में स्वर वाद्यों (तन्त्रीकृतातोद्य) की विधि व प्रकरणों पर विस्तार से विचार किया जा चुका है प्रस्तुत अध्याय में भरत कालीन ताल वाद्यों, उनकी बनावट, उनके स्वरूप और उनकी वादन - विधि पर प्रकाश डालते हुए उनका आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में क्या उपयोगिता है इस पर विचार किया जाता है ।

भरतकालीन अवनद्ध वाद्य:

महर्षि भरत ने वाद्यों के चार वर्गों का उल्लेख किया, तत् सुषिर धन और अवनद्ध । अवनद्ध वाद्य ताल दिखाने वाले वाद्य होते हैं । इस वर्ग में वे सभी वाद्य आते हैं जो चमड़े से मढ़े हुए होते हैं इन चर्मवाद्यों को अवनद्ध या "आनद्ध" की संज्ञा दी गई है[1] । "चर्मणा चावन्ध्दा" मृदंग, पुष्कर परवावज प्रणव, दुर्दर डमरु, आधुनिक तबला, ढोलक आदि सभी वाद्य चर्मणा (चमड़े) से मढ़े होने के कारण ही चर्मवाद्य "अवनद्ध" वाद्य कहे जाते हैं । स्वर के तन्त्रीकृतातोद्य और लय व ताल दिखाने के लिए चर्मवाद्य "अवनद्ध" का ही विधान हैं ।

चर्मवाद्यों की परम्परा वैदिक काल से लेकर आज तक बराबर चली आ रही है । गायन-वादन और नृत्य की संगीति तथा वृन्दवादन को प्रभावशाली बनाने के लिए यह वाद्य सर्वाधिक उपयुक्त माने गये हैं । इसीलिए महर्षि भरत ने नाट्यशास्त्र में अवनद्ध वाद्यों की परम्परा में "मृदंग" वाद्य को सबसे अधिक महत्व देकर इसे पुष्कर या पौष्कर वाद्य की संज्ञा दी है । "पौष्करस्य तु वाद्यस्य मृदंगपणवाश्रयम"[2] सम्भवत: तत्कालीन सभी ताल वाद्य जो कि चमड़े से मढ़े हुए थे, उन्हें पुष्कर या पौष्कर कहने की प्रथा थी । ऐसा "नाट्यशास्त्र" से ज्ञात होता है । भरत ने इस प्रसंग में "त्रिपुष्कर" शब्द का प्रयोग किया है "त्रिपुष्कराद्यानि" । "त्रिपुष्कर" के

---

1. नाoशाo 34/11 चर्मणा चावनद्धा

अन्तर्गत मूल रूप से मृदंग, पणव और दर्दुर तालवाद्य आते थे । इन्हीं तीन अवनद्ध वाद्यों के आधार पर तत्कालीन सभी अवनद्ध वाद्यों के स्वरूप का पता लगता है ।

यहाँ एक तथ्य ध्यान देने योग्य है कि महर्षि भरत ने सभी चर्म वाद्यों को पुष्कर या पौष्कर की संज्ञा क्यों दी गई ? भरत ने चर्मवाद्यों में मृदंग, पणव और दर्दुई इन तीन वाद्यों को मुख्य ताल वाद्य माना है तथा इनकी संज्ञा त्रिपुष्कर मानी है "मृदंगानां त्रिपुष्करान" इति । "भरत नाट्यशास्त्र" से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्षा की बूंदें जब कमल की पंखुरियों पर पड़ती है उससे जो ध्वनि या साउण्ड निकली, उसी ध्वनि की कल्पना करके मुनि स्वाति ने मृदंग आदि अवनद्ध वाद्यों का निर्माण करवाया क्योंकि वर्षा की बूँदे कमल की पंखुरी पर गिरती है और कमल को पुष्कर भी कहा जाता है अतएव अवनद्ध वाद्यों की उपत्पत्ति का मूल कारण कमल या पुष्कर हुआ इसीलिए पुष्कर को प्रतीक मानते हुए मुनि ने मृदंग आदि चर्मवाद्यों को पुष्कर की संज्ञा दी "पुष्करिण्यां पटुः शब्दः पत्राणामभवत्तदा" कमल खण्ड और पत्रों के शब्द मृदंग आदि वाद्यों की ध्वनि का कारण है । इसीलिए ये वाद्य "पुष्कर" कहलाए ।

महर्षि भरत लिखते हैं यथा -

"यावन्ति चर्मनद्धानि ह्यतोद्यानि द्विजोत्तमाः
तानि त्रिपुष्कराद्यानि ह्यवनर्द्धामति स्मृतम्[1] ।।"

अर्थात् त्रिपुष्कर जैसे चमड़े से मढ़े हुए जितने वाद्य होते हैं अवनद्ध शब्द से ग्रहण करना चाहिये । इसी मत का प्रतिपादन श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री ने भी किया है "पुष्कर" शब्द सम्भवतः लकड़ी से निर्मित अवनद्ध वाद्यों के सभी सामान्य प्रकारों के लिए प्रयुक्त किया गया प्रतीत होता है[2] । इसीलिए महर्षि भरत ने तीन प्रकार के पुष्कर मृदंग पणव और दर्दुर का उल्लेख किया है ।

इस प्रकार मृदंग पणव, दर्दुर और आधुनिक पखावज तबला आदि सभी चर्मवाद्य भरत प्रोक्त पुष्कर वाद्य के ही विविध रूप हैं जिनका विशद विवरण नाट्यशास्त्र के 34 वें अध्याय में प्राप्त होता है ।

मृदंग आदि पुष्कर वाद्यों की उत्पत्ति तथा निर्माण विधिः

भरत ने गान्धर्व तथा वाद्य की योजना के लिए नारद और स्वाति के नामों का उल्लेख किया है "गान्धर्वञ्चैन वाद्यन्च स्वातिना नारदेन च" किन्तु अवनद्धवाद्य पुष्कर आदि की निर्माण विधि के लिए विशेषतः मुनि स्वाति के नाम[1] का उल्लेख करके इस वाद्य का निर्माण कैसे हुआ इस सम्बन्ध में एक कथा का भी उल्लेख किया -

अनुवृत्या तथा स्वातेरातोद्यानां समासुतः ।
पौष्करणां प्रवक्ष्यामि निवृत्ति सम्भवं तथा[2] ।"

अब स्वाति मुनि के अनुसार मैं संक्षेप में पुष्कर आदि (मृदंग आदि) की उत्पत्ति तथा विकास को बतलाता हूँ ।

पुष्कर आदि के निर्माण की कल्पना के सम्बन्ध में 34 वें अध्याय के तीसरे श्लोक से लेकर 10 श्लोक में भरत ने तद्विषयक कथा का उल्लेख किया है[3] । जिसका भावार्थ है कि एक बार स्वातिमुनि वर्षाकाल में सरोवर पर स्नान करने जाते हैं वर्षा की तेज बूँद सरोवर के कमल के पत्तों पर एक प्रकार की लगातार मधुरध्वनि करती है "पतन्ती मिश्र ,धाराभिवार्यु वेगाञ्जलायें, पुष्करिण्यां पटुः शब्दः"[4] । उस मधुर और गम्भीर ध्वनि का चिन्तन करते हुए आश्रम में आकर

---

1. ना0शा0 अध्याय - 34 पृ0 - 404 स्वातिर्भाण्डे नियुक्तः
2. ना0शा0 34 भिन्न पाठ क्रमः 4
3. ना0शा0 - 34 - 6
4. ना0शा0 34 अनध्याये कदाचित्तु स्वातिर्महति दुर्दिने ।

विश्वकर्मा की सहायता से उस मधुर तथा गम्भीर ध्वनि के अनुकूल मृदंग, पुष्कर पणव आदि वाद्यों का निर्माण करते हैं । यथा -

ध्यात्वा सृष्टि मृदंगानां पुष्करानसृजत् ततः
पणवं दर्दर चैव सहितो विश्वकर्मणा[1] ।।

प्रस्तुत श्लोक के अनुसार पुष्करों यानि मृदंग, पणव और ददुर्र आदि अवनद्ध वाद्यों को पृथक्-पृथक् नाम से उल्लेख किया गया किन्तु इससे आगे के जो विवरण प्राप्त होते हैं उनसे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भरत ने सभी अवनद्धवाद्यों के लिए "पुष्कर" संज्ञा दी है । इस प्रकार स्वातिमुनि ने मृदंग, पणव और दर्दुर जैसे वाद्यों का निर्माण किया । देवगणौ की दुन्दुभी नामक वाद्य के अनुसार स्वाति ने मुरज, आलिंगन ऊर्ध्वक और आंकिक जैसे अवनद्धवाद्यों को भी बनाया यथा -

देवानां दुंदभि दृष्टवा चकार मुरंज ततः
आलिङ मस्यमूर्ध्वकन्चेव तथैवङिककमेव च[2]

अभिप्रायः यह कि तत्कालीन अवनद्ध वाद्य मृदंग, पुष्कर पणव, ददुर्र-मुरज आलिंगक-ऊर्ध्वक और अंकिक जेसे समस्त अवनद्ध वाद्यों के कर्ता तथा अविष्कर्ता के रूप में स्वाति मुनि माने गये हैं । क्योंकि वर्षा काल की बूदों का गिरना और उस शब्द से तालवाद्यों की ध्वनि की कल्पना करना मूलरूप से मुनि स्वाति के दिमाग की सुझायी ये मृदंग दर्दुर आदि सभी अवनद्ध वाद्य चमड़े से मढ़े होते हैं तथा उन्हें रस्सी या तन्तुओं से कसकर बॉध दिया जाता है । जिस प्रकार आधुनिक तबला परवावज आदि चमड़े से मढ़े जाने पर चमड़े की रस्सियों से कसकर बॉध दिये जाते हैं ।

"चर्मणा चावनद्धां स्तान् मृदंडगान् दर्दुरांस्तथा
तन्त्रिभिः पणवन्चैवमूहापोहविशारदः"[3]

---

1. ना0शा0 अध्याय - 34 श्लोक - 9
2. ना0शा0 अध्याय - 34 श्लोक - 10
3. ना0शा0 अध्याय - 34 श्लोक - 11

अर्थात् और विचार तथा परीक्षण में दक्ष उन मुनि ने इन मृदंग, दर्दुर और पणव वाद्यों को चमड़े से मढ़कर उन्हें रस्सी या तन्तुओं से बाँध दिया ।

यथा - चर्मणा चावनद्धांस्तु मृदंगान् दर्दुरं तथा
तन्त्रीभिः पणवं चैवमूहायोहविशारदः" 34।।।

भरत ने यद्यपि अवनद्धवाद्यों के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया है "एतेषां तु पुनर्भेदाः शतसंख्या प्रकीर्तिता"[1] अर्थात् इन वाद्यों के सैकड़ों प्रकार हो सकते हैं । किन्तु भरत ने त्रिपुष्कर वाद्यों का सविस्तार वर्णन किया है । त्रिपुष्कर से महर्षि का अभिप्राय मृदंग, पणव, और दर्दुर ये तीन वाद्य हैं "मृदंगपणवानां च दर्दरस्य तथैव च"[2] अतएव महामुनि स्वाति ने त्रिपुष्कर यानि मृदंग पणाव और दर्दुर इन तीन वाद्यों का निर्माण किया[3] । ऐसा विदित होता है । "त्रिपुष्कर" से यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि तत्कालीन नाट्य तथा गान्धर्व - प्रयोग में इन तीन वाद्यों का अधिकतम प्रयोग व उपयोगिता थी । "नास्ति किचिंदनायोज्यमातोंद्य दशरूपकें इसी कारण भरत ने मृदंग-पणव और दर्दुर इन तीन अवनद्ध वाद्यों को (त्रिपुष्कर) की संज्ञा दी । इन तीन पुष्करों के वादन-विधि, लक्षण तथा स्वरूप आदि का पूर्ण विवरण दिया ।

"किन्तु त्रिपुष्करस्यास्य लक्षणं प्रोच्यते मया"

मृदंग, पणव और दर्दुर इन तीन पुष्करों के शास्त्रीय और सैद्धान्तिक विवेचन से तत्कालीन प्रचलित सभी मृदंग पणव दर्दुर, परह, झल्तीरा दुन्दभी आदि अवनद्ध वाद्यों के स्वरूप को समझा जा सकता है । इसलिए भरत ने समस्त अवनद्ध वाद्यों के सम्बन्ध में पूर्णतः न बताकर तीन मुख्य वाद्यों का विवरण दिया, जिन्हें भरत ने त्रिपुष्कर की संज्ञा दी -

---

1. ना0शा0 अध्याय - 34 श्लोक - 24 प्र0पाद
2. ना0शा0 अध्याय - 34 श्लोक - 24 द्वितीय पाद
3. ना0शा0 अध्याय - 34 श्लोक 287 सृष्टवा मृदंगान्पणवं दर्दुर च महामुनिः ।

आतोद्यानां प्रवक्ष्यामि विधिं वादनमेव च[1]. ।

अर्थात् मृदंग पणव से सम्बद्ध पुष्कर वाद्यों की विधि के सम्बन्ध में बताऊँगा आचार्य अभिनव गुप्त लिखते हैं, पणव और दर्दुर ये तीन वाद्य पुष्कर ही हैं "मृदंगपणवानां च दर्दरस्य तथैव च"[2] । अतएव "पुष्कर" से अभिप्राय मृदंग, पणव, और दर्दर जैसे वाद्यों से हैं[3] । जो "त्रिपुष्कर" कहलाए । "मृदंग" की निर्मिति मिट्टी से भी की जाती थी । इसी कारण इसे "मृदंग" ऐसा कहा गया "मृण्मयत्वान् मृदंगास्तु भाण्ड भ्रमयर्तीति च"[4] अर्थात् मिट्टी से बने होने के कारण मृदंग और चारों ओर घूमने के कारण "भाण्ड" कहलाया । भरत के समय से ही फिर मृदंग या पुष्कर लकड़ी से निर्मित होने लगे । ऐसा विदित होता है । "त्रयं चान्यान्यपि तथा कांष्ठायसकृतान्यथ"

मृदंगों पर विशेषकर की मिट्टी का लेपन किया जाता था वह मिट्टी भी नदीकूल की श्यामा यानी काली मिट्टी का प्रयोग विहित था[5] । इस प्रकार भरतोक्त पुष्कर मिट्टी से निर्मित होने के कारण मृदंग कहलाये इन वाद्यों के आकार प्रकार के संबंध में भरत का मत है कि मृदंग तीन प्रकार के होते थे जिनका आकार क्रमशः हरड, जौ और गोपुच्छ की भाँति था -

त्रिधा कृतिमृदांगानां हरितिकायवाश्रया
तथा गोपुच्छरूपा भवेत्येषाच रूपतः[6] ।

---

1. ना0शा0 अध्याय - 34 श्लोक 2 भिन्नपाठक्रमः
2. ना0शा0 34 पृ0 - 403
3. ना0शा0 34 पृ0 403 तस्मान् मृदगाणां त्रयाणां पुष्कराणां पणवस्य दर्दरस्य च लक्षणात्मक विधानं चर्मादिकारणात्वंवाद्यं ।
4. ना0शा0 34/285
5. ना0शा0 34/129 मृत्तिका लेपने रास्तातया कार्या तु मार्जना नदीकूलप्रदेशस्था श्यामाच मधुरा च ।
6. ना0शा0 34/254

तीन प्रकार के मृदंग पृथक्-प्रथक् नाम से पुकारे जाते थे हरड के आकार का मृदंग अंकिक कहलाता था, जौ के आकार का मृदंग ऊर्ध्वक गोपुच्छ के आकार का मृदंग आलिंग कहलाता था ।

हरीतकाकृतिस्त्वड्को यवमध्यस्तथोर्ध्वग
आलिडगश्चैव गोपुच्छ: आकृत्या सम्प्रकीर्तित:[1] ।

इन तीन प्रकार के मृदंग, आकिकं, आलिंग, अध्वर्क के अलग - अलग मुखागार और तालों का निर्देश भी भरत देते हैं । मदंगों की ध्वनि मेघ - गर्जन के समान गम्भीर रहती थी "मेघश्च स्वरसंयोग मृदंगानामथासृजत"[2] मृदंगादि पर स्वच्छ तथा उत्तम जाति के चमड़े मढ़े जाते थे । शु "पल्लवसंकाशं हिमकुन्देन्दु पाण्डुरमं"[3] कुन्द पुष्प और हिम के समान श्वेत तथा चिकने चर्म का प्रयोग अभिप्रेत माना जाता था । यही नहीं इस आकृति के मृदंग पर"चतुश्चताल" का प्रयोग अभिहित माना गया और उसका मुख ।4 अंगुजी के बराबर रहता था । आलिंग मृदंग पर त्रिताल और इसका मुखाकार अष्टांगुल होता था आठ अंगुली के प्रमाण का तथा पणव का मुखाकार पंचागुल "आकिकं मृदंग द्वादश मुखाकार" का रहता था[4] । अभिप्राय यह है कि भरत ने पृथक्-पृथक् मृदंग के "मुखाकार" का पंचाडगुल, अष्टाडगुल, द्वादशाडगुल और नवाडगुल दिया है अलग-अलग माप देने का कारण यही है कि प्रत्येक मृदंग की ध्वनि और स्वरूप के आधार पर ही क्रमश: त्रिताल, चतुस्ताल आदि भिन्न-भिन्न तालों का वादन अच्छी प्रकार किया जाता होगा । इससे महर्षि भरत की उदात्त

---

1. ना0शा0 34/255
2. ना0शा0 34/287 द्वितीय पाद में धैश्च स्वरसयोगं मृदगानागथासृजत्
3. ना0शा0 34/264 शुक्लपल्लवसंकाश हिमकुन्देन्दुपाण्डुरम
4. ना0शा0 34 पृ0 456 तालत्रयं तथार्धं च मृदगोऽड्किक इष्यते तस्य द्वादशाडगलयोजितस्" ऊर्ध्वाधो यवाकृति: चतुर्दशाडगुलमुखाकार: आलिडग अष्टाडगुलमुखा:, पन्चाडगुल पणव: ।

प्रतिभा का पता चलता है। यही नहीं इन नवनवनी चर्मवाद्यों का विधि विधान से पूजन अर्चन करने के बाद ही इनके प्रयोग का विधान था । आज भी नए वाद्य की पूजा आदि करने के बाद ही उसके प्रयोग का विधान है । देवी देवताओं के पूजन के बाद ही इन्हें प्रयोग किया जाता था "देवताभ्यर्चनं कृत्वा ततः स्थाप्या महीतले"[1] । नए मृदंगों पर गाय का घी तेल आदि लगाकर उन्हें बजाने योग्य बनाया जाता था[2] । भरत-काल में इन वाद्यों को अत्यन्त पवित्र वस्तु के रूप में स्वीकार किया जाता था । "उत्सवे चैव याने च नृपाणांमगलेषु शुभ कल्याणयोगे च विवाहकरणे तथा" 34/18

इस प्रकार विधि विधान से पूजन अर्चन करने के उपरान्त इन वाद्यों का प्रयोग किया जाता था । तब इन वाद्यों से तीन सौ से भी अधिक बोल निकाले जा सकते थे । "शतानि त्रीणि कुर्वति पुष्करैह्यक्षराणि"[3] । आज भी भरत-निर्दिष्ट पुष्कर आदि के अनुसार उत्तरी तथा दक्षिणी संगीत में प्रचलित मृदंग परवावज और तबला आदि अवनद्ध वाद्यों की पूजा अर्चना के बाद प्रयोग का विधान है ।

इन वाद्यों में स्वर-निर्माण की प्रक्रिया:

भरत ने समस्त वाद्यों में स्वर - निर्माण की प्रक्रिया का आधार कंठ-तन्त्री माना है यथा -

पूर्व शारीराद्भूता स्ततो गच्छन्ति दारवीम् ।
ततः पुष्करजन्चैवमनुयान्ति धने (ध्वनिं) पुनः (युताः)[4]

---

1. ना0शा0 अध्याय - 34, 273 द्वितीय पाद
2. ना0शा0 अध्याय - 34 श्लोक - 272
3. ना0शा0 अध्याय - 34 श्लोक - 268
4. ना0शा0 अध्याय - 34/31 श्लोक

अर्थात् शारीरीवीणा या मानवीयकंठ में सर्वप्रथम स्वरों की अवतारणा होती है उसके वादवीणा आदि वाद्यों में फिर अवनद्ध वाद्यों में स्वर संचारित होते हैं । गायग-वादक के स्वर और बन्दिशों के अनुकूल अवनद्ध वाद्यों का वादन किया जाता था । इस नियम से प्रथम गायक जिन - जिन स्वरों को निकालता है उन्हीं स्वरों की संगति के लिए अवनद्ध वाद्यों का प्रयोग किया जाता है ।

"यं यं गाता स्वरं गच्छेत तमातोद्यैः प्रयोजयेत्
यति पाणिसमायुक्तं गुरूलब्ध्वक्षरान्वितम्"[1]

तन्त्री के अनुसार ही भरत ने अवनद्ध वाद्यों को अंग व प्रत्यंग रूप से वर्गीकृत किया है । जिस प्रकार दारवी वीणा में विपंची और चित्रा ये दो वीणाऐं मुख्य या अंग वीणा कहलाती थीं तथा कच्छपी घोषक आदि वीणाएं प्रत्यंग वीणाएं कहलाई।

"विपन्ची चैव चित्रा च दारवीष्वङ्गसंज्ञिते
कच्छपीघोषकदीनि प्रत्यंङ्गानि तथैव च[2]।

इसी प्रकार अवनद्ध वाद्यों में मृदंग दर्दर और पणव मुख्य अवनद्ध वाद्य हैं और झल्लरी पटह आदि प्रत्यंग वाद्य थे ।

मृदङ्गा दर्दराश्चैव पणवाश्चाङ्गसंज्ञिता
झल्लरीपटहादी निप्रत्यङ्गानि तथैव च[3] ।

इस प्रकार भरत संगीत में वादन और गायन दोनों में सामंजस्य दिखाई देता है । अवनद्ध वाद्यों की वादन - विधि को भी भरत ने पूर्ण वैज्ञानिक व्यवहारिक और

---

1. ना0शा0 34/34
2. ना0शा0 34/14
3. ना0शा0 34/15

संगीतात्मक विवरण दिया है । जिसमें सोलह अक्षर की ध्वनियाँ चतुर्मार्ग, विलेपन, छः करण त्रियति त्रिगत त्रिप्रकार त्रिप्रहार त्रिमार्जनाएं और अठारह जातियों तथा बीस अलंकारों का विशद विश्लेषण है ।

"षोडशाक्षर सम्पन्नं ----- एभिः प्रकारैः सम्पन्नं वाद्यं पुष्करजं भवेत"

सोलह अक्षर की ध्वनियाँ ही अवनद्ध वाद्यों से उत्पन्न बोलों का मूल है[1] । इन अक्षरों को पृथक् - पृथक् तथा मिश्रण से विविध प्रकार के बोल पुष्करों से निकाले जाते थे । भरत ने इन बोलों को "वाष्करण" की संज्ञा दी है ।

"पुष्कर वाद्ये नियतं वाष्करणे"

तत्र षोडशाक्षरमिति यदुक्तं तदनुव्याख्यास्याम् क ख ग घ ट ठ ड ढ तथा त थ द ध म र त ह इति षोडशाक्षराणि नियतं पुष्करवाद्यं व्याकरणं संविधेयानि[2] ।

भरत कथित सोलह अक्षर क्रमशः क - ख - ग - घ - ट - ठ - ड - ढ - त - थ - द - ध - म - र - ल - ह - क ख ग घ अ ठ ठ ढ त थ द ध म र ल ह इति षोडशाक्षराणि प्रत्येक अक्षर के साथ स्वर जोड़ देने पर "कंकार, खकार, गकार आदि का स्वरूप प्राप्त होता है[3] । फिर इन व्यंजनों से अवनद्ध

---

1. ना0शा0 34/36 से 38 श्लोक

   षोडशाक्षरसम्पन्नं चतुमार्ग तथैव च
   विलेपनं षट्करणं त्रियति त्रिलयं तथा
   त्रिगतं त्रिप्रकारकं त्रिसंयोगं त्रिपाणिकम्
   दशार्धपाणिपुहतं त्रिप्रहारं त्रिमार्जनम् ।
   विंशत्यललड्कारयुतं तथाष्टदशजातिकम् ।
   एभिः प्रकारैः सम्पन्नं वाद्यं पुष्करजं भवेत् ।।

2. ना0शा0 34/39
3. ना0शा0 गद्यपंक्ति पृ0 415 एतेषामक्षराणां स्वर संयोगं व्यंजन संयोगं- -तत्र अ आ इ ई उ ऊ ए ओ अं इति स्वरा व्यंजनै सह संयोगं गच्छन्ति। -- अकारेकारोकारेकारौकाराड्कारा इति ।

वाद्यों के बाएं तथा दाहिने मुख से निकलने वाले बोलों या वाष्करणों की रचना का विधान है[1] । वाष्करणया बोलों के दों प्रकार है । एक सरल दूसरा संयुक्त । सरल बोलों को दाहिने तथा बायें हाथ से अलग - अलग निकालने का विधान था[2] संयुक्त बोलों को दोनों हाथ से निकाला जाता था । आज भी बतला, परवावज और मृदुंग आदि वाद्यों में अलग - अलग हाथ से निकाले गये बोल तथा दोनों हाथ से सुयुक्त बोल निकालने का विधान है । इस प्रकार "षोडशेतानि दृष्टानि वाद्यजान्यक्षराणितु"[3] इस प्रकार इन सोलह अक्षरों से भिन्न बोल निर्मित किये जाते थे ।

इन बोलों को मृदंग आदि वाद्यों पर निकालने के लिए भरत ने हाथ व अंगुलियों के प्रहारों का आवश्यकतानुसार उपयोग भी बताया है । इसे भरत ने "पंचपाणिप्रहत" की संज्ञा दी है । जिसमें पाँच प्रकार के कराघातों से अवनद्ध वाद्यों से बोल अर्थात् स्वर निकाले जाने का विधान है ।

"पन्चपाण्डिधूहतमिति । यदुक्तं समपाणि, अर्धपाणि, अर्धार्धपाणि, पाश्र्वपार्णि,[4] प्रदेशिनी एते पंचपाणिप्रहता । इन पॉच विभिन्न प्रकार के हस्त प्रहारों से वाद्यों पर बोलों की सृष्टि की जाती है । जहाँ सम्पूर्ण हाथ का प्रयोग किया जाता है वहीं "समपाणि", जहाँ केवल आधा पंजा वादन के लिए उपयोग किया जाता है उसे "अर्धपाणि", जहाँ हाथ का चौथाई हिस्से के प्रहार से बोल निकाला जाता है उसे "अर्धार्धपाणि" और जहाँ हाथ के किनारे के प्रहार से बोल निकाले जाते हैं उसे पाश्र्वपाणि और जहाँ अंगुलियों के अग्रभाग के प्रयोग से बोल निकाले जाते हैं

---

1. ना0शा0 पृ0 - 416 एवंमेतैः संयोगैर्द्विहस्तसंयुक्तान्चक्षराणि भवन्ति ।
2. ना0शा0 34 पृ0 - 421 आचार्य अभिनव गुप्त टिप्पणी वामस्य हस्तस्य वामभागे दक्षिणस्य दक्षिणे प्रचरण ।
3. ना0शा0 34/27
4. ना0शा0 अध्याय - 34 पृ0 - 417 पन्चपाणिप्रहतमिति यदुक्तं समपाण्यवपाण्य ।

उसे प्रदेशिनी नामक प्रहार कहते हैं ''ऐते' पंचपाणि प्रहता इति''। इस प्रकार हार्थो व अंगुलियों के पाँच प्रकारों से भिन्न - भिन्न बोल निकालने का विधान बताया।

इन पाँच पाणि प्रहत का उपयोग उपयुक्तात और औचित्यानुसार किया जाता है जिसके लिए भरत ने निगृहीत, अर्धनिगृहीत और युक्त संज्ञा दी है[1] यही नहीं इन हस्तप्रहारों से ककार, खकार, गकार, मकार आदि अक्षरों की उत्पत्ति का भी विधान है[2] ।

भिन्न कराघातों से बोल भी पृथक - पृथक रीति से निकाले जाते थे । वादन की इस रीति या " Style " को भरत संगीत में "मार्ग" की संज्ञा दी जाती थी । जिसे आधुनिक संगीत के वाद्य-वादन में "बाज" और गायन क्षेत्र में घरानों की संज्ञा दी जाती है । ऐसे मार्ग या Style वाज चार प्रकार के हैं ।

"मार्गाश्चत्वार एवैते प्रहारकरणाश्रया:"[3]

हस्तप्रहारों से भिन्न-भिन्न तरीके से निकाले गये बोलों की शैलियों या मार्ग चार होते थे जिन्हें अडिडत - आल्प्ति - वितरत और गोमुख कहा जाता था । ये मार्ग विभिन्न प्रकार के प्रहारों से निर्मित होते हैं जैसे -आदित - अलिप्त वितस्ता और गोमुखी[4] । इन प्रहारों से जो बोल या वाष्करण बनते हैं वे निम्न है -

अडित के बोल - मरकटथिघधटघेघोघहमधि धधनीधीध इत्यडिडतामार्ग:

---

1. ना0शा0 अध्याय - 34 एते पन्पपाणिप्रहता के निगृहीतार्धनिगृहीतयुक्ता यथायोग कार्या: ।
2. ना0शा0 34 पृ0 - ।। समपाणिप्रहतो मकरर: स निगृहीते । गकारधकार दकारपकारा अर्धपाणिप्रहता अर्धनिगृहीता । ककाररवकारटकारदकारा: पार्श्वपाणिप्रहता निगृहीत (प0 ना0शा0 34/48)
3. ना0शा0 34/48
4. ना0शा0 अध्याय - 34 पृ0 - 48 अडिडतालिप्रप्तमार्गे तु वितस्ता गोमुखी तथा

आलंप्त मार्ग के बोल - धडः गुट्टगुटमधेदोधिघदुधिदुधेधि ()इत्यलिप्तमार्गः()

वितस्तामार्ग क बोल --- तीसतां गुट्टगेत्येवं शेयो वितस्त्यास्तु

गोमुखी मार्ग के बोल - शु()सिद्धं भद्धिकुटघेघेमत्थिद्धिधखुखुणं घेघेटात्थिमट गोमुखीमार्ग()

इसके अतिरिक्त चार भागों के भिन्न - भिन्न अक्षरों का विवरण भी दिया गया है । मृदंग आदि के इन बोलों में हमारे आज के तबले और परवावग के बोलों का स्वरूप स्पष्ट दिखाई देता है यथा -

()1() अडित वाद्य पर अक्षरों का स्वरूप

दाधददथिमटां धीमटां दिथिथिल्कं

थिल्काथितांल्काथिकटाम्

कटधिभटां खोखोघेटामडितावाद्यम् । 34/55

()2() तन्त्रान्तिकिता धं ध द्रधिटतयेटम् मटथीककेत्त वितस्तायाम्

()3() श्रांमांघुटूघेधेटाघटितकथिथिघोटाभाम् आलिप्तसयोग 34/56

()4() श्रटमिथिघेटां घेघेतमथिधोणाखमत्थिधल्केंताम् - खोखो थाथा णाणाणाणा च गोमुख्याम् 34/57

भरत कालीन उपरोक्त सभी बोल मृदंग या परवावज पर निकलने वाले वे बोल हैं जिन्हें खुले हाथ से बजाया जाता है । भरत निर्दिष्ट इन बोलों के स्वरूप को देखकर स्पष्टतः अनुमान लगाया जा सकता है कि आधुनिक तबला, परवावज और मृदंग आदि वाद्यों में तालगत स्वर निर्माण की प्रक्रिया तथा हस्तप्रहार से निकाले गये बोल भरत परम्परानुसार हे । धेतां केतां तकितान् कित्त कित्ति किटि आदि बोल ही परिवर्तित और परिवर्धित रूप से आज के अवनद्ध वाद्यों में प्रयुक्त किये जाते हैं ।

अष्टादश जातियाँ:

"अष्टादशजातिकमिति"[1]

भरत ने गान्धर्व या संगीत का प्रयोग नाट्य के अंग के रूप में किया। यही कारण है नाट्य के पात्र, समय तथा स्थान से सम्बन्धित विभिन्न प्रसंगानुसार गीत एवं वाद्यों के प्रयोग का विधान नाट्यशास्त्र में स्थान - स्थान पर दिखाई देता है -

यथा- रसत्वभावयोगान् दृष्टवभिनयं गतिप्रचारांश्च ।

वाद्यं नित्यं कार्य यथाक्रम वाद्ययोज्ञैः

इसीलिए भरत ने अवनद्धवाद्यों के अन्तर्गत अठारह जातियों के विधान का उल्लेख किया है । प्रत्येक जाति के बोल - विशेष का समायोजन रहता था । जातिगत ये बोल पात्र, स्थान तथा समायानुसार बजाये जाते हैं जिससे नाट्य में रस सिद्धि की जा के[2] जैसे शुद्धा जाति में एकाक्षर और दो अक्षरों के कारणों से निर्मित होती है जिसका प्रयोग नाट्य के सभी कार्यो के लिये किया जाता था -

एकाक्षरकृतं वाद्यं यद्वेत सार्वमार्गिकम्

द्वयाक्षरं यद्वाद्यं सर्वकार्मिकम्

नित्यं करणयोगेन ससा शुद्धा नामतो यथा[3]

इस प्रकार अवनद्ध वाद्यान्तर्गत प्रत्येक जाति प्रत्येक भाव को व्यक्त करने वाले बोलों

---

1. ना0शा0 अध्याय - 34 श्लोक - 4
2. ना0शा0 अध्याय - 34, 148 अष्टादशजातिकमिति यदुक्त शुद्धा पुष्करकरणा निषमा विष्कम्भितैकरूपा च ।
3. ना0शा0 अध्याय - 34 पृ0 - 150

से निर्मित थी जातियाँ अठारह निम्न है[1] -

(1)	शुद्धा	(2)	एक रूपा
(3)	देशानुरूपा	(4)	देशादपेतरूपा
(5)	पर्याय	(6)	विष्कम्भ
(7)	पर्यस्ता	(8)	संरम्भा
(9)	पार्ष्णि समस्ता	(10)	दुष्करकरणा
(11)	ऊर्ध्वगोष्ठिका	(12)	उच्चितिका
(13)	एवंवाद्य	(14)	मृदंगपूणवा
(15)	अवकीणी	(16)	अर्द्धावकीर्णा
(17)	सम्प्जवा	(18)	विधूतम्

भरत ने प्रत्येक जाति के बोल तथा प्रसंगानुसार रस आदि का भी उल्लेख किया है जैसे देशानुरूप जाति में व्यवस्थित बोल तथा श्रृंगार भाव

मीमत्थित्वमभू एभिर्जात्यन्तरै समायुक्ता, देशानुरूपजाति"[2]

इसी तरह प्रत्येक जाति कासांगोपांग विवरण नाट्यशास्त्र में दिया गया है जिनका प्रयोग नाट्य के रस और भाव में वृद्धि करने के लिए था -"

एववेते प्रकारास्तु कर्तव्या वाद्यसश्रया:
गतिप्रचारे गीते वा रसभावानवेक्ष्य[3] च

इन वाद्यों का समयानुसार वादन का विधान भी था । प्रायशस्तानि कार्याणि कालं कार्य समीक्ष्य"[4] तत्कालीन उत्सवों में -

---

1. ना0शा0 अध्याय 34 पृ0 437 शुद्धा दुष्करणा विषमाविष्कम्भितैकरूपा च पार्षिसमा पर्यस्ता समविषमकृताऽवकीर्षा पर्यवसानात्तितिका सयुक्ता संप्लुता महारम्भा विगतक्रमाविगलिता वाज्यितका चैकवाद्या च
2. ना0शा0 34 भिन्न पाठक्रम 10
3. ना0श0 अध्याय भिन्न पाठक्रम 213
4. ना0शा0 अध्याय - 37

उत्सवे चैव याने च नृपाणां मङ्गलेषु च
शुभकल्याणयोगे च विवाहकरणे तथा
उत्पाते सम्भ्रमे चैव संग्रामे पुत्र जन्मनि[1] ।

राजकीय शोभा यात्रा मंगलकार्य विवाहेत्सव, पुत्रजन्म, उत्पात की शान्ति तथा संग्रामों इन वाद्यों का एक साथ या आवश्यकतानुसार अलग - अलग वादन करने का विधान था "ईलशेषु हि कार्येषु सर्वातोद्यानि वादयेत्" ।

इस प्रसंग से यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि भरत काल में वृन्दवादन या सामूहिक वाद्य-वादन का भी प्रचार था । यही नहीं "अवनद्धवाद्याध्याय" में भरत ने जितने भी वाद्यों मृदंग, पणव, दर्दुर, मुरज आलिंगक, अर्ध्वक, पटह का विवरण दिया इन सभी का प्रयोग रस और भाव की वृद्धि हेतु नाटकों में किया जाता था ।

"नास्ति किन्चिदनायोज्मातोद्यं दशरूपके
रसभावप्रयोगं त ज्ञात्वा योज्यं विधानतः"

इसी कारण भरत ने सभी प्रकार के अवनद्ध वाद्यों का सविस्तार विवरण दिया । जिसके लिए पृथक विस्तृत ग्रन्थ की अपेक्षा है ।

आधुनिक संगीत के परिप्रेक्ष्य में अवनद्धवाद्य:

भरत निर्दिष्ट अवनद्ध वाद्यों की परम्परा, शैली, निर्माण विधि, तथा प्रयोगगत स्वरूप के उन सभी तत्वों का आधुनिक तालगत वाद्यों के संदर्भ में यदि विश्लेषण किया जाय तो निम्न तथ्य सामने आते हैं ।

---

1. नाoशाo अध्याय - 18, 19, 20

(1) आधुनिक संगीत में प्रचलित मृदंग, पखावज और तबला ये तीन अवनद्ध वाद्य है । इन तीन वाद्यों के स्वरूप तथा वादन शैली को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि ये वाद्य भरत प्रोक्त (पुष्कर) के ही विकसित रूप हैं ।

क्योंकि पुष्कर वाद्य की संज्ञा पोष्कर भी है । विशेषरूप से उत्तरी संगीत में मुस्लिम संगीत और संस्कृति के विश्रण से "पोष्कर" शब्द से पक्षवाद्य - पखावज - पखवावुज फिर इसी से तालवाद्य "पखावज" इस नाम से प्रचार में आया डॉ0 शरत्चन्द्र श्रीधर पराजपे के शब्दों में इस शब्द के निर्माण की प्रक्रिया निम्नानुसार कही जा सकती है ।

पुष्कर - पक्षवाद्य - पाख़ावज - पखावुज - पखावजै, उत्तरी संगीत में दूसरा प्रचलित तालवाद्य तबला है[1] । जिसकी उत्पत्ति और विकास के साथ अमीर खुसरों का नाम जुड़ा हुआ है ।

किन्तु नवीन खोजों और मतों के अनुसार तबला वाद्य भरत के पुष्कर और मृदंग का परिवर्धित स्वरूप है । क्योंकि मध्यकाल में तबले पर मृदंग के बोलों को खुले हाथ से बजाने का विधान था । धीरे - धीरे इस वाद्य पर वन्द बोलों को बजाने का प्रचार हुआ, परिणामतः तालवाद्यों के अन्तर्गत तबले का स्वतन्त्र अस्तित्व तैयार हुआ और तबले की स्वतन्त्र परम्परा कायम हो गई कहा जाता है कि पहले तबला भी मृदंग की तरह खुले हाथों से बजता था उसमें बाएं पर स्याही नहीं लगती थी बल्कि आटा लगता था डॉ0 लालमणि मिश्र के अनुसार एक बार सिद्धारखाँ को दिल्ली में एक व्यक्ति ने संगीत - प्रतियोगिता में परास्त कर दिया, क्योंकि वह जो ढोलक के बोल बजा रहा था, वे खुले हाथों से नहीं निकलते थे । सिद्धार खाँ ने बाएं तबले पर से आटा हटाकर उस पर भी दाएं के समानही स्याही लगवाई और उसमें ढोलक के सब बोल निकलने लगे । उन्होंने पुनः उस वादक को प्रतियोगिता

---

1. संगीत वाद्य पृ0 - 84

में आमन्त्रित किया और परास्त किया । इस नये परिवर्तन का स्वागत किया गया और अन्य वादकों ने भी इसे अपनाया । क्योंकि इससे तबले में बन्दबोल भी निकलने लगे इन बन्द बोलों के कारण ही तबले का स्वतन्त्र व्यक्तित्व निर्मित हो सका[1] । कहने का अभिप्राय है कि मानव मस्तिष्क की सत् गतिशीलता और नवीनता की खोज के परिणाम स्वरूप समय-समय पर तबले, सितार, इसराज तथा अन्यान्य नवीन वाद्यों का जन्म तथा विकास हुआ किन्तु आधार भरत निर्दिष्ट आतोद्य से लिया गया इस प्रकार उत्तरी संगीत में प्रचलित पखावज और तबला ये दोनों भरत के पुष्कर वाद्य का विकसित रूप है । दक्षिणी संगीत में आज भी अवनद्धवाद्य के रूप में मृदंगम् का प्रचार है । इसी प्रकार भरत-संगीत में प्रचलित अवनद्ध वाद्य के अन्य प्रकार आलिंग (मृदंग) आलिंक मृदंग और उध्वक मृदंग आदि का आज भी प्रचार है मणिपुर नृत्य में गले में बाँध कर बजाया जाने वाले ताल वाद्य को भरत का आलिङगक मृदंग कहा जा सकता है । इसी प्रकार भरत काल में अन्य वाद्य भी आज नामान्तर से प्रचलित हैं ।

(2) आधुनिक ताल वाद्यों का आधार क्योंकि भरत निर्दिष्ट अवनद्धवाद्य है इसलिए इन वाद्यों का आकार प्रकार भी मृदंगानां हरीतकी यवाश्रया हरड और जौ की भाँति बीच में ऊँचा और इधर उधर ढलाई लिये हुए होता है । हालांकि किंचित परिवर्तन हुआ है जो वाद्यों के विकास का सूचक है इन वाद्यों की लम्बाई - चौड़ाई का माप, वामक और दक्षिण अर्थात् बायें और दाहिने मुख के लिए "अंगुलानि चतुर्दश" का प्रमाण आज भी स्वीकार किया जाता है । इन वाद्यों का मुख चिकना तथा निर्दोष चमड़े से मढा जाना "मुखं पल्लवसङकाशं हिमकुन्देन्दुसमप्रयम्" तथा तन्तुओं या रस्सियों से कसा जाना भरत परम्परा का द्योतक है । इसके अलावा इसकी वद्दी या रस्सी के आरो या मध्यम भाग से दो के बीच तीसरे को निकालकर अंटो यानि गृहों का प्रयोग -

---

1. भारतीय संगीत वाद्य, डॉ0 लालमणि मिश्र निबन्ध संगीत से उद्धृत पृ0 - 163

दश तत्र हि वध्रास्तु प्रक्षेप्या वर्तिसंश्रयाः
मिहित्वा त्वाक्षिके वध्रेतृतीये सम्प्रवेशयेत्[1] ।

भरत मत से किया जाता है । ढोलक, नाल, तबले आदि सभी तालगत वाद्यों का निर्माण इसी ढंग से किया जाता है ।

(3) इसके अतिरिक्त मृदंग और पखावज जैसे वाद्यों में गम्भीर ध्वनि की उत्पत्ति हेतु आटे का लेपन करना भी भरत परम्परानुसार है गव्ये घृते च तैले च तिलपिष्टं तथैव च[2] काल तथा समायानुसार परिस्थिति वश आज इन वाद्यों के मुख पर गेहूँ के गीले आटे का लेप किया जाता है तब इन वाद्यों से गम्भीर ध्वनि का निकास होता है जैसा भरत वाक्य[3] है -

मेघैस्तु स्वरसंवादान् मृदंङगानामथासृजत

अर्थात् विधिवत निर्माण तथा पूजन के उपरान्त मेघो की ध्वनि से समानता लेकर स्वर निर्मित किये जाते हैं । अभिप्राय यह है, कि एक उत्तम अवनद्ध वाद्य के निर्माण तथा प्रयोगगत जितनी भी विशेषताएं एवं लक्षण होने चाहिये उन सभी का विवरण भरत ने मृदंग पणव और दर्दुर जैसे वाद्यों के लिए दे दिया है इन सभी का आधार लेकर विद्वानों ने नए एवं पुराने ताल वाद्यों का निर्माण किया, जो आज तक प्रचार में है ।

इसमें सन्देह नहीं है कि स्वर - ताल और पद सम्बन्धित गान्धर्व में प्रयोज्य जिन-जिन तत्वों का भरत ने निरूपरण किया वे निर्णयात्मक है । समय के अन्तराल तथा विदेशी संस्कृति के प्रभाव से उनमें नामान्तर भले ही हुआ हो किन्तु

---

1. ना0शा0 33 अध्याय, 257
2. ना0शा0 अध्याय - 33, 259
3. ना0शा0 अध्याय - 33, 275

स्वरूप भरत-प्रोक्त है । अवनद्ध वाद्यों पर जिन बोलों को बजाया जाता था उसे भरत ने "वाष्करण" की संज्ञा दी है, जो तत्कालीन संस्कृत भाषा का परिचायक है । आज की भाषा में "वाष्करण" को बोल की संज्ञा दी जाती है ।

(4) इन बोलों की निर्माण विधि आज भी भरत-मतानुसार "षोडशैव तु दृष्टानिवाद्य जान्याक्षराणि[1] तु" क ख ग घ आदि सोलह ध्वनियाँ हैं । इन्हीं ध्वनियों में स्वर तथा व्यंजनों के मिश्रण से वामक (बायें) दक्षिण दाहिने मुख से पृथक्-पृथक् तथा मिश्रित बोलों का निर्माण किया जाता है ।

(5) तबले, मृदंग और पखावज आदि वाद्यों पर हाथ के विभिन्न प्रहारों से ध्वनि उत्पन्न होती है । अर्थात् इन वाद्यों पर स्वर निर्माण की क्रिया हाथ और अंगुलियों के आघातों से की जाती है । ताल वाद्यों का पहला पाठ इन वाद्यों पर उचित कराधान (हाथ रखने) से ही आरम्भ किया जाता है । वैसे भी किसी भी वाद्य पर हाथों की पकड़, स्वरोत्पत्ति के लिए हाथ के विभिन्न संचालन या प्रहार आदि का ज्ञान प्रारम्भिक शिक्षा है । इसीलिए भरत ने अवनद्ध वाद्यों पर बोल निकालने के लिए "पंचपाणि प्रहत" सूत्र का निर्देश दिया है । जिसमें आवश्यकता और उपयोगिता के अनुसार हाथ, हथेली, पंजा और अंगुलियों के विविध प्रहारों से सभी प्रकार के तालगत बोल निकालने का विधान है । भरत निर्दिष्ट पंचपाणिप्रहत" सूत्र समस्त अवनद्ध वाद्यों में बोल निकालने का व्यवहारिक और वैज्ञानिक विधान है । इसके स्वरूप को जान लेने पर इन वाद्यों की वादन शैली को आसानी से जाना जा सकता है । यही कारण है कि आज भी एक सुयोग्य तबला या मृदंग वादक अपने शिष्य को सर्वप्रथम हाथ के विभिन्न प्रहारों का ज्ञान कराता है जिसे आज भी भाषा में "तबले पर हाथ रखना" कहते हैं । भरत के "पन्चपाणिप्रहत" की उचित शिक्षा-दीक्षा से ही तबले, पखावज और मृदंग आदि के स्वरूप का उच्चस्तरीय विस्तार किया जा सकता है ।

---

1. ना0शा0 अध्याय - 33 श्लोक - 43 प्रथम

इन वाद्यों पर हाथ रखने को उचित तालीम के बाद ही विभिन्न प्रकार के बोलों या वाष्करण के निर्माण की प्रक्रिया आरम्भ होती है । जिनमें दाहिने और बायें मुख पर निकलने वाले पृथक्-पृथक् बोल बनाये जाते हैं । इन वाद्यों पर भिन्न-भिन्न प्रकार से बोल निकालने की क्रिया मार्ग कहलाती है "मार्गाश्चत्वार एवैते प्रहारकरणाश्रया:"[1] अर्थात् करणो पर आश्रित प्रहारों से सम्बद्ध चार मार्ग होते हैं। मार्ग से अभिप्राय ताल वाद्यों के वादन की विभिन्न शैली या रीति, जिसे आधुनिक संगीत में "वाज" कहा जाता है । वाद्य वादन की भिन्न-भिन्न शैली या स्टाइल या वाज का जन्म भरत-संगीत में हो चुका था । भरत ने इन चार मार्गों से बजाये गये जिन बोलों या वाष्करणों का स्वरूप सहित विवरण दिया है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि तत्कालीन मृदंग आदि वाद्यों पर बजाये गये बोल ही आधुनिक ताल वाद्यों के पूर्वरूप है - जैसे अड्डित मार्ग के बोल घटट कत्थित घट्टं घैटां धट्ट गत्थितं-अलिप्त मार्ग के बोल द्रधो मामद्रो वितस्त मार्ग के बोल तकितान् ताकितान सेन्तां, इसके अतिरिक्त किन्ति कित्रि किटि, किति कित" तित्थान धितान् आदि वाष्करण (बोल) कुछ परिवर्तन के साथ आधुनिक ताल वाद्यों के " धा, कत, धुमेकिट, गदिगगदिता तेटेकत" आदि बोलों के रूप में प्रचलित हैं । तत्कालीन प्रचलित ताल वाद्यों के भिन्न-भिन्न प्रकार के अनेक बोलों के उदाहरण नाट्यशास्त्र में दिये गये हैं ।

इन वाद्यों का मूल प्रयोजन गीत के साथ संगीत करना था "यं यं गाता स्वरं गच्छेत् तमातोद्यै प्रयोजयेत"[2] । आज भी तालगत वाद्यों की उपयोगिता गीत तथा तन्त्रवाद्यों की संगति में माना जाता है । इसी कारण आज भिन्न-भिन्न गीत शैलियों की प्रकृति के अनुसार भिन्न तालों का प्रयोग किया जाता है ।

---

1. ना0शा0 अध्याय - 34 श्लोक - 44 तृतीय
2. ना0शा0 अध्याय - 34 श्लोक - 35

भरत काल में अवनद्ध वाद्यों का सामूहिक वादन का भी प्रचार था अतिवादित अनुवादित और समवादित में वाद्यों के वादन के तीन प्रकारों का उल्लेख नाट्यशास्त्र में मिलता है "अतिवादितमनुवाद्यं समवादितमुच्यते तथा वाद्यम्"[1] जिसमें एक मृदंग के साथ दूसरे मृदंग का वादन सामूहिक रूप से करने का विधान था । अवनद्ध वाद्यों का यह सामूहिक वादन आज "ताल कचहरी" या "तबला तरंग - जैसे सामूहिक वादन में देखा जा सकता है ।

आधुनिक ताल प्रबन्ध में ताल, काल क्रियालय, मार्ग, यतिग्रह आदि तालों के दस प्राण होते हैं । जिन पर समस्त ताल विधान निर्भर करता है । आधुनिक ताल के इन दस प्राणों या तत्वों में भरत निर्दिष्ट अवनद्ध वाद्यों के समस्त लक्षणों चातुमार्ग, षटकरण, त्रियति, त्रिलय, त्रिगत, त्रिप्रचार त्रिसंयोग त्रिप्रहार और त्रिमार्जन आदि का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से अन्तर्भाव दिखाई देता है ।

इस प्रकार महर्षि भरत ने गान्धर्व (संगीत) से सम्बन्धित स्वर, ताल और पद तथा तत्सम्बन्धित वाद्यों से सम्बद्ध जिस विषय को लिया उसका आद्योदान्त सैद्धान्तिक व्यवहारिक और सर्वाधिक रूप से सांगीतिक दृष्टि से विशद विवरण दिया है । तालाध्याय (अवनद्ध) में तालगत वाद्यों से सम्बन्धित जो भी जानकारी आवश्यक है उसका कोई भी अंग या कोई भी विधि छोड़ी हुई नहीं प्रतीत होती है । अवनद्ध वाद्यों की रचना उसकी उत्पत्ति आदि से लेकर उसके प्रयोग उसकी वादनविधि और उसके महत्व आदि का संर्वागीण विवरण नाट्यशास्त्र देता है । जिसका आधार लेकर प्रचलित अवनद्धवाद्यों की परम्परा का विकास हुआ अतएव चाहे दक्षिणी संगीत हो या उत्तरी संगीत इसके स्वर ताल और पद के पीछे महर्षि भरत की लेखिनी बोलती है ।

---

1. ना0शा0 अध्याय - 34 श्लोक 56 प्रथम

उपसंहार:

आचार्य "अभिनव गुप्त विरचित विवृतिसमेतं नाट्यशास्त्रम्" (Gaeak WARD's Oriental Series No./145) का आधार लेकर प्रस्तुत शोध भारतीय संगीत शास्त्र में भरत का योगदान पर अपने विचारों से प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। हालांकि महर्षि भरत और उनके कृतित्व का मूल्यांकन एक शोध तो क्या अनेक शोधों के द्वारा भी नहीं किया जा सकता, उनका एक-एक अध्याय अनेक शोधों के लिए एक प्रकाश-स्तम्भ है । प्रस्तुत शोध के अनुसार गान्धर्व या संगीत से सम्बद्ध अध्यायों का अनुशीलन करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि वर्तमान में प्रचलित गीत एवं वाद्यों की जिस परम्परा हो हम शास्त्रीय संगीत सुगम संगीत और यहाँ तक कि चित्रपट संगीत के नाम से जानते और पहचानते हैं उन सभी का मूल भरत निर्दिष्ट गान्धर्व और उसकी अतोद्यविधि में है बल्कि अत्याधुनिक दूर-दर्शन जैसी विधा की भी समस्त सम्भावनएं हमें भरत निर्दिष्ट ध्रुवागीत और उनके प्रकारों में स्पष्टतः दृष्टिगत होती है । डॉ0 मुकुन्द लाट कृत "दत्तिलम्" में इसकी पुष्टि है - Gandharva was also the parent of later forms, from which our own present forms have descended. अतएव आचार्य भरत के लिए कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाना है । वास्तव में वे (भरत) गान्धर्व या संगीत के "वाल्मीकि" है ।

आधार ग्रन्थ

1.	नाट्यशास्त्र Gackwad's Oriented Series Published under Authority of the Maharaja Sayajirao University of Baroda 1964	श्रीमदभिनवगुप्ताचार्य विरचितविवृतिसमेतम Vol-4th Chapter 28-37
2	श्री भरतमुनि प्रणीतं सचित्रम् नाट्यशास्त्रं	भाग 1, 2, 4
	प्रदीप हिन्दी-व्याख्या टिप्पणी	श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री
	परिशिष्ट प्रस्तावनादिविभूषितम	चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी

संदर्भ ग्रन्थ

1.	दत्तिलम्	डॉ0 मुकुन्द लाट
2.	अभिनवगुप्त प्रणीमभिनवभारतीसहितम्	आचार्य मधुसूदन शास्त्री
3.	संगीत चिन्तामणी	श्री कैलाशचन्द्र देव वृहस्पति
4.	भरत का संगीत सिद्धान्त	श्री कैलाशचन्द्र देव बृहस्पति
	प्रथम संस्करण 1958	आचार्य वृहस्पति
5.	संगीत रत्नाकर	पंडित शारंगदेव
6.	आचार्य भरत प्रथम संस्करण, 1971	डॉ0 शिव शरण शर्मा
7.	संगीत गोध	डॉ0 शरतचन्द्र श्रीधर पराजये
8.	ध्वनि और संगीत	प्रो0 ललित किशोर सिंह

9.	भातखंडे संगीत शास्त्र (हिन्दी) भाग 1,2,3	अनुवादक श्री विश्वम्भरनाथ भट्ट श्री सुदामा प्रसाद दुबे
10.	संगीत शास्त्र प्रथम संस्करण 1958	के० वासुदेव शास्त्री
11.	हिन्दु सभ्यता	डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल
12.	भारतीय संस्कृति	डॉ० लल्लन जी गोपाल तथा डॉ० ब्रजनाथ सिंह.
13.	व्याख्यान माला संगीत पत्रिका 1947 फरवरी, मार्च	पंडित ओंकारनाथ ठाकुर
14.	नाट्यशास्त्र श्रीमद्भिनवगुप्ताचार्य विरचितविवृत्तिसमेतम्	गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद ।
15.	संगीत कौमुदी	बी०एम० निगम
16.	नारदीय शिक्षा	मैसूर
17.	लक्ष्य संगीत	श्री भातखंडे (मलवार हि बम्बई)
18.	भारतीय तथा पाश्चात्य रंग मंच प्रथम संस्करण 1964	पं० सीताराम चतुर्वेदी
19.	हाथरस कार्यालय से प्रकाशित संगीत की प्रतियाँ 1940 से 1987 तक	सम्पादक मुकेश मार्ग दिल्ली
20.	निबन्ध संगीत 1978	संकलन कर्ता लक्ष्मी नारायण गर्ग

निबन्ध

संगीत परम्परा	डॉ० भगवतशरण शर्मा
भारतीय संगीत की प्राचीन परम्परा	डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल
गान्धर्व, नाट्य संगीत पाश्चात्य	डॉ० सुभद्रा चौधरी

	म्युजिकोलोजी, भारतीय संगीत	डॉ0 सुभद्रा चौधरी
	राग लक्षण अथवा राग के आवश्यक तत्व	डॉ0 प्रेमलता शर्मा
	ध्रुवपद शैली एक विचार	तुलसीराम देवांगन
	भारतीय संगीत में वृन्दावदन	डॉ0 नारायण मेनन
	सदियों वर्ष पूर्व जब धरती पर संगीत लहराता	मंजू रंजना शर्मा
21.	पाणिनीय शिक्षा	चौखम्बा ओरियन्टलिया
22.	संगीत पारिजात	पंडित अहोवल

*****